युगवीर-निबन्धावली

प्रथम खण्ड

(मौलिक निबन्ध)

लेखक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

संस्थापक 'वीर-सेवा-मन्दिर'

[जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद-प्रकाश, जैनाचार्योंका शासन-भेद, ग्रन्थ-परीक्षा आदिके लेखक; स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, समीचीन-धर्मशास्त्र, अध्यात्म-रहस्य, तत्त्वानुशासनादि ग्रन्थोंके विशिष्ट अनुवादक, टीकाकार एवं भाष्यकार; अनेकान्तादि-पत्रों और समाधितन्त्रादि ग्रन्थोंके सम्पादक]

वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन

प्रकाशक
दरबारीलाल जैन कोठिया
मन्त्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण : एक हजार प्रति
फाल्गुन सं० २०१८ : मार्च सन् १९६२
पृष्ठ-संख्या : कुल ४८४
मूल्य मात्र : पाँच रुपये

मुद्रक
—सन्मति-प्रेस
१३०, गली कुंजस, दरीबा कलां,
दिल्ली



श्रीमान् माननीय साहू शान्तिप्रसादजी जैन

समर्पण

सुधारप्रिय, उदारहृदय, विद्या-साहित्य-प्रेमी, साहित्योद्धारक,

गुणिजनानुरागी, गुण-ग्राहक, सत्कार्य-सहायक,

सच्चे अर्थोंमें दानवीर, समाजके महान् सेवक,

धर्म-कर्ममें निष्ठावान्, सद्गृहस्थ, लोकहितैषी,

सरल-सौम्य-प्रकृति और अपने प्रिय बन्धुवर

श्री साहू शान्तिप्रसादजी जैनको

यह लोकहितानुरूपा कृति

सादर समर्पित।

जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकाशकीय

यह 'निबन्धावली' आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर'-के साहित्य और इतिहास विषयक उन निबन्धोंसे पृथक् है, जिनका एक संग्रह 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामसे, प्रथम खंडके रूपमें, ७५० पृष्ठका, प्रकाशित हो चुका है; दूसरा खंड प्रायः उतने ही पृष्ठोंका प्रकाशित होनेको है, और तीसरा खंड जैन-ग्रन्थोंकी उन परीक्षाओंसे सम्बन्ध रखता है जिन्होंने महान् आचार्योंके नाम पर अङ्कित कुछ जाली ग्रन्थोंका भंडाफोड़ किया, दूसरों-की कृतियोंको अपनी कृति बनानेवालोंका पर्दा फाश किया, समाजमें असाधारण विचार-क्रान्ति उत्पन्न की और अनेक भूल-भ्रान्तियों तथा मिथ्या-धारणाओंके विषयमें समाजके विवेकको काफी जाग्रत किया। इस खंडका पृष्ठ-परिमाण औरभी अधिक है।

इस निबन्धावलीको जिसमें इतस्ततः बिखरे हुए सामाजिक तथा धार्मिक निबन्धोंका संग्रह है, दो खंडोंमें विभाजित किया गया है, जिनमें यह पहला खंड विविध विषयक महत्त्वपूर्ण मौलिक निबन्धोंको लिये हुए है, जिनकी संख्या ४१ है। दूसरे खंडमें निबन्धोंको १ उत्तरात्मक, २ समालोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचयात्मक, ४ विनोद-शिक्षात्मक और ५ प्रकीर्णक-जैसे विभागोंमें विभक्त किया गया है और उनकी संख्या ६० से ऊपर है। पहले खंडमें प्रथम निबन्धको छोड़कर शेष निबन्धोंको उसी क्रमसे रक्खा गया है, जिस क्रमसे उनका निर्माण हुआ है। इसका विशेष परिचय साथमें दी गई निबंध-सूचीसे सहज ही प्राप्त हो सकेगा। दूसरे खंडमें भी निबन्धोंको अपने-अपने विभागानुसार काल-क्रमसे रखनेका विचार है।

निबन्धावलीके निबन्धोंका संशोधन-कार्य स्वयं मुख्तारश्रीके हाथों सम्पन्न हो सका है, यह अत्यन्त हर्षकी बात है और इससे उनका मूल्य और भी बढ़ गया है। मुख्तारश्रीके लेख-निबन्धोंको जिन्होंने भी कभी पढ़ा-सुना है उन्हें मालूम है कि वे कितने खोज-पूर्ण, उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते हैं, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। विज्ञ पाठक यह भी जानते हैं कि इन निबन्धोंने समय-समय पर समाजमें किन-किन सुधारोंको जन्म दिया है और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है। कितने ही निबन्ध तो इस खंडमें ऐसे भी हैं जो एकाऽनेक-वार पुस्तकाकार छप चुके हैं और जिनकी माँग बराबर बनी रहती है। इससे सभी पाठक एक ही स्थान पर उपलब्ध इन निबन्धोंसे अब अच्छा लाभ उठा सकेंगे।

यह निबन्धावली स्कूलों, कालिजों तथा विद्यालयोंके विद्यार्थियोंको पढ़नेके लिये दी जानी चाहिये, जिससे उन्हें समाजकी पूर्वगति-विधियों एवं स्पन्दनोंका कितना ही परिज्ञान होकर कर्तव्यका समुचित भान हो सके और वे खोजने, परखने तथा लिखने आदिकी कलामें भी विशेष नैपुण्य प्राप्त कर सकें।

अन्तमें मैं अपनी तथा संस्थाकी ओरसे डा० श्री हीरालालजी जैन एम०ए०, एलएल०बी०, डी०लिट्, प्रोफेसर व अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत-भाषा-विभाग विश्वविद्यालय जबलपुर (म० प्र०) को हार्दिक धन्यवाद भेट करता हूँ, जिन्होंने इस निबन्धावलीके लिये 'नये युगकी झलक' नामसे महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखनेकी कृपा की है।

दरबारीलाल जैन, कोठिया

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
१५ फरवरी १९६३

(न्यायाचार्य, एम०ए०)
मंत्री, 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

नये युगकी झलक

यदि भूलता नहीं हूँ तो सन् १९२२ की बात है जब दिल्लीमें प्रतिष्ठा-महोत्सवके अवसर पर जैनियोंका एक अच्छा मेला भर गया था। दि० जैन महासभाका अधिवेशन भी वहाँ था। प्रथम दिवसकी कार्यवाहीमें ही जैन गजटके सम्पादकत्वके सम्बन्धमें सुधारकों और स्थितिपालकोंके बीच कड़ा विरोध उपस्थित हो गया। उसी रात्रिको एक अन्य खेमेमें एकत्र होकर सुधारकदल दि० जैन परिषदके नामसे अपना स्वतंत्र संगठन तैयार करनेका विचार कर रहा था। मैं भी अपने नये उत्साहसे वहाँकी कार्यवाहीमें कुछ भाग ले रहा था। अकस्मात् मेरे समीप खादीका चद्दर ओढ़े बैठे हुए एक सज्जनने मुझे कुछ प्रसंगोपयोगी बातें बतलाते हुए उन्हें सभामें उपस्थित करनेके लिये कहा। किन्तु अपरिचित और कुछ-कुछ अपढ़से दिखाई देनेवाले व्यक्तिकी दी हुई सूचनाओंके आधार पर उन बातोंको प्रामाणिक रूपसे सभामें उपस्थित करनेका मेरा साहस नहीं हुआ। किन्तु शीघ्र ही मेरे आश्चर्य और हर्षका पारावार न रहा जब मैंने जाना कि मुझे वह सुझाव देनेवाला व्यक्ति अन्य कोई नहीं विख्यात लेखक और

मेरे परोक्ष सुपरिचित विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं।

मुख्तार जीने जो साहित्य-सेवा की है और विशेषतः जैनसाहित्यके आलोचनात्मक अध्ययनकी जो परम्परा स्थापित की उसके विवरण देनेका न तो यह अवसर है और न उसकी आवश्यकता। जिन्हें जैन साहित्य व समाजकी प्रगति, हलचलों व प्रवृत्तियोंसे सम्पर्क है वे भलीभांति जानते हैं कि मुख्तारजी इस क्षेत्रमें एक युगान्तर-स्थापक कहे जा सकते हैं। मुझे अपने तथा अन्य कुछ मित्रोंके सम्बन्धमें तो यह कहनेमें कोई संकोच नहीं कि हमसे पुरानी पीढ़ीके विद्वानोंमें स्वर्गीय श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमीके अनन्तर श्रीजुगलकिशोर मुख्तारका ही नाम स्मरण आता है जिन्होंने अपने लेखों और पुस्तकों-द्वारा हमें साहित्य-सेवामें प्रवृत्त होनेकी स्फूर्ति प्रदान की तथा अध्ययन व लेखनकी उचित दिशाका मार्ग-दर्शन कराया। इसी कारण मैंने अपना परम सौभाग्य समझा जब इन वयोवृद्ध साहित्य-सेवी विद्वान्‌ने अपने लेखोंके इस संग्रहकी प्रस्तावना-रूपसे कुछ लिख देनेके लिये मुझे आमंत्रित किया।

आजसे कोई ६-७ वर्ष पूर्व सन् १९५६ में मुख्तारजीका 'जैन-साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' शीर्षकसे उनके ३२ लेखोंका संग्रह प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशकीय वक्तव्यमें कहा गया था कि "मुख्तारजीके लेखोंकी संख्या इतनी अधिक है कि यह संग्रह कई खंडोंमें प्रकाशित करना होगा। इस प्रथम खंडमें ही ७५० के लगभग पृष्ठ हो गये हैं। दूसरे खंडोंमें भी प्रायः इतने-इतने ही पृष्ठोंकी संभावना है।" उस प्रथम खंडके लेखोंसे ही अध्येताओं व साहित्य-कारोंको बड़ी सहायता मिली। मुख्तारजीकी जिन पूर्व खोजों-शोधों-को जाननेके लिये जैनहितैषी व अनेकान्त आदि पत्रिकाओंकी पुरानी फाइलें ढूँढनेमें बड़ी हैरानी उठानी पड़ती थी, वह अब नहीं रही। इसी सुविधाके विस्तारके लिये मुख्तारजीके शेष लेखोंके संग्र-

हकी भी लोग बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उनके लेखोंका कोई दूसरा संग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हो पाया। श्रेयस्कर कार्यमें अनेक विघ्न आते हैं। इधर कई दिनोंसे मुख्तारजीके वृद्धत्वको देखते हुए यह आशा क्षीण होती जा रही थी कि अब उन्हींके कर-कमलोंसे संग्रहीत उनका कोई अन्य लेख-संग्रह भी हमें प्राप्त हो सकेगा। इसे श्रुतदेवीकी महती कृपा ही समझना चाहिये कि उसने मुख्तारजीको यह प्रेरणा दी और बल प्रदान किया कि वे अपना एक और लेख-संग्रह ज्ञानोपासकोंको प्रदान करें। इसीका परिणाम यह मुख्तारजीका लेख-संग्रह उपस्थित है।

प्रस्तुत खंडमें मुख्तारजीके उन ४१ लेखोंका संग्रह है जो सन् १९०७ और १९५२ के बीच ४५ वर्षोंमें भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गये थे; और जैनगजट, जैनहितैषी, सत्योदय, अनेकान्त आदि पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित हुए थे। यह समस्त काल भारतीय राजनीति, समाज व संस्कृतिके क्षेत्रमें असाधारण उत्क्रान्ति-पूर्ण रहा है। विशेषतः देशके स्वतंत्र होनेसे लगाकर गत १५-१६ वर्षोंमें तो यहाँकी गति-विधियों व विचारोंमें आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है। अतएव आश्चर्य नहीं जो प्रस्तुत लेखोंकी अनेक बातें अब कालातीत हो गई हों। किन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि यहाँ कही गई अनेक बातें ऐसी हैं जो मानों वर्तमान स्थितिको ही दृष्टिमें रखकर लिखी गई हों। उदाहरणार्थ—

'भारतकी स्वतंत्रता, उसका झंडा और कर्तव्य' (२९) शीर्षक लेख देखिये जहाँ कहा गया है कि—

"भारतकी स्वतंत्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके भविष्यको समुज्ज्वल बनानेके लिये इस समय जनता और भारत-

हितैषियोंका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने नेताओंको उनके कार्यों-में पूर्ण सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई भी कार्य न करें जिस-से नेताओंका कार्य कठिन तथा जटिल बने। इसके लिये सबसे बड़ा प्रयत्न देशमें धर्मान्धता अथवा मज़हबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका है। इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश होकर देशमें शान्ति एवं सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतं-त्रता स्थिर रह सकेगी" इत्यादि। यह लेख सन् १९४७ के मार्च-अप्रैल मासमें स्वातंत्र्य-प्राप्तिकी पृष्ठभूमिमें लिखा गया था। हमारी गत पन्द्रह-सोलह वर्षकी यात्राके प्रतिकूल इधर हुए साम्प्रदायिक झगड़ों और अब चीनी आक्रमणके प्रकाशमें जान पड़ता है, हम पुनः उसी मंज़िल पर आ खड़े हुए हैं जहाँसे उस समय चले थे।

इसी प्रकार प्रथम लेख 'सुधारका मूलमंत्र' ही ले लीजिये जो सन् १९१७ में लिखा गया था। वहाँ पढ़िये—

"यदि आप यह चाहते हैं कि हिन्दी भाषाका भारतवर्षमें सर्वत्र प्रचार हो जाय, और आप उसे राष्ट्रभाषा बनानेकी इच्छा रखते हैं तो आप हिन्दी साहित्यका जी-जानसे प्रचार कीजिये। स्वयं हिन्दी लिखिये, हिन्दी बोलिये, हिन्दीमें पत्र-व्यवहार, हिन्दीमें कारोबार और हिन्दीमें वार्तालाप कीजिये। हिन्दी पत्रों और पुस्तकोंको पढ़िये, उन्हें दूसरोंको पढ़नेके लिये दीजिये, अथवा पढ़नेकी प्रेरणा कीजिये। हिन्दीमें लेख लिखिये, हिन्दीमें पुस्तकें निर्माण कीजिये, हिन्दीमें भाषण दीजिये, और यह सब दूसरोंसे भी कराइये। दृढ़-ताके साथ ऐसा यत्न कीजिये कि हिन्दीमें सब विषयों पर उत्तमो-त्तम ग्रन्थ लिखे जांय। हिन्दी लेखकोंका उत्साह बढ़ाइये। उन्हें लेखों तथा पुस्तकोंके तैयार करनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रीकी सहायता दीजिये, और तरह-तरहके लेखों, चित्रों, व्याख्यानों,

वार्तालापों और व्यवहारोंके द्वारा हिन्दीका महत्त्व प्रकट करते हुए सर्व-साधारणमें हिन्दीका प्रेम उत्पन्न कीजिये । साथ ही, हिन्दी ग्रन्थों तथा हिन्दी पत्रोंकी प्राप्तिका मार्ग इतना सुगम कर दीजिये कि उनके लिये किसीको भी कष्ट न उठाना पड़े। यह सब कुछ हो जाने पर आप देखेंगे कि हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई ।"

इस लेखके लिखे जानेसे आज ४५-४६ वर्ष हो जाने पर भी हिन्दीके राष्ट्रभाषा बनने-बनानेकी समस्या जैसीकी तैसी बनी हुई है. और लेखककी वह ललकार आज भी उतनी ही सार्थक है। उसमें उन लोगोंके लिये एक चुनौती भी है जो स्वयं अपना कर्तव्य पूरा न करते हुए उक्त विषय पर सरकारकी उपेक्षाकी शिकायत किया करते हैं।

'हमारी यह दुर्दशा क्यों ?' शीर्षक छठे लेखमें भारतके समुज्वल और समृद्ध भूतकालका चित्रण करके आजके शक्ति-ह्रासके सम्बन्धमें कहे गये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"और आज उसी भारतवर्षमें हमारे चारों तरफ प्रायः ऐसे ही मनुष्योंकी सृष्टि नज़र आती है जिनके चहरे पीले पड़गये हैं। १२-१३ वर्षकी अवस्थामें ही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ हो गये है। जिनकी आँखें और गाल बैठ गये हैं। मुँह पर जिनके हवाई उड़ती है। होठों पर हरदम जिनके खुश्की रहती है। थोड़ासा बोलने पर मुख और कंठ जिनका सूख जाता है । हाथ और पैरोंके तलुओंसे जिनके अग्नि निकलती है। जिनके पैरोंमें जान नही और घुटनोंमें दम नहीं। जो लाठीके सहारे चलते हैं और ऐनकके सहारे देखते हैं। जिनके कभी पेटमें दर्द है, तो कभी सिरमें चक्कर। कभी जिनका कान भारी है, तो कभी नाक। आलस्य जिनको दबाये रहता है। साहस जिनके पास नही फटकता। वीरता जिनको स्वप्नमें भी दर्शन

नहीं देती। जो स्वयं अपनी छायासे आप डरते हैं।" इत्यादि,इत्यादि।

यह जो हमारे नवयुवकोंकी निर्बलताका चित्रण आजसे अर्ध-शताब्दी पूर्व किया गया था, क्या वह आज भी सत्य नहीं है ? इस स्थितिको सुधारनेके जो उपाय लेखमें बतलाये गये हैं वे आज भी ध्यान देने योग्य हैं।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि इन पुराने लेखोंमें ऐतिहासिक महत्वके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियोंके संबन्धमें भी मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

प्रस्तुत संग्रहके जैन इतिहास, धर्म और समाज-विषयक लेख तो उस-उस क्षेत्रमें रुचि रखनेवाले पाठकों व लेखकोंको अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे, क्योंकि उनमें एक कुशल, अनुभवी विद्वान और निष्पक्ष समालोचकके विचार निहित हैं। महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन तिथि (२६) श्रीधवलमें तो एक हजार वर्षोंसे निर्दिष्ट थी, किन्तु मुख्तारजी ने उस ओर समाजका ध्यान सन् १९३६ में विशेष रूपसे आकर्षित किया। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने उस दिन राजगृहके विपुलाचल पर्वत पर, जहाँ भगवान महावीरका उपदेश हुआ था, एक महोत्सव मनानेकी प्रथा प्रचलित करनेका भी प्रयास किया। 'महावीरका सर्वोदय-तीर्थ' (४०) लिखकर उन्होंने जैनधर्मके अनेकान्त सिद्धान्तके प्रचारकी एक प्रशस्त भूमिका निर्माण की। 'सर्वोदयके मूलसूत्र' (४१) में उन्होंने १२० वाक्योंमें अनेकान्त सिद्धान्तका निचोड़ भी रख दिया। "जैनी नीति" (२३) में अमृतचन्द्राचार्यकी ग्वालिनकी उपमा-द्वारा अनेकान्तकी सारग्राहिणी शक्तिका उन्होंने अच्छा परिचय कराया और वर्षों तक अनेकान्तमें उसके चित्रण व लेखों-द्वारा उसका खूब प्रचार किया। "जिनपूजाधिकार-मीमांसा' (८), 'उपासना-तत्त्व' (१४), 'उपासनाका ढंग'

(१५) 'वीतरागकी पूजा क्यों ?' (३१) व 'वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?' (३२) जैसे लेखों द्वारा मुख्तारजीने तत्सम्बन्धी जैन दृष्टिकोणका शास्त्रीय एवं निर्विकार रीतिसे प्रतिपादन किया व प्रचलित धारणाओं और विधियोंमें परिष्कार करानेका प्रयत्न किया।

जैन-धर्म अपने मौलिक स्वरूप व रीति-नीतिमें प्रजातंत्रात्मक है। वह मनुष्य-वर्गमें जन्मतः नीच ऊँचका भेद स्वीकार नहीं करता और सभीको धर्म-पालनका समान अधिकार प्रदान करता है। किन्तु दुर्भाग्यतः जैन समाजमें भी नीच-ऊँचकी भावनाएं और जाति-पाँतिके नाना भेद-भाव उत्पन्न हो गये। मुख्तारजीने अपने 'जैनियोंमें दयाका अभाव' (७) व 'जैनियोंका अत्याचार' (६) जैसे लेखों-द्वारा इस विकारकी ओर सबका ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने 'जिन-'पूजाधिकार-मीमांसा' (८) 'जातिभेद पर अमितगति' (१८) तथा 'जैनी कौन हो सकता है?' (२४) आदि लेखोंमें शास्त्रीय प्रमाणोंसे भले प्रकार सिद्ध कर दिखाया कि वर्ण व जाति एवं दस्सा-बीसा-जैसे अर्थ-हीन भेद-भावोंके आधारसे किसीको जैनधर्मका पालन करने व मन्दिरोंमें दर्शन-पूजनके अधिकारसे वंचित रखना सर्वथा अनुचित है। 'चारुदत्त सेठका शिक्षाप्रद उदाहरण' (१२) 'वसुदेवका शिक्षाप्रद उदाहरण' (१३) 'गोत्र-स्थिति व सगोत्र विवाह' (१६) 'असवर्ण व अन्तर्जातीय विवाह' (२०) आदि लेखोंमें उन्होंने पौराणिक उदाहरण दे देकर सिद्ध किया कि नीच-ऊँच व गोत्र-मूर आदि भेद-भाव सारहीन हैं व उनका जैन-परम्परात्मकविवाह-संबंधी नियमोंमें कोई स्थान व महत्व नहीं है।

समाजके स्थिति-पालक कहे जानेवाले दलको मुख्तारजीके सुधारक विचारोंसे बड़ी ठेस पहुँची; किन्तु आज तक भी कोई उनके शास्त्रीय प्रमाणों एवं तदाश्रित युक्तियों और तर्कोंको काट नहीं सका। और अब तो प्रायः ये सभी सुधार बहुजनसमाजमें मौन-

पूर्वक स्वीकार किये जा चुके है। इस प्रकार हम पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको जैनसमाजमें नये युग-निर्माणमें एक महान् अग्रणी कह सकते हैं, जिसके प्रचुर प्रमाण उनके प्रस्तुत लेखोंमें विद्यमान हैं। जो कोई जैनसमाजकी गत अर्ध शताब्दीकी गति-विधिका इतिहास समझना चाहे, व उस विषय पर कुछ लिखना चाहे, उसके लिये यह लेख-संग्रह अनिवार्यरूपसे उपयोगी सिद्ध होगा, और वह पंडित-जीकी विद्वत्ता व समाज-सुधारकी शुद्ध और सुदृढ भावनाका लोहा माने बिना नही रहेगा। अंध-विश्वासों व अज्ञानपूर्ण मान्यताओंकी कठोर आलोचनाके साथ साथ शास्त्रीय आधार और स्थिर आदर्शोंका पक्षपाततथा नव-निर्माणका सावधानी पूर्ण प्रयत्न पंडितजीकी अपनी विशेषता है। अपनी कही हुई बातोंकी पुष्टिके लिये प्रमाणों, तर्कों व दृष्टान्तोंकी उनके पास कोई कमी नही। उनकी भाषा सरल और धारावाहिनी, तथा शैली तर्कपूर्ण और ओजस्विनी है। सस्कृत व फारसीके मोह व आग्रहसे रहित वे ऐसी सुबोध हिन्दी लिखते है जिसके विषयमे किसीको कोई शिकायत नहीं होनी चाहिये। इन सब गुणोंसे पंडितजीका अपना 'युगवीर' उपनाम, जो उनके पूरे नामका ही सारगर्भित संक्षेप है, पूर्णतः सार्थक सिद्ध हुआ पाया जाता है।

हमारी अभिलाषा और प्रार्थना है कि श्रुतदेवीका यह परम पुजारी चिरायु हो।

विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म०प्र०)
१६-२-१९६३

(डा०) हीरालाल जैन
(एम०ए०, डी० लिट्)

निबन्ध-सूची

[इस सूचीमें ब्रेकटके भीतर यह सूचित किया गया है कि कौन निबन्ध कब-कहाँ प्रथमतः प्रकाशित हुआ है और जिस निबन्धका ठीक निर्माण-काल मालूम हो सका है, उसका वह समय निबन्ध-नामके अनन्तर तथा ब्रेकटके पूर्व दिया गया है।]

२०. असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह (उपर्युक्त विवाहक्षेत्रप्रकाश)
२१. जाति-पचायतोंका दड-विधान (जैनजगत १६ सितम्बर व १ अक्तूबर १९२५)
२२. हम दुखी क्यों है ? (परवारबन्धु अप्रैल १९२७)
२३. जैनी नीति, नवम्बर १९२९ (अने० न० १ कि० १)
२४. जैनी कौन होसकता है ? (जैनज० १ नवम्बर १९३०)
२५. भक्तियोग-रहस्य, २७ जनवरी १९३३ (सिद्धिसोपान,प्रथमावृत्ति, अप्रैल १९३३)
२६. महावीरकी तीर्थप्रवर्तनतिथिका महत्व, १५ मार्च १९३६ (वीर-अप्रेल १९३६)
२७. सकाम-धर्मसाधन, ७ जनवरी १९३९ (अने० फर्वरी १९३९)
२८. सेवा-धर्म (अने० १ नवम्बर १९३९)
२९. होलीका त्यौहार और उसका सुधार (अने० ३ मार्च १९४०)
३०. स्व-पर-वैरी कौन ? (अने० फर्वरी १९४१)
३१. वीतरागकी पूजा क्यों ? (अने० मार्च १९४१)
३२. वीतरागसे प्रार्थना क्यों ? (अने० अप्रैल १९४१)
३३. पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ? (अने० जून १९४१)
३४. परिग्रहका प्रायश्चित्त (अने० अक्तूबर १९५१)
३५. छोटापन और बड़ापन, ३१ अगस्त १९४३ (अने०वर्ष ६ कि०१)
३६. बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा, ३० सितम्बर १९४३ (अने०६-२)
३७. बड़ा दानी कौन ? २५ नवम्बर १९४३ (अने० ६-४)
३८. बड़ा दानी और छोटा दानी, दिसम्बर १९५० (अनेकान्त-रस-लहरी, प्रथमावृत्ति जनवरी १९५०)
३९. भारतकी स्वतंत्रता उसका झंडा और कर्तव्य (अने० मार्च १९४७)
४०. महावीरका सर्वोदयतीर्थ, जनवरी १९५२ (अने० मार्च १९५२)
४१. सर्वोदयके मूलसूत्र (अने० मार्च १९५२)

१

सुधारका मूलमन्त्र

पाठक जन ! क्या आपने कभी विचार किया है कि, एक मनुष्य जो अभी दूसरेके प्राण लेनेके लिये तय्यार था, शान्त क्यों होगया ? एक बालक रोते रोते हँसने क्यों लगा ? एक आदमी जो अभी हँसी-खुशीकी बातें कर रहा था, शोकमें मग्न क्यों हो गया ? सभाके सब मनुष्य बैठे बिठाए एकदम खिल-खिलाकर क्यों हँस पड़े ? कल जो कायर और डरपोक बने हुए थे, वे आज वीर क्योंकर बन गये ? मूर्खता और असभ्यताकी मूर्तियाँ विज्ञान और सभ्यताकी मूर्तियोंमें कैसे परिणत हो गईं? जिस कार्यसे कल हमें घृणा थी,आज उसीको हम प्रेमके साथ क्यों कर रहे हैं ? आनन्द और सुखके देनेवाले पदार्थ भी कैसे किसीको दुःखदायक और अरुचिकर हो जाते हैं ? आपसमें वैर-विरोध क्योंकर पैदा होता और बढ़ जाता है ? एक अच्छे कुलका भला आदमी चोर और डकैत कैसे बन जाता है ? किस प्रकार एक असदाचारी सदाचारी और सदाचारी असदाचारी हो जाता है ? कल जो भंगी या चमार था वह आज ईसाई बनकर या फ़ौजमें भर्ती होकर ब्राह्मण और क्षत्रियों-जैसी बातें क्यों करने लगता है ? एक मनुष्य जिसे अपने प्राणोंका बहुत मोह था, सहर्ष प्राण देनेके लिये क्योंकर तैयार हो जाता है ? कौन हमारी शान्तिको भंग कर देता है ? कौन हमारे हृदयोंमें प्रेम तथा भयका संचार

कर देता है ? और कौन किसी शांतिमय राष्ट्रमें विप्लव खड़ा कर देता है ?

उत्तर इन सबका एक है और वह है—साहित्य-शक्तिका प्रभाव। जिस समय जैसे जैसे साहित्यका प्राबल्य हमारे सामने होता है उस समय हमारा परिणमन भी उसी प्रकारका हो जाता है। साहित्यसे अभिप्राय यहां किसी भाषा-विशेषसे नहीं है और न केवल भाषाका नाम ही साहित्य हो सकता है; बल्कि भाषा भी एक प्रकारका साहित्य है अथवा साहित्यके प्रचारका साधन है। साहित्य कहते हैं भावोंके वातावरणको और वह वातावरण शब्दों, भाषाओं, वार्तालापो, व्याख्यानों, चेष्टाओं, व्यवहारों, विचारों, लेखों, पुस्तकों चित्रों आकृतियों, मूर्तियों और इतर पदार्थोंके द्वारा उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न किया जाता है। इसलिये साहित्यके इन सब साधनोंको भी साहित्य कहते हैं। अथवा ये सब साहित्य प्रचारके मार्ग हैं। साहित्यके सामान्यतः क्षणिक-स्थायी, चर-स्थिर, उन्नत-अवनत, सबल-निबल और प्रौढ-अप्रौढ़ ऐसे भेद किए जासकते हैं। परन्तु विशेषकी दृष्टिसे उसके शान्ति-साहित्य, शोक-सा०, प्रेम-सा०, हास्य-सा०, भय-सा०, काम-सा०, द्वेष-सा० राग-सा० वैराग्य-सा०, सुख-सा०, दुःख-सा०, धर्म-सा०, अधर्म-सा०, आत्म-सा०,अनात्म-सा०, उदार-सा०,अनुदार-सा०, देश-सा०, समाज-सा०, युद्ध-सा०, कलह-सा०, ईर्ष्या-सा०, घृणा-सा०, हिंसा-सा०, दया-सा०, क्षमा-सा०, तुष्टि-सा०, पुष्टि-सा०, विद्या-सा०, विज्ञान-सा०, कर्म-सा०, क्रोध-सा०, मान-सा०, माया-सा०, लोभ-साहित्य, इत्यादि असंख्यात भेद हैं। बल्कि दूसरे शब्दोंमें यों कहना भी अनुचित न होगा कि स्थूलरूपसे भावोंके जितने भेद किये जा सकते हैं साहित्यके भी प्रायः उतने ही भेद हैं।

शान्ति-साहित्यके सामने आनेसे,चाहे वह किसी भी द्वारसे आया हो, यदि वह प्रबल है तो हम शान्त हो जाते हैं—हमारा क्रोध जाता रहता है। शोक-साहित्यके प्रभावसे हम रोने लगते हैं—हमारा धैर्य

झुक जाता है। प्रेम-साहित्यके प्रभावसे हम प्रेम करनेके लिये तैयार हो जाते हैं—दूसरोंके प्रति हमारा अनुराग और वात्सल्य बढ़ जाता है। हँसीका साहित्य हमें हँसने या मुस्करानेके लिये बाध्य कर देता है। भयका साहित्य हमें भीरु और डरपोक बना देता है—हम बात-बातमें डरने, घबराने और काँपने लग जाते हैं। काम-साहित्यके प्राबल्यमें अनेक प्रकारकी काम-चेष्टाएँ होने लगती हैं और द्वेष-साहित्यके प्रभावसे हम लड़ने-लड़ाने, घृणा करने तथा एक दूसरेको हानि पहुँचानेके लिये आमादा और तत्पर हो जाते हैं। युद्धमें क्या होता है? युद्ध-साहित्यका प्रचार। अर्थात् युद्ध-सामग्रीको एकत्रित, संचित और सुरक्षित करनेके सिवाय युद्धकी महिमा गाई जाती है—युद्ध करना कर्तव्य और धर्म ठहराया जाता है। अपने देश, धर्म और समाजकी मान-रक्षाके लिये प्राणोंकी बलि देना सिखलाया जाता है। अपमानित जीवनसे मरना श्रेष्ठ है, युद्धमें मरने वालोंकी कीर्ति अमर हो जाती है और उनके लिये हरदम स्वर्ग या वैकुंठका द्वार खुला रहता है, इस प्रकारकी शिक्षाएँ दी जाती हैं। शत्रुओंके असत् व्यवहारोंको दिखलाते हुए उनसे घृणा पैदा कराई जाती है और उन्हें दंड देनेके लिये लोगोंको उत्तेजित किया जाता है। साथ ही, सैनिकोंको और भी अनेक प्रकारके प्रोत्साहन दिए जाते हैं, वीरोंका खूब कीर्तिगान होता है और कायरोंकी भरपेट निन्दा भी की जाती है। नतीजा इस सम्पूर्ण साहित्य-प्रचारका यह होता है कि मुर्दोंमें भी एक बार जान पड़ जाती है उनकी मुर्झाई हुई आशा-लताएँ फिरसे हरी-भरी होकर लहलहाने लगती हैं और वे कायर भी, जो अभी तक युद्धसे भाग रहे थे अथवा जिन्होंने हथियार डाल दिए थे, युद्धमें शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेके लिए जी-जानसे लड़ते-खुशीसे अपने प्राणों तककी आहुति देनेके लिए तैयार हो जाते हैं, पूर्ण उत्साहके साथ शत्रु पर धावा करते हैं, खूब जम कर लड़ते हैं और अन्तमें शत्रुको परास्त भी कर देते हैं।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि साहित्य-प्रचारमें कितनी शक्ति है। जिन पाठकोंको इस विषयका अधिक अनुभव प्राप्त करना हो उन्हें भूमंडलके इतिहासोंका अध्ययन करना चाहिये। इतिहासोंका अध्ययन उन्हें बतलाएगा कि साहित्य-प्रचारमें कितनी बड़ी शक्ति है और उसके द्वारा समय समयपर कैसे कैसे महान उलटफेर होगए हैं। सिक्खसमाज तथा उसके धर्मकी प्रारम्भमें क्या दशा थी और फिर कैसे कैसे साहित्यके प्रभावसे उसकी कायापलट होकर वह क्षत्रियत्वमें ढलगया, ये सब बातें भी इतिहासवेत्ताओंसे छिपी नहीं हैं। वास्तवमें समस्त देशों, धर्मों तथा समाजोंका उत्थान और पतन साहित्य-प्रचारके आधार पर ही अवलम्बित है। जिस देश, धर्म या समाजमें जिस समय जिस विषयके साहित्यका अधिक प्रचार होता है उस देश, धर्म या समाजमें उस समय उसी विषयकी तूती बोलने लगती है। विषयके उत्थानात्मक होनेसे उत्थान और पतनात्मक होनेसे पतन हो जाता है।

जापान देशकी आजसे प्रायः १०० वर्ष पहले कैसी जघन्य स्थिति थी और आज उसका कितना चकित करनेवाला उत्थान होगया है, यह सब उसके उत्थानात्मक साहित्यके प्रसारका ही फल है। भारत-वर्षका पतन क्यों हुआ? और वह क्यों अपनी सारी गुण-गरिमा खो बैठा? इसीलिये कि उसके साहित्यकी अवस्था अच्छी नहीं रही, वह अपने सत्साहित्यको स्थिर नहीं रख सका, अथवा समयके अनुकूल नया साहित्य उत्पन्न नहीं कर सका। उसका साहित्य प्रेमशून्य होकर पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और निन्दासे तथा निष्फल क्रियाकांड-से भर गया। उसमें अज्ञानता, अकर्मण्यता, स्वार्थान्धता, कायरता, अन्धश्रद्धा, अनैतिकता और विलास-प्रियता छागई और साथही उसने लोकोपकार, लोकसंग्रह, विचार-स्वातंत्र्य और सहोद्योगिता जैसे महत्त्वके तत्त्वोंको भुला दिया। देशके साहित्यकी ऐसी अवस्था हो जानेसे ही भारतवर्षका पतन हुआ। भिन्न-भिन्न धर्मों तथा समाजोंके उत्थान

और पतनका भी प्रायः ऐसा ही रहस्य है । उनका उत्थान और पतन भी उनके साहित्य-प्रचारकी हालत पर अवलम्बित है ।

आप किसी देश या समाजको जैसा बनाना चाहें उसमें वैसे ही साहित्यका पूर्ण-रीतिसे प्रचार कर दीजिये, वह उसी प्रकारका हो जायगा । उदाहरणके लिये, यदि आप यह चाहते हैं कि हिन्दी भाषाका भारतवर्षमें सर्वत्र प्रचार होजाय और आप उसे राष्ट्रभाषा बनानेकी इच्छा रखते है तो आप हिन्दी साहित्यका जीजानसे प्रचार कीजिये, स्वयं हिन्दी लिखिये, हिन्दी बोलिए, हिन्दीमें पत्रव्यवहार, हिन्दीमें कारोबार और हिन्दीमें वार्तालाप कीजिये, हिन्दी पत्रों और पुस्तकोंको पढ़िये, उन्हें दूसरोंको पढ़नेके लिये दीजिये अथवा पढ़नेकी प्रेरणा कीजिये. हिन्दीमें लेख लिखिये, हिन्दीमें पुस्तकें निर्माण कीजिये, हिन्दीमें भाषण दीजिये और यह सब कुछ दूसरोंसे भी कराइये । दृढताके साथ ऐसा यत्न कीजिये कि हिन्दीमें सब विषयोंपर उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे जाँय । हिन्दी-लेखकोंका उत्साह बढ़ाइये, उन्हें लेखों तथा पुस्तकोंके तय्यार करनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रीकी सहायता दीजिये और तरह-तरहके लेखों, चित्रों, व्याख्यानों, वार्तालापों और व्यवहारोंके द्वारा हिन्दीका महत्व प्रगट करते हुए सर्व-साधारणमें हिन्दीका प्रेम उत्पन्न कीजिये । साथ ही, हिन्दी-ग्रन्थों तथा हिन्दी पत्रोंकी प्राप्तिका मार्ग इतना सुगम कर दीजिये कि उनके लिये किसीको भी कष्ट न उठाना पड़े । यह सब कुछ हो जाने पर आप देखेंगे कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा बन गई ।

इसी तरह यदि आप अपने देश या समाजका उत्थान चाहते हैं और उसके सुधारकी इच्छा रखते हैं तो आप उसमें उत्थानात्मक और सुधार-विषयक साहित्यको सर्वत्र फैलाइये अर्थात् अपने देश व समाजके व्यक्तियोंको स्वावलम्बनकी शिक्षा दीजिये, उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होना सिखलाइये, भाग्यके भरोसे रहनेकी उनकी आदत छुड़ाइये, भीख माँगने तथा ईश्वरसे वस्तुतः याचना और प्रार्थना करनेकी

पद्धतिको उठाइये; 'कोई गुप्त दैवी शक्ति हमें सहायता देगी' इस खयालको दिलसे भुलाइये; अकर्मण्य और आलसी मनुष्योंको कर्म-निष्ठ और पुरुषार्थी बनाइये; पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, निन्दा और अदेखसका भावको हटाकर आपसमें प्रेमका संचार कीजिये; निष्फल क्रियाकांडों और नुमायशी (दिखावेके) कामोंमें होनेवाले शक्तिके ह्रासको रोकिये; द्रव्य और समयका सदुपयोग करना बतलाइये; विलासप्रियताकी दलदलमें फँसने और अन्धश्रद्धाके गड्ढेमें गिरनेसे बचाइये; अनेक प्रकारके कल-कारखाने खोलिए, उद्योगशालाएँ और प्रयोगशालाएँ जारी कीजिये; शिल्प व्यापार और विज्ञान-उन्नतिकी ओर लोगोंकी पूरे तौरसे लगाइये; मिलकर काम करना, एक दूसरे-की सहायता देना तथा देश और समाजके हितको अपना हित समझना सिखलाइये; बाल, वृद्ध तथा अनमेल विवाहोंका मूलोच्छेद होसके ऐसा यत्न कीजिए; सच्चरित्रता और सत्यका व्यवहार फैलाइये; विचार-स्वातंत्र्यको खूब उत्तेजन दीजिए; योग्य आहार-विहार द्वारा बलाढ्य बनना सिखलाइये, वीरता, धीरता निर्भीकता, समुदा-रता, गुणग्राहकता, सहनशीलता और दृढप्रतिज्ञता आदि गुणोंका संचार कीजिये; एकता और विद्यामें कितनी शक्ति है इसका अनुभव कराइयें, धर्मनीति, राजनीति और समाजनीतिका रहस्य तथा भेद समझाइये; समुद्र-यात्राका भय हटाइये, विदेशोंमें जानेका संकोच और हिचकिचाहट दूर कीजिये, अनेक भाषाओंका ज्ञान कराइये, तरह तरहकी विद्याएँ सिखाइये और शिक्षाका इतना प्रचार कर दीजिये कि देश या समाजमें कोई भी स्त्री, पुरुष, बालक और बालिका अ-शिक्षित न रहने पावे। इन सब बातोंके सिवाय जो जो रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार अथवा सिद्धान्त उन्नति और उत्थानमें बाधक हों, जिनमें कोई वास्तविक तत्त्व न हो और जो समय समय पर किसी कारणविशेषसे देश या समाजमें प्रचलित हो गए हों उन सबकी खुले शब्दोंमें आलोचना कीजिए और उनके गुण-दोष सर्वसाधारण पर

प्रगट कीजिये। सच्ची आलोचनामें कभी संकोच न करना चाहिए। बिना समालोचनाके दोषोंका पृथक्करण नहीं होता। साथ ही, इस बातका भी खयाल रखिये कि इन सब कार्योंके सम्पादन करने और कराने में अथवा यह सब साहित्य फैलानेमें आपको अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आवेंगी, रुकावटें पैदा होंगी, बाधाएँ उपस्थित होंगी, और आश्चर्य नहीं कि उनके कारण कुछ हानि या कष्ट भी उठाना पड़े; परन्तु उन सबका मुकाबला बड़ी शान्ति और धैर्यके साथ होना चाहिए, चित्तमें कभी क्षोभ न लाना चाहिए—क्षोभमें योग्य-अयोग्य-का विचार नष्ट हो जाता है—और न कभी इस बातकी पर्वाह ही करनी चाहिए कि हमारे कार्योंका विरोध होता है, विरोध होना अच्छा है,वह शीघ्र सफलताका मूल है। कैसा ही अच्छेसे अच्छा काम क्यों न हो, यदि वह पूर्व-संस्कारोंके प्रतिकूल होता है तो उसका विरोध जरूर हुआ करता है। अमेरिका आदि देशोंमें जब गुलामोंको गुलामीसे छुड़ानेका आन्दोलन उठा तब खुद गुलामोंने विरोध किया था। पागल मनुष्य अपना हित करनेवाले डाक्टर पर भी हमला किया करता है। इसलिए महत्पुरुषोंको इन सब बातोंका कुछ भी खयाल न होना चाहिए। अन्यथा वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो जावेंगे और सफल-मनोरथ न हो सकेंगे। उन्हें अपना कार्य और आन्दोलन बराबर जारी रखना चाहिए। आन्दोलनके सफल होने पर विरोधी शान्त हो जायँगे, उन्हें स्वयं अपनी भूल मालूम पड़ेगी और आगे चलकर वे तुम्हारे कार्योंके अनुमोदक और सहायक ही नहीं बल्कि अच्छे प्रचारक और तुम्हारे पूर्ण अनुयायी बन जायँगे।

जैन ग्रन्थोंके छपानेका समाजमें कितना विरोध रहा! परन्तु अब वही लोग, जो उस विरोधमें शामिल थे और जिन्होंने छपे हुए शास्त्रोंको न पढ़नेकी प्रतिज्ञाओं पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये थे, खुशीसे छपे हुए ग्रन्थोंको पढ़ते-पढ़ाते और उनका प्रचार करते हुए देखे जाते हैं। जिधर देखो, उधर छपे हुए ग्रन्थोंकी महिमा और

प्रशंसाके गीत गाए जाते हैं। यदि उस समय छपे ग्रन्थोंका प्रचार करने-वालोंके हृदयोंमें इस विरोधसे निर्बलता आ जाती और वे अपने कर्तव्यको छोड़ बैठते तो आज छपे ग्रन्थोंकी कृपासे जैन समाजको जो असीम लाभ पहुँच रहा है उससे वह वंचित रह जाता और उस-का भविष्य बहुत कुछ अंधकारमय हो जाता । इसलिये विरोधके कारण घबराकर कभी अपने हृदयमें कमजोरी न लाना चाहिये और न फल-प्राप्तिके लिये जल्दी करके हताश ही होजाना चाहिये। बल्कि बड़े धैर्य और गाम्भीर्यके साथ बराबर उद्योग करते रहना चाहिये और नये-पुराने सभी मार्गोंसे, जिस-जिस प्रकार बने, अपने सुधार विषयक साहित्यका सर्वत्र प्रचार करना चाहिये ।

सच्चे हृदयसे काम करनेवालों और सच्चे आन्दोलनकारियों-को सफलता होगी और फिर होगी। उन्हें अनेक काम करनेवाले, सहायता देनेवाले और उनके कार्योंको फैलानेवाले मिलेंगे। इसलिए घबरानेकी कोई बात नहीं है। जो लोग देश या समाजके सच्चे हितैषी होते हैं वे सब कुछ कष्ट उठाकर भी उसका हित-साधन किया करते है। इस तरहपर सब कुछ सहन करते हुए यदि आप सुधारविषयक साहित्यका प्रचार करके अपने देश या समाजके साहित्यको सुधारने-में समर्थ हो जायँगे तो फिर देश या समाजके सुधरनेमें कुछ भी देर नहीं लगेगी। उसका सुधार अनिवार्य हो जायगा। **यही सुधारका मूल मंत्र है**। परन्तु इतना खयाल रहे कि साहित्य जितना ही उन्नत, सबल और प्रौढ होगा उतना ही उसका प्रभाव भी अधिक पड़ेगा और वह अधिक काल तक ठहर भी सकेगा। इसलिए जहाँ तक बने, खूब प्रबल और पुष्ट साहित्य फैलाना चाहिए।

२

पापोंसे बचनेका गुरुमंत्र

इस संसारमें इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग और रोगादि-जनित जितने भी दुःख और कष्ट हैं उन सबका मूल कारण पाप-कर्म है। क्या बालक, क्या वृद्ध और क्या जवान सभी दुःखोंसे भयभीत और इस बातके उत्कट अभिलाषी हैं कि उन्हें किसी प्रकार भी दुःखके दर्शन न होवें; परन्तु दुःखोंके मूल कारण 'पाप' को दूर करनेके लिये प्रायः कोई भी यथेष्ट प्रयत्न नहीं करता, उलटा दुःख मिटानेके लिये मनुष्य बहुधा पापकर्मका आचरण करते हैं जिससे दुःख दूर न होकर दुःखकी परम्परा उत्तरोत्तर बढती रहती है। आजकलके मनुष्योंकी दशा ठीक इस श्लोकमें वर्णित-जैसी जान पड़ती है —

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

अर्थात्–मानव पुण्यका फल जो सुख उसको तो चाहते हैं;परन्तु पुण्य तथा धर्मकार्यको करना नहीं चाहते—उसके लिये सौ बहाने बना देते है। और पापका फल जो दुःख उसे तो नही चाहते—दुःखके नामसे भी डरते हैं; परंतु दुःखका कारण जो पापकर्म है उसे बड़े यत्नसे करते हैं—अनेक जन मिल-मिलाकर तथा सलाह-मशवरा करके उसे बड़े चावसे सम्पन्न करते हैं।

ऐसी स्थितिमें कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है? जिस प्रकार शीत दूर करनेके लिए शीतलोपचार उपयोगी नहीं होता उसी प्रकार दुःखोंको दूर करनेके लिए पापा-

चरण कार्यकारी नहीं है। दुःखोंसे भयभीत मानवोंको चाहिए कि वे पापोंका दूरसे ही परित्याग करे। अतः आज अपने पाठकोंको एक ऐसा 'गुरुमंत्र' बतलाया जाता है जिसको हृदयमें धारण करने, नित्य स्मरण रखने और सदा व्यवहारमें लानेसे सहज ही समस्त पापोंसे बचा जा सकता है। गुरुमंत्रमें पापोंसे बचनेका ऐसा सुगम तथा सरल मार्ग निर्दिष्ट किया गया है जिससे किसीको भी किसीसे कुछ पूछने-की ज़रूरत नहीं रहती। प्रत्येक मनुष्य पापोंसे बचनेका अपना मार्ग स्वयं निर्धारित कर सकता है और उसपर चलता हुआ स्वतः पापों-से बचकर दुःखोंसे मुक्त हो सकता है। वह गुरुमंत्र इस प्रकार है:—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

'जो जो बातें, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल हैं—दूसरोंके द्वारा किए हुए जिस व्यवहारको तुम अपने लिये पसन्द नहीं करते, अहितकर और दुःखदायी समझते हो—उनका आचरण-व्यवहार तुम दूसरोंके प्रति किसी प्रकार भी मनसे, वचनसे, कायसे तथा करने, कराने, अनुमोदनाके रूपमें मत करो।'

इस गुरुमंत्रके अनुकूल आचरण करनेवाला मनुष्य सच्चा धर्मा-त्मा एवं न्यायनिष्ठ होता है, वह पापोंसे अलिप्त रहकर दुःखोंसे सहज ही छुटकारा पा जाता है। अतः सुखार्थी और सुखान्वेषी मनु-ष्योंको चाहिए कि वे जब कोई भी काम करना चाहें या किसी काम करनेका विचार अपने मनमें लाएँ तब वे झटसे इस मंत्रका स्मरण कर लिया करें और इस बातपर गहरा विचार करें कि यदि वह कार्य, जिसको हम दूसरोंके प्रति करना चाहते हैं, दूसरे मनुष्य वैसी ही दशामें हमारे प्रति करें तो वह हमको इष्ट होगा या अनिष्ट—अच्छा लगेगा या बुरा। यदि वह कार्य अपनेको अनिष्ट (बुरा) प्रतीत होता हो तो हमको कदापि दूसरोंके साथ उसका आच-रण अथवा व्यवहार नहीं करना चाहिए। जब दूसरोंकी बेईमानी, गाली आदि कुवचन और असद्व्यवहारसे हमारे चित्तको दुःख

पहुंचता है तो हमको कब उचित है कि हम दूसरोंके साथ बेईमानी करें, उनको गाली आदि कुवचन कहें अथवा उनके साथ असद्व्यवहार करें ? यह मंत्र वैसा करनेको अनुचित बतलाता हुआ उसका निषेध करता है।

संसारमें कोई भी मनुष्य यह नहीं चाहता और न किसीको यह इष्ट है कि कोई दूसरा प्राणी उसको सतावे,दुःख देवे, मारे या उसका बध करे;यह भी कोई नहीं चाहता कि दूसरा मानव उसके साथ झूठ बोले, मायाचार करे, छल-कपट रचे, उसको धोखा देवे, उसका माल चुरावे या अन्य किसी प्रकारसे उसकी हानि पहुंचावे अथवा कोई नराधम उसकी बहू बेटी आदिको बहकावे, उनसे व्यभिचार करे या उनको कुदृष्टिसे देखे; न किसीको यह प्रिय तथा सुखकर मालूम होता है कि कोई उस पर क्रोध करे, उसका तिरस्कार या अपमान करे, उसकी निन्दा बुराई या चुगली करे, उसके साथ अभिमान करे, शत्रुता रक्खे, उससे अपना लोभ साधे, उसकी हँसी उड़ावे, उसको किसी प्रकारका भय दिखावे उसकी आजीविका बिगाड़े अथवा कर्कश कठोर और मर्मविदारक निंद्य शब्द कहे, और न कोई मनुष्य इस बातको पसन्द करता अथवा अपने अप्रतिकूल समझता है कि दूसरा मनुष्य उसके साथ विश्वासघात या द्रोह करे, उसकी धरोहर या उधार (कर्ज) को न देवे, उसके चोरी गए हुए मालको खरीदे, उससे बढ़ती ले लेवे और उसको घटती तोल देवे उसको अच्छा माल दिखा कर खोटा तथा मिलावटी माल देवे, उसके चलते तथा होते हुए काममें विघ्न कर देवे, उसकी धन-सम्पत्ति तथा पुत्र-कलत्रादिकी देखकर जले अथवा उसके कुटुम्बादिका विघटन और विनाश चाहे।

यदि किसी मनुष्यको यह मालूम हो जाता है कि कोई दूसरा व्यक्ति उसके प्रतिकूल ऐसा कोई कार्य कर रहा है, उसके किसी कार्यमें बाधक है या किसी दूसरे मनुष्यसे उपर्युक्त कार्योंमेंसे कोई कार्य उसके प्रतिकूल करा रहा है या करनेकी प्रेरणा कर रहा है अथवा उसके

प्रतिकूल कोई कार्य होता हुआ देखकर खुश हो रहा है–आनन्द मना रहा है–तो उस मनुष्यको घोर मानसिक कष्ट एवं दुःख उत्पन्न होता है। और वह उस व्यक्तिको अपना हितशत्रु समझने लगता है; फलतः परस्पर वैर-विरोध बढ़कर अनेकानेक अनर्थ पैदा हो जाते हैं। अतएव मनुष्योंको चाहिए कि वे किसीभी प्राणीके साथ उपर्युक्त कार्योंमेंसे, जिन्हें वे अपने प्रतिकूल समझते हैं, किसी भी कार्यका आचरण, अनुष्ठान, व्यवहार अथवा बर्ताव न करें।

संसारमें उपर्युक्त सब कार्य पाप-कार्य कहे जाते है और प्रायः यही पाप-कार्य हैं भी। इन्हीं पाप-कर्मोंकी वजहसे संसारमें अनेक प्रकारके दुःख और कष्ट उठाने पड़ते हैं। पाठकजन ! ज़रा सोचिए, और समझिए यह कितना बड़ा अन्याय और अन्धेर है कि जिस कामको हम स्वयं अपने लिए बुरा समझे उसका आचरण तथा व्यवहार दूसरेके लिए करें और हमारा हृदय कुछ भी कम्पायमान न हो! हम किस मुँहसे तब यह कह सकते हैं और कौनसे हृदयसे इस बातकी इच्छा कर सकते हैं कि अन्य प्राणी हमारे साथ नेकी करे, अच्छा व्यवहार करे और उपर्युक्त प्रकार बुराईसे न प्रवर्तें ? क्या यह न्यायसंगत हो सकता है कि हम दूसरोंको दुःख देवे सतावे और फिर उनसे सुख मिलनेकी आशा रक्खें ? कदापि नही। इसलिए हमको चाहिए कि हम इस गुरुमत्रका शरण ग्रहण करे और अपनी पूर्ण-शक्तिके अनुसार इस पर आचरण तथा अमल करे, जिससे शीघ्र ही पापोंसे बचकर उत्तम सुखोंका अनुभव कर सके। जितने जितने अंशोंमें हम इस गुरुमत्र पर आचरण करेगे उतने उतने अंशोमें हम पापोंसे बच जाएँगे। हमारे आचार्योंने इस गुरुमंत्रमें ऐसी खूबी रक्खी है कि इसपर आचरण करनेवालोंको पापोंके भेद-प्रभेदों और उनके लक्षणोंको जानने तथा याद रखनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती; और इस गुरुमंत्रके प्रचारसे सहज ही संसारभरमें सुख-शान्तिका प्रवाह फैल सकता है।

३

मिथ्या धारणा

आजकल भारतवर्षमें बहुतसे हिंसक तीव्र-कषायी और रौद्रपरिणामी मनुष्य भिरड़, ततैये, बिच्छू, कानखजूरे तथा खटमल, पिस्सू, मच्छर आदि छोटे छोटे दीन जन्तुओंको मारकर अपनी बहादुरी जतलाया करते है और भिरड़-ततैयोंके छत्तोंमें आग लगाकर तीसमारखाँ बना करते है। जब उनसे कोई करुणहृदय व्यक्ति पूछता है कि आप ऐसा निर्दयताको लिये हुए हिंसक कार्य क्यों करते हैं? तो वे बड़े दर्पके साथ, मुसलमान न होते हुए भी, उत्तरमें यह मुसलमानी सिद्धान्त सुना देते हैं:—

"क़तलुल मूज़ी क़बलुल ईज़ा"

अर्थात्—ईज़ा (दुःख) पहुँचानेसे पहले ही मूज़ी (दुःख देनेवाले)-को मार डालना चाहिये। परन्तु वे कभी इस बातका विचार भी नहीं करते कि जब भिरड़, ततैये आदिक थोड़ीसी पीड़ा पहुँचाने ही के कारण मूज़ी और बधयोग्य हैं तो फिर हम जो कि उनको जानसे ही मार डालते हैं और उन जन्तुओंका गाँवका गाँव (छत्ता) भस्म कर देते हैं, उनसे कितने दर्जे अधिक मूज़ी और बधयोग्य ठहरते हैं!!

वास्तवमें विचार किया जाय तो यह सब उनकी मिथ्या धारणा है, वे उक्त सिद्धान्तका बिल्कुल दुरुपयोग कर रहे हैं और उन्होंने उसके आशयको कुछ भी नहीं समझा है। उन्हें न तो मूज़ीकी खबर है और

न ईज़ाकी। यदि इस सिद्धान्तका वही आशय लिया जाय जैसा कि वे समझ रहे हैं और तदनुकूल प्रवर्त रहे हैं—अर्थात् यह कि जो कोई प्राणी किसी दूसरे प्राणीको थोड़ासा भी दुःख देनेवाला हो तो वह मूज़ी है, उसको मार डालना चाहिये—तो ऐसी हालतमें मनुष्य सबसे पहले मूज़ी और वधयोग्य ठहरते हैं; क्योंकि ये बहुतसे निरपराधी जीवोंको सताते और प्राण-दंड देते हैं। परन्तु यह किसी को इष्ट नहीं। अतः इस सिद्धान्तका साफ़ आशय और असल प्रयोजन यह है कि मनुष्योंको अपने नफ़सको मारना चाहिए—अपनी पाँचों इंद्रियों(हवासेखमसा,-को वशमें करना चाहिए। ये ही मूज़ी है; इन्हींके कारण इस आत्मा-को नाना प्रकारके जन्म-जरा-मरण रोग-वियोग तथा नरक निगोदा-दिकके दुःख और कष्ट उठाने पड़ते हैं; इन्हींके प्रसादसे आत्माके साथ कर्म-बन्धन होकर उसके गुणोंका घात होता है, जिससे अधिक आत्माके लिए और कोई ईजा (दुःख-परम्परा) नहीं हो सकती है और न इनसे अधिक आत्माके लिए और कोई मूज़ी हो सकता है। इन इंद्रियोंका निग्रह करने और इनकी विषय-वासनाको रोकने तथा राग-द्वेषरूप परिणतिको हटानेसे ही इस आत्माके दुःखकी निवृत्ति होकर उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है। नीति-कारोंने बहुत ठीक कहा है :—

> **आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।**
> **तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥**

अर्थात्—मुसीबत और दुःखोंके आनेका एकमात्र मार्ग इन्द्रियों-का असंयम—उनका वशमें न करना—है और उनको जीतकर अपने वशमें करना ही सुखोंका एक मात्र मार्ग है। अतः जो मार्ग इष्ट हो-उसपर चलना चाहिये। सुख चाहते हो तो इन्द्रियोंको अपने आधीन करो। दुःख चाहते हो तो खुद इन्द्रियोंके आधीन हो जाओ।

कवि 'जौक़' ने भी नफ़्स को बड़ा मूज़ी क़रार देते हुए उसीको मारनेकी प्रेरणाकी है:-

किसी बेकसको ऐ बेदादगर ! मारा तो क्या मारा ?
जो खुद ही मर रहा हो उसको गर मारा तो क्या मारा ?
न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर बन जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीरगर ! मारा तो क्या मारा ?
बड़े मूज़ीको मारा नफ़्से अम्माराको गर मारा।
नहंगो अजदहाओ शेरेनर मारा तो क्या मारा ?

दूसरा आशय इस सिद्धान्तका यह भी निकाला जासकता है कि जब तक ज्ञानावरणीय आदिक कर्म, जो आत्माके परम शत्रु हैं और इस आत्माको संसारमें परिभ्रमण कराकर नाना प्रकारके कष्ट देते हैं, उदयमें आकर इस आत्माको दुःख और कष्ट देवे अथवा ईज़ा पहुँचावे उससे पहले ही हमको तप-संयमादिरूप धर्माचरणके द्वारा उनको मार डालना चाहिए–उनकी निर्जरा कर देनी चाहिए–जिससे वे हमको ईज़ा (दुःख) न पहुँचा सकें। इन दोनों आशयोंके अतिरिक्त उपर्युक्त सिद्धान्तका यह आशय कदापि नहीं हो सकता है कि किसी प्राणधारीका बध किया जावे। ऐसा आशय करनेसे दयाधर्मके सिद्धान्तमें विरोध आता है। वह सिद्धान्त तब अधर्ममयी हो जानेसे सर्वथा हेय ठहरता है और किसी भी दयाधर्मके माननेवालेको उस पर आचरण नहीं करना चाहिए। यह कैसी खुदगर्ज़ी और अन्याय है कि जिस बातको हम अपने प्रतिकूल समझे या जिसे हम अपने लिए पसन्द न करें उसका आचरण दूसरोंके प्रति करें !

इसीसे एक फ़ार्सी कविने भी कहा है—"आँचे बर खुद न पसन्दी बर दीगरां मपसन्द"। अर्थात् जिस (व्यवहार) को तू अपने ऊपर पसन्द नहीं करता उसे दूसरों के ऊपर पसन्द मत कर।

४

महाजनी मंत्र

महाजनी हिन्दीमें सबसे प्रथम जो अक्षर पढ़ाए जाते है उनका उच्चारण क्रमशः इस प्रकार कराया जाता है.—

"रा, मै, सै, तै, सू, रे, सै ती ओ, ना, मा, सी, धं।"

प्रायः सब लोग इसको वर्णमाला समझते हैं और इसीसे इसका इस प्रकार पृथक्-पृथक् उच्चारण करते हैं,परन्तु वस्तुतः विचार करनेसे मालूम होता है कि यह वर्णमाला नही है; क्योंकि वर्णमाला इसके पश्चात् जब पृथक रूपसे पढ़ाई जाती है और उपर्युक्त सब अक्षर उसमें आते है तब इसको वर्णमाला कैसे माना जा सकता है ? दूसरे इसी वर्ण-समूहमें कई अक्षर—जैसे रकार, मकार, सकार और तकार—कई कई बार आए हैं यदि यह वर्णमाला होती तो एक अक्षरके कई-कइ बार आनेकी क्या आवश्यकता थी ? इससे साफ तौर पर सिद्ध होता है कि यह अक्षर-समूह वर्णमाला नही है; बल्कि कुछ और ही वस्तु है और वह है देव-गुरु-शास्त्रके स्मरणस्वरूप और सिद्धोंको नमस्कार रूप एक मत्र या मंगलाचरण, जो सबसे पहले मंगलके लिए बालकोको पढ़ाया जाता था और उसका उच्चारण इस प्रकार होता था तथा होना चाहिए:—

"राम सन्त सरस्वती ओं नमः सिद्धं।"

परन्तु अफ़सोस है कि आजकल इसके उच्चारणको ऐसा बिगाड़

दिया गया है और इस उच्चारणकी ऐसी प्रबल रूढि पड़ गई है कि किसीको इसके मंत्र या मंगलाचरण होनेका स्वप्नमें भी ध्यान नहीं आता और विचारे बालक इस कल्याणकारी मंत्र तथा मंगलपाठसे वंचित रक्खे जाते हैं।

इस अशुद्ध उच्चारणके कारणों पर जहाँ तक विचार किया जाता है तो मुख्यतः दो कारण सामने आते हैं। एक तो यह कि इस महाजनी हिन्दीमें मात्राएँ नही होती, जिससे एक अक्षरका उच्चारण अनेक प्रकार हो जाता है। जैसे कि उक्त अक्षर-समूहमें रकारका उच्चारण एक स्थान पर 'रा' और दूसरे स्थान पर 'रे' किया जाता है; इसी तरह सकारका उच्चारण 'सै' 'सू' 'सी' के रूपमें तीन प्रकार और मकारका उच्चारण 'मै' तथा 'मा' के रूपमें दो प्रकार किया जाता है। साराँश यह कि इस लिपिमें चाहे किसी अक्षरको किसी मात्राके साथ पढ़लो, चाहे बिना मात्राके। इसी लिये इस महाजनी हिन्दीको 'गन्दी' कहते हैं, जिसकी अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं ❀।

दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि इस महाजनीको पढ़ाने वाले प्रायःअविद्वान् पाधा लोग होते हैं। वे विचारे इस बातको कहाँ पहुँच सकते है कि यह कोई मंत्र अथवा मंगलाचरण है। वे तो प्रायः यह भी नही जानते कि राम, सन्त और सरस्वती किसको कहते हैं और सिद्ध किसका नाम है। फिर वे बालकोंसे किस प्रकार ऐसा शुद्ध उच्चारण करा सकते हैं? इसीसे यह उपर्युक्त प्रकारसे पृथक् पृथक् अक्षरोंके उच्चारणकी रुढि पड़ गई है।

❀ एक लोकोक्ति यह भी प्रसिद्ध है कि किसी मुनीमने लालाजीके अजमेर जानेकी सूचना और बड़ी बहीकी आवश्यकता होने पर उसके भेजनेकी प्रेरणा करते हुए जो लिखा था कि "लालाजी अजमेर गये बड़ी बहीको भेज दो" वह "लालाजी आज मर गये बड़ी बहूको भेज दो" के रूपमे पढ़ा गया, और ऐसा पढते ही वहाँ हाहाकार मच गया!

अतः हमारे भाईयोंको चाहिये कि वे इस खराब रूढ़िको दूर करनेका शीघ्र प्रयत्न करे, जिससे प्रारंभमें ही बालकोंको मंत्रमय मांगलिक शब्दोंके उच्चारणका अवसर मिले और उनमें अच्छे संस्कार पड़े। इसके लिये पाठशालाओंमें जो पाधा लोग पढ़ाते हों उन्हें समझाकर हिदायत कर देनी चाहिये कि वे आगामी बालकों-को प्रारम्भमें 'राम सन्त सरस्वती ओं नमः सिद्धं' ऐसा मंगलमय शुद्ध पाठ पढ़ाया करें।

५

उपवास

उपवास एक प्रकारका तप और व्रत होनेसे धर्मका अंग है। विधि-पूर्वक उपवास करनेसे पांचों इन्द्रियाँ और बन्दरके समान चंचल मन ये सब वशमें हो जाते हैं, साथ ही पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है। संसारमें जो कुछ दुःख और कष्ट उठाने पड़ते हैं वे प्रायः इन्द्रियों-की गुलामी और मनको वशमें न करनेके कारणसे ही उठाने पड़ते हैं। जिस मनुष्यने अपनी इन्द्रियों और मनको जीत लिया उसने जगत जीत लिया, वह धर्मात्मा है और सच्चा सुख उसीको मिलता है। इस-लिये सुखार्थी मनुष्योंका उपवास करना प्रमुख कर्त्तव्य है। इतिहासों और पुराणोंके देखनेसे मालूम होता है कि पूर्व कालमें इस भारत-भूमि पर उपवासका बड़ा प्रचार था। कितने ही मनुष्य कई-कई दिनका ही नहीं, कई-कई सप्ताह, पक्ष तथा मास तकका भी उपवास किया करते थे। वे इस बातको भली प्रकार समझे हुए थे और उन्हें यह दृढ विश्वास था कि :–

"कर्मेन्धनं यदज्ञानात् संचितं जन्म-कानने।
उपवास-शिखी सर्वं तद्भस्मीकुरुते क्षणात॥"

"उपवास-फलेन भजन्ति नरा भुवनत्रय-जात-महाविभवान्।
खलु कर्म-मल-प्रलयादचिरादजराऽमर-केवल-सिद्ध-सुखम्॥"

'संसाररूपी वनमें अज्ञानभावसे जो कुछ कर्मरूपी-इंधन संचित होता है उसको उपवासरूपी अग्नि क्षणमात्रमें भस्म कर देती है।'

'उपवासके फलसे मनुष्य तीन लोककी महा विभवको प्राप्त होते हैं और कर्ममलका नाश हो जानेसे शीघ्र ही अजर अमर केवल सिद्ध-सुखका अनुभव करते हैं।'

इसीसे वे (पूर्वकालीन मनुष्य) प्रायः धीरवीर, सहनशील, मनस्वी, तेजस्वी उद्योगी, साहसी, नीरोगी, दृढसंकल्पी, बलवान्, विद्यावान्, और सुखी होते थे, जिस कार्यको करना विचारते थे उसको करके छोड़ते थे। परन्तु आज वह स्थिति नही है। आज-कल उपवासकी बिलकुल मिट्टी पलीद है—प्रथम तो उपवास करते ही बहुत कम लोग हैं और जो करते है उन्होंने प्रायः भूखे मरनेका नाम उपवास समझ रक्खा है। इसीसे वे कुछ भी धर्म-कर्म न कर उपवास-का दिन योही आकुलता और कष्टसे व्यतीत करते हैं—गर्मीके मारे कई कई वार नहाते हैं, मुख धोते हैं, मुख पर पानीके छींटे देते हैं, ठंडे पानीमें कपड़ा भिगो कर छाती आदि पर रखते है; कोई कोई प्यास कम करनेके लिये कुल्ला तक भी कर लेते हैं और किसी प्रकार-से यह दिन पूरा होजावे तथा विशेष भूख-प्यासकी बाधा मालूम न होवे इस अभिप्रायसे खूब सोते हैं, चौसर-गंजफा आदि खेल खेलते हैं अथवा कभी कभी का पड़ा गिरा कोई ऐसा गृहस्थीका धंधा या आरम्भका काम ले बैठते हैं जिसमें लगकर दिन जाता हुआ मालूम न पड़े। गरज़ ज्यों त्यो करके अनादरके साथ उपवासके दिनको पूरा कर देते है, न विषय-कषाय छोड़ते हैं और न कोई खास धर्माचरण ही करते है। पर इतना जरूर है कि भोजन बिलकुल नहीं करते, भोजन न करनेको ही उपवास या व्रत समझते हैं और इसीसे धर्मलाभ होना मानते है! सोचनेकी बात है कि यदि भूखे मरनेका ही नाम उपवास या व्रत हो तो भारतवर्षमें हजारों मनुष्य ऐसे है जिनको कई कई दिनतक भोजन नही मिलता है, वे सब ही व्रती और धर्मात्मा ठहरें;

परन्तु ऐसा नहीं है। हमारे आचार्योंने उपवासका लक्षण इस प्रकार वर्णन किया है :–

कषाय-विषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

अर्थात्—जिसमें कषाय, विषय और आहार इन तीनोंका त्याग किया जाता है उसको उपवास समझना चाहिये, शेष जिसमें कषाय और विषयका त्याग न होकर केवल आहारका ही त्याग किया जावे उसको लंघन (भूखा मरना) कहते हैं।

श्री अमितगति आचार्य इस विषयमें ऐसा लिखते हैं:—

त्यक्त-भोगोपभोगस्य, सर्वारम्भ-विमोचिनः।
चतुर्विधाऽशनत्याग उपवासो मता जिनैः॥

अर्थात्–जिसने इन्द्रियोंके विषयभोग और उपभोगको त्याग दिया है और जो समस्त प्रकारके आरम्भसे रहित है उसीके जिनेन्द्रदेवने चार प्रकारके आहार-त्यागको उपवास कहा है। अत. इन्द्रियोंके विषयभोग और आरम्भके त्याग किये बिना चार प्रकारके आहारका त्यागना उपवास नही कहलाता।

स्वामी समन्तभद्राचार्यकी उपवासके विषयमें ऐसी आज्ञा है:–

पंचानां पापानामलंक्रियाऽऽरम्भ-गंध-पुष्पाणाम्।
स्नानाऽञ्जन-नस्यानामुपवासे परिह्रतिं कुर्यात्॥१॥
धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिवतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञान ध्यान-परो वा भवतूपवसन्न तन्द्रालुः॥२॥

'उपवासके दिन पाँचों पापों हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह-का, शृंगारादिक रूपमें शरीरकी सजावटका, आरम्भोंका, चन्दन इत्र फुलेल आदि गंध द्रव्योंके लेपन का, पुष्पोंके सूंघने तथा माला आदि धारण करनेका, स्नानका, आँखोंमें अंजन (सुरमा) लगानेका और नाकमें दवाई डालकर नस्य लेने तथा तमाखू आदि सूँघनेका, त्याग करना चाहिये।'

'उपवास करने वालेको उस दिन निद्रा तथा आलस्यको छोड़ कर अति अनुरागके साथ कानों द्वारा धर्मामृतको स्वयं पीना तथा दूसरोंको पिलाना चाहिये और साथ ही ज्ञान तथा ध्यानके आराधनमें तत्पर रहना चाहिए।'

इस प्रकार उपवासके लक्षरण और स्वरूप-कथनसे यह साफ़तौर पर प्रकट है कि केवल भूखे मरनेका नाम उपवास नहीं है; किन्तु विषय-कषायका त्याग करके इन्द्रियोंको वशमें करने, पंच पापों तथा आरम्भको छोडने और शरीरादिकसे ममत्व परिणामको हटाकर प्राय: एकान्त स्थानमें धर्मध्यानके साथ कालको व्यतीत करनेका नाम उपवास है और इसीसे उपवास धर्मका एक अंग तथा सुखका प्रधान कारण है।

जो लोग (पुरुष हो या स्त्री) उपवासके दिन झूठ बोलते हैं, चोरी करते है,मैथुन सेवन करते हैं या अपने घर-गृहस्थीके धंधोंमें लगे रहकर अनेक प्रकारके सावद्यकर्म (हिंसाके काम) एवं छल-कपट करते हैं, मुकदमे लड़ाते और परस्पर लड़कर खून बहाते है तथा अनेक प्रकारके उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनकर शरीरका शृंगार करते हैं, सोते हैं, ताश, चौपड़ तथा गंजिफा आदि खेल खेलते हैं, हुक्का पीते या तमाखू आदि सूंघते हैं और स्वाध्याय, सामायिक, पूजन, भजन आदि कुछ भी धर्म कर्म न करके अनादर तथा आकुलताके साथ उस दिनको पूरा करते है वे कैसे उपवासके धारक कहे जा सकते है और उनको कैसे उपवासका फल प्राप्त हो सकता है ? सच पूछिये तो ऐसे मनुष्योंका उपवास उपवास नही है किन्तु उपहास है। ऐसे मनुष्य अपनी तथा धर्म दोनोंकी हँसी और निन्दा कराते हैं, उन्हें उपवाससे प्राय: कुछ भी धर्म-लाभ नहीं होता। उपवासके दिन पापाचरण करने तथा संक्लेशरूप परिणाम रखनेसे तीव्र पाप बंधकी संभावना अवश्य है।

हमारे लिये यह कितनी लज्जा और शरम की बात है कि ऊंचे

पदको धारण करके नीची क्रिया करें अथवा उपवासका कुछ भी कार्य न करके अपने आपको उपवासी और व्रती मान बैठे !

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि विधिपूर्वक उपवास करनेसे पाँचों इन्द्रियाँ और मन शीघ्र ही वशमें हो जाते हैं और इनके वशमें होते ही उन्मार्ग-गमन रुककर धर्म-साधनका अवसर मिलता है। साथ ही उद्यम, साहस, पौरुष, धैर्य आदि सद्गुण इस मनुष्यमें जाग्रत हो उठते हैं और यह मनुष्य पापोंसे बचकर सुखके मार्गमें लग जाता है। परन्तु जो लोग विधिपूर्वक उपवास नहीं करते उनको कदापि उपवासके फलकी यथेष्ट प्राप्ति नहीं हो सकती। उनका उपवास केवल एक प्रकारका कायक्लेश है,जो भावशून्य होनेसे कुछ फलदायक नहीं; क्योंकि कोई भी क्रिया बिना भावोंके फलदायक नहीं होती ('यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः')। अतएव उपवासके इच्छुकोंको चाहिए कि वे उपवासके आशय और महत्वको अच्छी तरहसे समझलें, वर्तमान विरुद्धाचरणोंको त्याग करके श्रीआचार्योंकी आज्ञानुकूल प्रवर्ते और कमसे कम प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशीको (जो पर्वके दिन हैं) अवश्य ही विधिपूर्वक तथा भावसहित उपवास किया करें। साथ ही इस बातचो अपने हृदयमें जमा लेवें कि उपवासके दिन अथवा उपवासकी अवधि तक व्रतीको कोई भी गृहस्थीका धंधा वा शरीरका शृंगारादि नही करना चाहिए। उस दिन समस्त गृहस्थारंभको त्याग करके पंच पापोंसे विरक्त होकर अपने शरीरादिकसे ममत्व-परिणाम तथा रागभावको घटाकर और अपने पांचों इन्द्रियोंके विषयों तथा क्रोध, मान, मायादि कषायोंको वशमें करके एकान्त स्थान अथवा श्रीजिनमन्दिर आदिमें बैठकर शास्त्रस्वाध्याय, शास्त्रश्रवण, सामायिक, पूजन-भजन आदि धर्मकार्योंमें कालको व्यतीत करना चाहिए। निद्रा कम लेनी चाहिए, आर्त-रौद्रपरिणामोंको अपने पास नहीं आने देना चाहिए, हर समय प्रसन्न-वदन रहना चाहिए और इस बातको याद रखना चाहिए कि शास्त्र-स्वाध्यायादि जो कुछ भी धर्मके कार्य

किये जावें वे सब रुचिपूर्वक और भावसहित होने चाहिये। कोई भी धर्मकार्य बेदिली, ज़ाब्तापूरी या अनादरके साथ नहीं करना चाहिये और न इस बातका खयाल तक ही आना चाहिए कि किसी प्रकारसे यह दिन शीघ्र ही पूरा हो जावे; क्योंकि बिना भावोंके सर्व धर्म-कार्य निरर्थक हैं। जैसा कि आचार्योंने कहा है :—

भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव॥

'जो मनुष्य विना भावके पूजादिक, तप, दान और जपादिक करता है अथवा दीक्षादि ग्रहण करता है उसके वे सब कार्य बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनोंके समान निरर्थक हैं।'

अर्थात्—जिस प्रकार बकरीके गलेके स्तन निरर्थक हैं, उनसे दूध नहीं निकलता, वे केवल देखने मात्रके स्तन हैं, उस ही प्रकार विना तदनुकूल भाव और परिणामके पूजन, तप, दान उपवासादि समस्त धार्मिक कार्य केवल दिखावामात्र हैं—उनसे कुछ भी धर्म-फलकी सिद्धि अथवा प्राप्ति नहीं होती।

६

हमारी यह दुर्दशा क्यों ?

एक समय था जब यह भारतवर्ष अपने उत्कर्ष पर था, अन्य देशोंका गुरु बना हुआ था, सब प्रकारसे समृद्ध था और स्वर्गके समान समझा जाता था। यहाँ पर हजारों वर्ष पहलेसे आकाशगामिनी विद्याके जानकार, दिव्य विमानों-द्वारा आकाशमार्गको अवगाहन करनेवाले, वैक्रियक आदि ऋद्धियोंके धारक और अपने आत्मबलसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालोंका हाल प्रत्यक्ष जाननेवाले विद्यमान थे। भारतकी कीर्ति-लता दशों दिशाओंमें व्याप्त थी। उसका विज्ञान, कला-कौशल और आत्मज्ञान अन्य समस्त देशोंके लिये अनुकरणीय था। उसमें जिधर देखो उधर प्रायः ऐसे ही मनुष्योंका सद्भाव पाया जाता था जो जन्मसे ही दृढाङ्ग, निरोगी और बलाढ्य थे; स्वभावसे ही जो तेजस्वी, मनस्वी और पराक्रमी थे; रूप और लावण्यमें जो स्वर्गों-के देव-देवाङ्गनाओंसे स्पर्धा करते थे; सर्वाङ्ग सुन्दर और सुकुमार शरीर होनेपर भी वीररससे जिनका अङ्ग-अङ्ग फड़कता था; जिनकी वीरता धीरता और दृढ़ प्रतिज्ञताकी देव भी प्रशंसा किया करते थे; जो कायरता, भीरुता और आलस्यको घृणाकी दृष्टिसे देखा करते थे; आत्मबलसे जिनका चेहरा दमकता था; उत्साह जिनके रोम-रोमसे स्फुरायमान था; चिन्ताओंमें जो अपना आत्म-समर्पण करना नहीं जानते थे; जन्मभरमें शायद कभी जिनको रोगका दर्शन होता हो;

जो सदैव अपने धर्म-कर्ममें तत्पर और पापोंसे भयभीत थे; जिनको पद-पद पर सच्चे साधुओंका सत्सङ्ग और सदुपदेश प्राप्त था; जो तनिकसा निमित्त पाकर एकदम समस्त सांसारिक प्रपंचोंको त्यागकर वनोवासको अपना लेते थे और आत्मध्यानमें ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि अनेक उपसर्ग तथा परीषहोंके आने पर भी चलायमान नहीं होते थे; जो अपने हित-अहितका विचार करनेमें चतुर तथा कला-विज्ञानमें प्रवीण थे और जो एक दूसरेका उपकार करते हुए परस्पर प्रीति-पूर्वक रहा करते थे।

परन्तु खेद ! आज भारत वह भारत नहीं है। आज भारतवर्ष-का मुख समुज्ज्वल होनेके स्थानमें मलिन तथा नीचा है ! आज वही भारत परतन्त्रताकी बेड़ियोंमें जकड़ा हुआ है और दूसरोंका मुंह ताकता है ! आज भारतका वह समस्त विज्ञान और वैभव स्वप्नका साम्राज्य दिखाई पड़ता है ! और आज उसी भारतवर्षमें हमारे चारों तरफ प्रायः ऐसे ही मनुष्योंकी सृष्टि नजर आती है जिनके चेहरे पीले पड़ गये हैं, १२-१३ वर्षकी अवस्थासे ही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ हो गये हैं; जिनकी आँखे और गाल बैठ गये हैं; मुंहपर जिनके हवाई उड़ती हैं, होठोंपर हरदम जिनके खुश्की रहती है; थोड़ासा बोलनेपर मुख और कंठ जिनका सूख जाता है हाथ और पैरोंके तलुओंसे जिनके अग्नि निकलती है; जिनके पैरोंमें जान नहीं और घुटनोमें दम नही, जो लाठीके सहारेसे चलते है और ऐनकके सहारेसे देखते हैं; जिनके कभी पेटमें दर्द है तो कभी सिरमें चक्कर; कभी जिनका कान भारी है तो कभी नाक, आलस्य जिनको दबाये रहता है, साहस जिनके पास नही फटकता, वीरता जिनको स्वप्नमें भी दर्शन नहीं देती; जो स्वयं अपनी छायासे आप डरते हैं; जिनका तेज नष्ट हो गया है; जो इन्द्रियोंकी विजय नहीं जानते; विषय-सेवनके लिये जो अत्यंत आतुर रहते है परन्तु बहुत कुछ स्त्री-प्रसंग करने पर भी संयोग-सुखका वास्तविक आनन्द जिनको प्राप्त

नहीं होता; प्रमेहसे जिनका शरीर जर्जर है; इश्तहारी दवाओंकी परीक्षा करते करते जिनका चित्त घबरा उठा है; हकीमों, वैद्यों और डाक्टरोंकी दवाई खाते खाते जिनका पेट अस्पताल और औषधालय बन गया है; परन्तु फिरभी जिनको चैन नहीं पड़ता; जिनके विचार शिथिल हैं; जो अपने आत्माको नहीं पहचानते और अपना हित नहीं जानते; स्वार्थने जिनको अन्धा बना रक्खा है, परस्परके ईर्षा और द्वेषने जिनको पागल बना दिया है; विज्ञानसे जिनको डर लगता है; पापमयी जिनकी प्रवृत्ति है और चिन्तारूपी ज्वालाओंसे जिनका अन्तःकरण दग्ध रहता है !!!

इसीसे आजकल हमारे अधिकांश भारतवासियोंके हृदयोंमें प्रायः इस प्रकारके प्रश्न उठा करते हैं और कभी कभी अपने इष्ट मित्रादिकोंसे वे इस प्रकारका रोना भी रोया करते हैं कि–हमारी शारीरिक अवस्था ठीक क्यों नहीं ? हमारा दिल, दिमाग तथा जिगर (यकृत-Liver) ठीक काम क्यों नही करता ? हमारे नेत्रोंकी ज्योति कैसे मन्द है ? कानोंसे हमको कम क्यों सुनाई देता है ? तनिकसा परिश्रम करनेपर हमारे सिरमें चक्कर क्यों आने लगता है ? हम क्यों घुटनों पर हाथ धरकर उठते और बैठते हैं ? थोड़ीसी दूर चलने या ज़रासी मेहनतका काम करनेपर हम क्यों हाँपने लगते हैं ? हमारा उदर भोजनका पाक ठीक तौरसे क्यों नहीं करता ? क्यों हमेशा कब्ज (Constipation) और बदहजमी (अजीर्णता-Dyspepsia) हमको सताती रहती है ? क्यों चूरन व गोली वगैरहका फ़िकर हरदम हमारे सिर पर सवार रहता है ? हमारा हृदयस्थल व्यर्थकी चिन्ताओं और झूठे संकल्प-विकल्पोंकी रङ्गभूमि क्यों बना रहता है ? क्यों अनेक प्रकारके रोगोंने हमारे शरीरमें अड्डा जमा रक्खा है ? हमारा स्वास्थ्य ठीक क्यों नही हो पाता ? किसी कार्यका आरम्भ करते हुए हमें डर क्यों लगता है ? कार्यका आरम्भ कर देने पर भी हम क्यों निष्कारण उसे झटसे छोड़ बैठते हैं ? हममें हिम्मत, उत्साह और

कार्य-पटुताका संचार क्यों नहीं होता ? क्यों हमारे हृदयसे धार्मिक विचारोंकी सृष्टि उठती जाती है ? हम विषयोंके दास क्यों बनते जाते हैं? क्यों हम अपने पूर्वज-ऋषि मुनियोंकी तरह आत्मध्यान करनेमें समर्थ नहीं होते ? क्यों अपने प्राचीन गौरवको भुलाये जाते हैं ? और क्यों हम स्वार्थत्यागी बनकर परोपकारकी ओर दत्त-चित्त नहीं होते ? इत्यादि।

परन्तु इन सब प्रश्नों अथवा 'हमारी यह दुर्दशा क्यों?' इस केवल एक ही प्रश्नका वास्तविक और संतोषजनक उत्तर जब उनको प्राप्त नहीं होता अथवा यों कहिये कि जब इन दुर्दशाओंसे छुटकारा पानेका सम्यक् उपाय उन्हें सूझ नही पड़ता तो वे बहुत ही खेदखिन्न होते हैं—कभी कभी वे निराश होकर अपने निःसार जीवनको धिक्कारते हैं, अपने आपको दोष देने लगते हैं और कोई कोई हत-भाग्य तो यहाँ तक हताश हो बैठते हैं कि उनको मरणके सिवाय और कोई शरण ही नज़र नहीं आता, और इसलिए वे अपना अपघात तक कर डालते हैं ! बहुतसे मनुष्य विपरीत श्रद्धामें पड़कर बारहों महीने दवा खाते खाते अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर देते हैं ! उनके मनोरथका पूरा होना तो दूर रहा, उनको प्रकट होने तकका अवसर नहीं मिलता ! वे उठ उठकर हृदयके हृदयमें ही विलीन हो जाते हैं ! मरते समय उन असिद्ध मनोरथोंकी याद (स्मृति) उन्हें कैसा बेचैन करती होगी और अपने मनुष्य-जन्मके व्यर्थ खोजानेका उनको उस वक्त कितना अफ़सोस तथा पश्चाताप होता होगा, इसकी कल्पना सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं।

ऊपरके इस वर्णन एवं चित्रणपरसे पाठक इतना तो सहजमें ही जान सकते हैं कि हमारे भारतवासी आजकल कैसी कैसी दुःखावस्थाओंसे घिरे हुए हैं—प्रमाद और अज्ञानने उनको कैसा नष्ट किया है। वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो इन समस्त दुःखों और दुर्दशाओंका कारण शारीरिक निर्बलता है। निर्बल शरीरपर सहजमें ही

रोगोंका आक्रमण हो जाता है, निर्बलता समस्त रोगोंकी जड़ मानी गई है—'एक कमजोरी हजार बीमारी' की कहावत प्रसिद्ध है। जब हमारा शरीर कमज़ोर है तो हमारे विचार कदापि दृढ नहीं हो सकते; जब हमारे विचार दृढ नहीं होंगे तो हम कोई भी काम पूर्ण सफलता के साथ सम्पादन नहीं कर सकेंगे,हमारा चित्त हरवक्त डावाँडोल रहेगा तथा व्यर्थकी चिन्ताओंका नाट्यघर बना रहेगा और इन व्यर्थकी चिन्ताओंका नतीजा यह होगा कि हमारा कमज़ोर दिमाग़ और भी कमज़ोर होकर हमारी विचारशक्ति नष्ट हो जावेगी और तब हम हित-अहितका सम्यग्विचार करनेकी योग्यताके न रहनेसे यद्वा तद्वा प्रवृत्ति कर अपना सर्वनाश कर डालेंगे।

यही कारण है कि प्राचीन ऋषियोंने शारीरिक बलको बहुत मुख्य माना है। उन्होंने लिखा है कि जिस ध्यानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है वह उत्तम ध्यान उसी मनुष्यके हो सकता है जिसका संहनन उत्तम हो—अर्थात् जिसका शरीर खास तौरसे (निर्दिष्ट प्रकारसे) मजबूत और बज्रका बना हुआ हो। इसी लिये उन्होंने इस शारीरिक बलकी रक्षाके लिये मुख्यतासे ब्रह्मचर्यका उपदेश दिया है और सबसे पहला—अर्थात् गृहस्थाश्रमसे भी पूर्वका—आश्रम 'ब्रह्मचर्याश्रम' कायम किया है। साथ ही वैद्यक शास्त्रके नियमोंको पालन करनेका आदेश भी दिया है, और इन नियमोंको इतना उपयोगी तथा ज़रूरी समझा है कि उनको धार्मिक नियमोंमें गर्भित कर दिया है, जिससे मनुष्य-उन्हें धर्म और पुण्यका काम समझकर ही पालन करें। वास्तवमें महर्षियोंका यह काम बड़ी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्तासे सम्बन्ध रखता है। वे अच्छी तरहसे जानते थे कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' 'धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्'—अर्थात् धर्म-साधनका ही नहीं किन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ऐसे चारों ही पुरुषार्थोंके साधनका सबसे प्रथम और मुख्य कारण शरीर है। शरीरके स्वस्थ और बलाढ्य हुए बिना किसी भी पुरुषार्थका साधन

नहीं बन सकता और पुरुषार्थका साधन किये बिना मनुष्यका जन्म बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनों (थनों)के समान निरर्थक है। ऐसी स्थितिमें जो मनुष्य अपने शरीरकी रक्षाके लिये उक्त नियमोंका पालन करता है वह वास्तवमें धर्मका कार्य करता है और उससे अवश्य उसको पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है। हम लोगोंने ऋषियोंके वाक्योंका महत्त्व नहीं समझा और न यह जाना कि शरीरका बली-निर्बली तथा स्वस्थ-अस्वस्थ होना प्रायः सब आहार-विहार पर निर्भर है और आहार-विहार-सम्बन्धी जितनी चर्या है वह सब प्रायः वैद्यकशास्त्रके आधीन है। इसीलिये हम अपने आपको सबसे पहले ब्रह्मचर्याश्रममें नहीं रखते हैं—एक खास अवस्था तक ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करते हैं—बल्कि उसका निर्मूल करनेके लिये यहाँ तक उद्यत रहते हैं कि छोटीसी अवस्थामें ही बच्चोंका विवाह कर देते हैं! यही कारण है कि हम योग्य आहार-विहार करना नहीं जानते, और यदि जानते भी हैं तो प्रमाद या लापर्वाहीसे उसके अनुसार प्रवर्तन नहीं करते।

उदाहरणके तौर पर, बहुतसे मनुष्य इस बातको तो जानते हैं कि यदि हम कोई हाड़ी चूल्हे पर चढ़ावें और उसमें थोड़ेसे चावल पकनेके लिये डाल देवें, और फिर थोड़ीसी देरके बाद उसमें और कच्चे चावल डाल देवें, उससे पीछे गेहूँ डाल देवें, उससे कुछ काल पश्चात् कच्चे चने डाल देवें, और उस सेभी कुछ समय बाद फिर कच्चे चावल या और कोई वस्तु डाल देवें और उनमेंसे किसीका भी पाक पूरा होनेका अवसर न आने देकर दूसरी दूसरी वस्तु उसमें डालते रहें तो कदापि उस हांडीका पाक ठीक तथा कार्यकारी न होगा। परन्तु यह जानते हुए भी खाने-पीनेके अवसरों पर कुछ ध्यान नहीं रखते—जो वस्तु जिस समय मिल जाती है उसको उसी समय चट कर जाते हैं—इस बातका कुछ विचार नहीं करते कि पहलेका खाया हुआ भोजन हजम होचुका है या कि नहीं? परिणाम जिसका

यह होता है कि खाया-पीया कुछ भी शरीरको नहीं लगता और अनेक प्रकारके अजीर्णादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जो कभी कभी बड़ी भयंकरता धारण कर लेते हैं और प्राण ही लेकर छोड़ते हैं। अंग्रेज लोग प्राय: नियमपूर्वक ठीक और नियत समयपर भोजन करते हैं, अपने डाक्टरोंकी आज्ञाको बड़े आदरके साथ शिरोधार्य करते हैं और बड़े यत्नके साथ स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंका पालन करते हैं; यही वजह है कि उनको रोग बहुत कम सताते हैं और वे प्राय: हृष्ट पुष्ट तथा बलिष्ठ बने रहते हैं। हम लोगोंने वैद्यकशास्त्रमें निष्णात वाग्भट्ट जैसे वैद्यराजोंके वाक्योंकी अवज्ञा की--न उनको पढा और न तदनुसार आचरण किया--और स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंसे उपेक्षा धारण की। उसीका यह फल हुआ कि भारतवर्षमें निर्बलताने अपना अड्डा जमा लिया और हम दिन पर दिन निर्बल तथा निस्तेज होकर प्राय. किसी भी कार्य करनेके योग्य न रहे।

हमारी इस निर्बलताके संक्षेपसे चार कारण कहे जा सकते है :-- पहला पैतृक निर्बलता अर्थात् माता और पिताके शरीरका निर्बल होना, दूसरा स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंसे उपेक्षा धारण करना; तीसरा बाल्यावस्थामें अनेक खोटे मार्गोंसे कच्चे वीर्यका स्खलित होना;और चौथा अच्छी खुराक (Food भोज्य) का न मिलना। इन कारणोंमें यद्यपि पहला कारण, जिसकी उत्पत्ति भी अन्य तीन कारणोंसे ही है, हमारे आधीन नहीं है--अर्थात् माता-पिताकी शारीरिक निर्बलतामें उनकी भावी सन्तान कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकती, उनके शरीर में उसका असर अवश्य आता है; परन्तु इससे हमारी प्राय: कुछ हानि नहीं हो सकती यदि हम अन्य तीन कारणोंको अपने पास फटकने न देवें और विधिपूर्वक अच्छे पौष्टिक पदार्थोंका बराबर सेवन करते रहें। ऐसा करनेसे हमारी जन्मसे प्राप्त हुई सब निर्बलता नष्ट हो जावेगी, और हम आगामीके लिये अपनी सन्तानको इस प्रथम कारण-जनित व्यर्थकी पीड़ासे सुरक्षित रखनेमें समर्थ हो सकेंगे।

दूसरे कारणकी बाबत ऊपर संकेत रूपमें बहुत कुछ कहा जा चुका है और यह विषय ऐसा है कि जिस पर बहुत कुछ लिखा जासकता है। परंतु यहाँपर संक्षेपमें मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि स्वास्थ्य-रक्षाके नियम हम लोगोंको दृढताके साथ पालन करने चाहिये और सर्व-साधारणको उन नियमोंका ज्ञान कराने तथा उन नियमोंका पालन करनेकी प्रेरणा करनेके लिये वैद्यकशास्त्रोंको मथनकर आहार-विहार-सम्बन्धी अत्यंत सरल पुस्तके तय्यार कराकर सर्वसाधारणमें निःस्वार्थ भावसे उनका प्रचार करना चाहिए। यदि वाग्भट्टजीके निम्न श्लोक-की छोटी बडी टीकाएँ कराकर अथवा अन्य आहार-विहार तथा पूर्ण दिनचर्या-सम्बन्धी पुस्तके तय्यार कराकर स्कूलोंमें भरती कराई जावें तो उनसे बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। वह श्लोक यह है—

कालाऽर्थ-कर्मणां योगा हीन-मिथ्या-ऽतिमात्रिकाः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोग्याऽऽरोग्यैक कारणम् ॥

इसका सामान्य अर्थ इतना ही है कि—'कालका हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग; अर्थ (पदार्थ) का हीनयोग, मिथ्या-योग तथा अतियोग; कर्म (क्रियादि) का हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग, ये सब रोगोंके प्रधान कारण है, और इन काल, अर्थ तथा कर्मका सम्यक्योग आरोग्यका प्रधान कारण हैं।' परन्तु काल, अर्थ और कर्मका वह हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग और सम्यक्योग क्या है, उसे टीकाओ द्वारा सप्रमाण स्पष्ट करके बतलानेकी जरू-रत है, जिससे तद्विषयक ज्ञान विकासको प्राप्त होवे और जनताको संयोग-विरुद्धादिके रूपमें अपनी मिथ्याचर्याका भान हो सके।

तीसरा कारण यद्यपि दूसरे कारणकी ही एक शाखा है और उसीकी व्याख्यामें आता है, फिर भी उसपर खासतौरसे दृष्टि रखने-की जरूरत है। बहुतसे बालक अपनी अज्ञानतासे बचपनकी अत्यंत निन्दनीय खोटी प्रवृत्तियों (Self destroying habits) में फँसकर हमेशाके लिये अपना सर्वनाश कर डालते हैं और फिर सार

उम्र हाथ मल मलकर पछताते हैं,इसलिये माता-पिताकी इस विषय-में बालकों पर कड़ी दृष्टि रहनी चाहिये और उनको किसी न किसी प्रकारसे ऐसी शिक्षा देनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे बालक इस प्रकारकी खोटी प्रवृत्तियोंमें पड़ने न पावें। अधिकांश माता-पिता इस ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते और उनकी यह उपेक्षा विचारे हिताऽहित-ज्ञान-शून्य बालकोंके लिये विषका काम देती है, जिसका पाप-भार माता पिताओंकी गर्दन पर होता है। अतः माता-पिताओं-को इस विषयमें बहुत सावधान रहना चाहिये और छोटी अवस्थामें तो बच्चोंका विवाह भूल कर भी नहीं करना चाहिये; बल्कि उनको कमसे कम २० वर्षकी अवस्था तक ब्रह्मचर्याश्रममें रखना चाहिये, और यही काल उनके विद्याध्ययनका होना चाहिये। इसके पश्चात् यह उनकी इच्छा रही कि वे चाहे और विद्याध्ययन करें या विवाह कराकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करें।

चौथा कारण सबमें प्रधान है, अच्छी खुराकका न मिलना निर्ब-लताको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करनेवाला है। जब अच्छी खुराक अथवा उत्तम भोज्य पदार्थोंकी प्राप्ति ही नहीं होगी तो केवल स्वास्थ्य-रक्षा-के नियमोंके जाननेसे ही क्या लाभ हो सकता है? वैद्यक-शास्त्र हमें किसी वस्तुकी उपयोगिता-अनुपयोगिताको बतलाता है; परंतु किसी उपयोगी पदार्थकी प्राप्ति करा देना उसका काम नहीं। यह हमारा काम है कि हम उसका प्रबन्ध करें। इसलिये स्वास्थ्यरक्षाके नियम भी उस वक्त तक पूरी तौरसे नहीं पल सकते जब तक कि हमारे लिए अच्छी खुराक मिलने का प्रबन्ध न होवे। वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो मनुष्यके शरीरका सारा खेल उसके भोजन पर निर्भर है। अच्छे और श्रेष्ठ भोजनसे मनुष्यका शरीर सुन्दर, निरोगी एवं बलाढ्य बनता है और मनुष्यके हृदयमें उत्तम विचारोंकी सृष्टि होती है। विपरीत इसके, बुरे अथवा निकृष्ट भोजनसे मनुष्यका शरीर

रोगाक्रान्त एवं निर्बल तैयार होता है और उसमें प्रायः छोटे तथा हीन विचार ही उत्पन्न होते हैं। अच्छी खुराक वह वस्तु है कि जिसके प्रभावसे अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुई निर्बलताका भी सहज ही में संशोधन हो जाता है। इसीके प्रभावसे रोगोंके आराम होनेमें भी बहुत कुछ सहायता मिलती है।

हम लोग कुछ तो जन्मसे ही निर्बल पैदा हुए, कुछ बचपनकी गलतकारियों—अयोग्य प्रवृत्तियों—एवं स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंको न पालन करनेने हमको निर्बल बनाया, और जो कुछ रहा सहा बल था भी, वह अच्छी खुराकके न मिलनेसे समाप्तिको पहुँच गया! हम लोगोंकी सबसे अच्छी खुराक थी घी और दूध, वही हमको प्राप्त नही होती। इधर हम लोगोंने गोरस-प्राप्ति और उसके सेवनकी विद्याको भुला दिया, उधर धर्म-कर्म-विहीन अथवा मानवतासे रिक्त निर्दय मनुष्योंने घी-दूधकी मैशीन-स्वरूप प्यारी गौओंका वध करना आरम्भ कर दिया और प्रतिदिन अधिकसे अधिक संख्यामें गोवंशका विनाश होता रहनेसे घी-दूध इतना अकरा (महँगा) हो गया कि सर्व-साधारणके लिये उसकी प्राप्ति दुर्लभ हो गई! जो घी आजसे कोई १०० वर्ष पहले रुपयेका धड़ी (५ सेर पक्का) और ७५ वर्ष पहले तीन सेरसे अधिक आता था वही घी आज रुपयेका ३ या ४-छटाक आता है और फिर भी अच्छा शुद्ध नहीं मिलता ❀! इसी प्रकार जो दूध पहले पैसे या डेढ पैसे सेर आया करता था वही दूध

❀ मेरे विद्यार्थी जीवन (सन् १८९६ आदि) मे, सहारनपुर बोर्डिङ्ग-हाउसमे रहते हुए, मुझे केवल दो रुपये मासिकका घी भेजा जाता था और वह वजनमे प्राय: साढ़े तीन सेर पक्का होता था। साथ ही इतना शुद्ध, साफ और सुगधित होता था कि उस जैसे घीका आज बाजारमे दर्शन भी दुर्लभ हो गया है। यह भारतकी दशाका कितना उलट-फेर है !!

आज आठ आने, बारह आने अथवा रुपये सेर तक मिलता है और फिर भी उसके खालिस होनेकी कोई गारण्टी नहीं ! ऐसी हालतमें पाठकजन स्वयं विचार सकते हैं कि कैसे कोई घी-दूध खा सकता है और कैसे हम लोग पनप सकते हैं ? भारतवर्षमें आजकल शायद सैकडे पीछे दो या तीन मनुष्य ही ऐसे निकलेंगे जिनको घीसे चुपड़ी रोटी नसीब होती है, शेष मनुष्योंको घी-दूधका दर्शन भी नहीं मिलता और अच्छी तरहसे घी दूधका खाना तो अच्छे अच्छोंको भी नसीब नहीं होता ! फिर कहिये यदि भारतमें निर्बलता अपना डेरा अथवा अड्डा न जमावे तो और क्या करे ?

यहाँपर एक बात और भी उल्लेखनीय है और वह यह कि इस महँगीके कारण बहुतसे स्वार्थी-अविवेकी मनुष्य घीमें चर्बी तथा कोकोजम आदि दूसरी वस्तुएँ मिलाने लगे हैं और दूधमें पानी मिला कर अथवा दूधसे मक्खन निकालकर और कोई प्रकारकी पाउडर उसमें शामिल करके उसे असली दूधके रूपमें बेचने लगे हैं, जिससे हमारा धर्म-कर्म और आचार-विचार नष्ट होनेके साथ-साथ हमारे शरीरमें अनेक प्रकारके नये रोगोंने अपना घर बना लिया है। ऐसे घृणित घी-दूधको खानेवाले शायद यह समझते होंगे कि हम घी-दूध खाते हैं और शायद उनको कभी कभी यह चिंता भी होती हो कि घी-दूध खानेपर भी हम हृष्ट-पुष्ट तथा निरोगी क्यों नहीं रहते ? परन्तु यह सब उनकी बड़ी भूल है। उनको समझना चाहिये कि वे वास्तव में घी-दूध नहीं खाते बल्कि एक प्रकारकी विषैली वस्तु खाते हैं जो उनके स्वास्थ्यको बिगाड़कर शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंको उत्पन्न करनेवाली है । एक बार कलकत्तेके किसी व्यापारीका बहीखाता पकड़ा गया था और उससे मालूम हुआ था कि उसने ५००००) रु० के साँप चर्बीके लिये खरीद किये थे और उनकी चर्बी घीमें मिलाई गई थी !!

हा ! हम लोगोंके यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि जिस चर्बीके नामसे ही हमको घृणा आती थी, जिस चर्बीके दर्शनमात्रसे क़ै (वमन) हो जाती थी और जिस चर्बीके स्पर्शनमात्रसे स्नान करनेकी ज़रूरत होती थी वही चर्बी घीमें मिलकर हमारे पेटमें पहुँच रही है और पूजन-हवनके लिये पवित्र देवालयोंमें जा रही है !! इतने पर भी हम लोग हिन्दू तथा जैनी कहलानेका दम भरते हैं, हमको कुछ भी लज्जा अथवा शरम नहीं आती और न हम इसका कोई सक्रिय प्रतीकार ही करते हैं !! जान पड़ता है हमने कभी इस बात पर गम्भीरताके साथ विचार ही नहीं किया कि पहले इतना सस्ता और अच्छा घी-दूध क्यों मिलता था ? यदि हम विचार करते तो हमें यह मालूम हुए बिना न रहता कि पहले प्रायः सभी गृहस्थी लोग दो-दो चार-चार गौएँ रखते थे, बड़े प्रेमके साथ उनका पालन करते थे, गौ-माताओंको अपना जीवनाधार समझते थे और दूध न देने या रोगी होजाने आदि किसी कारणपर उनको कभी अपनेसे अलग नहीं करते थे, और यदि अलग करनेकी जरूरत ही आ पड़ती थी तो किसी ऐसे भद्र मनुष्यको समर्पण करते थे जो अपनेसे भी अधिक प्रेमके साथ उनको रखने और उनकी प्रतिपालना करनेवाला हो। परिणाम इसका यह होता था कि गौएँ कसाइयोंके हाथमें नहीं जाती थीं, घर घरमें घी-दूधकी नदियाँ बहती थीं और सब लोग आनन्दके साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा हृष्ट पुष्ट बने रहते थे। परंतु आजकल हम लोग ऐसे प्रमादी अथवा जैन्टिलमेन हो गये हैं कि हमने गौओंका पालन करना बिल्कुल छोड़ दिया, हमें प्राणोंकी आधारभूत गौओंका रखना ही भार मालूम होता है और हम यह कहकर ही अपना जी ठंडा कर लेते हैं कि "गाय न बच्छी नींद आवे अच्छी !" उसीका यह फल है कि प्रतिदिन हजारों गौओंके गलेपर छुरी फिरती है, घी-दूध हदसे ज्यादह महँगा हो गया और हम लोग शरीरसे कमज़ोर, कमहिम्मत तथा अनेक प्रकारके रोगोंके

शिकार बने रहते हैं !! ऐसी अवस्थामें हमलोग कैसे अपनी उन्नति या अपने समाज और देशका सुधार कर सकते हैं ? कदापि नहीं।

अतः हम भारतवासियोंको बहुत शीघ्र इस ओर ध्यान देकर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि जिससे बहुलताके साथ उत्तम घी-दूधकी प्राप्ति होती रहे, और उसके लिये सबसे अच्छा उपाय यही है कि सब लोग पहलेकी तरह अपने घरों पर दो-दो चार-चार गौऐं तथा भैंसें रक्खा करें और कदापि उनको किसी ऐसे अविश्वसनीय मनुष्यके हाथ न बेचे जिससे उनके मारे जानेकी सम्भावना होवे। साथ ही, उनके लिये अच्छी चरागाहों का प्रबन्ध करें और गोचर भूमि छोड़ना हर एक अपना कर्तव्य समझे, जिससे चारे घासका कोई कष्ट न रहे और वे प्रायः जंगलसे ही अपना पेट भरकर घर आया करें। इसके अलावा स्थान स्थान पर ऐसे सुव्यवस्थित और विश्वस्त डेयरी फार्मोंका भी प्रबन्ध होना चाहिये, जिससे साधन-विहीनोंको समय पर उचित दामोंमें यथेष्टरूपसे शुद्ध घी-दूध मिल जाया करे। यदि हमने शीघ्र ही इस ओर ध्यान न देकर कुछ भी प्रबन्ध न किया और कुछ दिनों और यही हालत चलती रही तो याद रहे कुछ ही वर्षोंमें वह समय भी निकट आजायगा जब दवाईके लिये भी खालिस (शुद्ध) घी-दूध का मिलना दुर्लभ होजायगा और हम लोगों की और भी वह दुर्दशा होगी कि जिससे हमारी तरफ कोई आंख उठाकर देखना भी पसन्द नहीं करेगा—हम सब प्रकारसे हीन तथा नगण्य समझे जावेंगे। यदि हम भारतवासी सचमुच ही इन (उपर्युक्त) समस्त दुःखों और दुर्दशाओंसे छुटकारा चाहते हैं और हममें अपने हित-अहितका कुछ भी विचार अवशेष है तो हमें उक्त चारों प्रकारकी निर्बलताको दूर करनेका शीघ्रसे शीघ्र प्रयत्न करना चाहिये। ज्योंही हम इस निर्बलताको दूर करनेमें सफल होंगे त्योंही हमें फिरसे इस भारतवर्षमें भीम, अर्जुन, महावीर, बुद्ध, राम, कृष्णादि

ऐसे वीर पुरुषोंके दर्शन होने लगेंगे और हम सब प्रकारसे अपने मनोरथोंको सिद्ध करनेमें समर्थ हो सकेंगे❀।

❀ यह निबन्ध आजसे कोई ५२ वर्ष पहले लिखा गया था और देवबन्द जिला सहारनपुरसे प्रकट होने वाले 'कामधेनु' नामक साप्ताहिक पत्रके ३० सितम्बर सन् १९१० के अंकमें प्रकाशित हुआ था। उस समय घीका भाव रुपयेका प्रायः १० छटाक और दूधका तीन आने सेर-का था। बादको सन् १९४६ में इसे कुछ आवश्यक परिवर्तनों तथा परिवर्धनोंके साथ 'अनेकान्त'की मार्चकी किरणमें प्रकाशित किया गया था। उस समय घी-दूधका ही रोना न था, किन्तु देशमें अन्न तथा दूसरे खाद्य पदार्थोंका भी संकट उपस्थित था। 'अनेकान्त'की उक्त किरणसे ही यह यहाँ उद्धृत किया गया है। आजकी स्थिति और भी ज्यादा खराब है। महँगाई उत्तरोत्तर बढ़ रही है, गौएं तथा अन्य दुधारू पशु पहले से अधिक संख्या में कट रहे हैं जिससे शुद्ध घी-दूध का अभाव होता जा रहा है। ऐसी स्थितिमें हमें बहुत ही सतर्क तथा सावधान होना चाहिये और स्वावलम्बनको अपनाकर सामूहिक प्रयत्नद्वारा उस दोष-पूर्ण परिस्थितिको ही बदल देना चाहिये जिसने हमारी यह सब दुर्दशा कर रक्खी है और करने को तत्पर है।

७

जैनियोंमें दयाका अभाव

इस निबन्धका शीर्षक देखते ही पाठक चौकेंगे और कहेंगे कि यह क्या मामला है ? परन्तु नहीं, चौंकनेकी बात नहीं है । यदि आप धैर्य और शान्तिके साथ विचार करेंगे, तो आपको स्वयं ही उक्त शीर्षककी स यता सहजमें मालूम हो जायगी ।

इसमें कोई सन्देह नहीं, और न इसमें किसी को कुछ आपत्ति हो सकती है कि जैनधर्म ही दया धर्मका सर्वोत्तम रीतिसे प्रतिपादन करनेवाला है । इसी धर्ममें जीवोंकी जातियाँ, जीवोंके भेद-प्रभेद और उनके उत्पत्ति-स्थान आदि बहुत विस्तारके साथ वर्णन किये गये हैं, जिनके जाने बिना वास्तवमें दया धर्मका पालन नहीं हो सकता । जैनियोंके इस सर्वश्रेष्ठ अहिंसा धर्मकी बहुतसे भिन्न धर्मावलम्बी निष्पक्ष विद्वानोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है और इस धर्मका बहुत कुछ आभार और उपकार मानते हुए इस बातको स्वीकार किया है कि, जिस समय इस भारत भूमि पर वैदिक धर्मका अधिक प्रचार था उस समय यहाँ पर घोर रूपसे पशुवध होता था—बेचारे मूक पशु मांस-लोलुपी वा अंधश्रद्धालु मनुष्योंके द्वारा धर्मके व्याजसे यज्ञोंमें होमे जाते थे, घर-घरमें रुधिर और माँसकी कीचड़ मचती थी, लोग इतने निर्दय, स्वार्थपरायण और विवेकशून्य हो गये थे कि मनुष्यों तकको यज्ञमें हवन करते हुए उनका हृदय नहीं

काँपता था ! यह जैनधर्मके प्रचारका ही माहात्म्य है कि अब भारत-का कोई भी धर्म उक्त घोर पापोंको करनेका अनुमोदन नहीं करता है। वैदिक धर्मके शास्त्रोंमें भी अहिंसा वा दया धर्मका उपदेश प्रक्षिप्त हो गया है और इस तरह जैनधर्मके प्रभावसे अहिंसा भारतकी सर्व-प्रिय वस्तु बन गई है।

सुप्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान् पं० बालगंगाधर तिलकने बड़ोदा जैन कान्फ्रेन्समें ३० नवम्बर सन् १६०४ को एक सारगर्भित व्याख्यान दिया था। उसमें उन्होंने कहा था—

"जैनियोंके 'अहिंसा परमो धर्मः' इस उदार सिद्धान्तने ब्राह्मण धर्म पर चिर स्मरणीय छाप (मुहर) मारी है। यज्ञ यागादिकोंमें पशुओंका वध होकर जो यज्ञार्थ पशु-हिंसा की जाती थी वह आजकल नहीं होती है, यही एक बड़ी भारी छाप जैनधर्मने ब्राह्मण धर्म पर मारी है। पूर्वकालमें यज्ञके लिये असंख्य पशुओंकी हिंसा की जाती थी। इसके प्रमाण कालिदासके मेघदूत काव्यसे * तथा और भी अनेक। ग्रन्थोंसे मिलते हैं। रन्तिदेव नामके राजाने जो यज्ञ किया था, उसमें इतना प्रचुर पशुवध हुआ था कि नदीका जल खूनसे लाल हो गया था ! उसी समयसे उस नदीका नाम चर्मण्वती (चम्बल) प्रसिद्ध है। पशुवधसे स्वर्ग मिलता है, इस विश्वासके विषयमें उक्त कथा साक्षी है। इस घोर हिंसाकी ब्राह्मणधर्मसे विदाई हो जानेका श्रेय जैनधर्म-के हिस्सेमें है। ब्राह्मण और हिन्दूधर्ममें मांस-भक्षण और मदिरापान बन्द हो गया, ... यह भी जैनधर्मका प्रभाव है। अहिंसाकी और

---

* मेघदूतके 'आराध्यैनं शरवणभवं' आदि ४७वें श्लोककी संजीवनी टीकामें इस बातका खुलासा यों किया गया है:—

पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य (दशपुरपतेर्महाराज्यस्य) गवालम्भेष्वेकत्र संभूताद्रक्तनिष्पन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदी सस्पन्दे। सा चर्मण्वतीत्याख्यायते इति।

दयाकी विशेष प्रीतिसे लोगोंके हृदय हिंसाके दुष्कर्मोंसे दुखने लगे और उन्होंने आवेशवश स्पष्ट कह दिया कि, जिस वेदमें हिंसाकी आज्ञा है वह वेद हमको मान्य नहीं, जो देव हिंसासे प्रसन्न होते हैं उनकी हमको आवश्यकता नहीं, और जिन ग्रन्थोंमें हिंसाका विधान हो, वे हमसे दूर रहें। दया और अहिंसाकी ऐसी ही प्रशंसनीय प्रीतिने जैनधर्मको उत्पन्न किया है, स्थिर रक्खा है और इसीसे वह चिरकाल तक स्थिर रहेगा। इस अहिंसाधर्मकी छाप जब ब्राह्मणधर्मपर पड़ी और हिन्दुओंको अहिंसा पालनकी आवश्यकता हुई तब यज्ञमें पिष्टपशुका (आटेके पशुका) विधान किया गया *।...."

श्रीयुत पं० मणीलाल नभू भाई द्विवेदी बी.ए. ने 'सिद्धान्तसार' नामक पुस्तकमें लिखा है—

"आश्चर्यकी बात है कि आज जो गौ बहुत पवित्र गिनी जाती है, उसका प्राचीन समयमें यज्ञके लिये मारनेका रिवाज था! ब्राह्मणोंके धर्मको, वेदमार्गको और यज्ञकी हिंसाको खरा धक्का इसी (जैन) धर्मने लगाया है, बुद्धके धर्मको अहिंसाका आग्रह नहीं था। उसने केवल वेदमार्गको ही अस्वीकृत किया था। परन्तु जैन धर्मने महा दयारूप-प्रेमरूप धर्मका प्रचार किया।"

इसी प्रकार विलसन कालेज बम्बईके संस्कृत प्रोफेसर श्रीयुत भड़कमकर महोदयने अपने एक व्याख्यानमें जैनधर्मके विषयमें जो कुछ कहा है उसका सार यह है :—

"यह स्पष्ट है कि वैदिक कालमें यज्ञ-यागादिक कार्य बड़ी क्रूरता से होते थे और यज्ञमें पशुओंका हवन किया जाता था, और यह भी पता लगता है कि उस समय इन क्रूर कर्मोंकी ओरसे लोगोंको विरक्त करनेका भी उद्योग होता था। जिसका फल यह हुआ कि जीवोंके प्रतिनिधि स्वरूप दूसरे पदार्थ हवन करके यज्ञ-क्रिया सम्पादन

---

* जैनमित्र वर्ष ६ अंक ३ से उद्धृत।

करनेकी चर्चा होने लगी और कुछ कालके अनन्तर तो यह जीव-हिंसा एक प्रकारसे बन्द ही हो गई थी। इस श्रेयका अधिकारी जैन-धर्म था। उसके दयामय विचारोंका इतना प्रभाव पड़ा था कि उससे वैदिक धर्मको अपना स्वरूप बदलना पड़ा था और उसे अपनेमें जीवदयाको बलात् स्थान देना पड़ा था। अतएव 'जिन' शब्दका जो जयशील वा विजयवान् अर्थ होता है तदनुसार जैनधर्मने लोगोंपर प्राचीन कालसे विजय प्राप्त किया है और वह आगे भी करेगा, इसमें सन्देह नहीं है।"

इन सब कथनोंसे यह नतीजा निकलता है कि जैनधर्म ही अहिंसा और दयाधर्मका आद्यप्रवर्तक और मूलनायक है। अहिंसा और दया-का असली प्राकृतिक स्वरूप सिवाय जैनधर्मके और किसी भी धर्ममें प्रायः नही पाया जाता है। वास्तवमें हमारे पूर्वज बड़े ही दयालु थे। उनका हृदय बड़ा ही विस्तीर्ण और उदार था। दूसरोंका हित करना ही वे अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे। उनकी दयालुता, उन-की उदारता केवल अपने घर, अपने कुटुम्ब और अपनी जाति तक ही संकुचित न थी, बल्कि सारे विश्वके नर-नारियों, जैनों-अजैनों और पशु-पक्षियों तक निःस्वार्थ भावसे फैली हुई थी। वे महानुभाव यदि किसी प्राणीको मिथ्यात्वदशा व पाप अथवा दुःखावस्थामें देखते थे तो तुरन्त उनका हृदय दयासे भीग जाता था और जिस-तिस प्रकार वे उसका मिथ्यात्व, पाप अथवा दुःख दूर करनेका यत्न करते थे। इसीसे उनको सुख-शान्तिको प्राप्ति होती थी। हजारों मिथ्या-त्वियोंका मिथ्यात्व और लाखों पापियोंका पाप छुड़ाकर उनको सच्चे धर्मकी शरणमें लाना तथा सच्चा मार्ग बताना उन्हींका काम था। उन्ही धर्मवीरों और सत्पुरुषोंका यह प्रभाव है, जो भिन्न धर्माव-लम्बी (अन्यमती) विद्वान् भी आज जैनियोंके दयामय धर्मकी छाप अपने ऊपर स्वीकार करते हैं।

परन्तु जब हम जैनियोंकी वर्तमान दशाको देखते हैं तो हमको

बड़ा दुःख तथा शोक होता है और निःसंकोच-भावसे कहना पड़ता है कि आजकलके जैनियोंमें प्रायः दयाधर्मका अभाव होगया है। जैनी प्रायः इतने हीन, स्वार्थी और संकीर्णहृदय बन गये हैं कि, स्वप्नमें भी कभी दूसरोंका उपकार करनेकी तरंग इनके हृदयमें नहीं उठती है, जैनियोंके सामने ही कोई किसीको सताओ, किसीका दिल दुखाओ, अन्याय करो, अत्याचार करो और कैसा ही पापका काम क्यों न करो; परन्तु इससे उन्हें क्या? जैनियोंके हृदय पर इससे कुछ भी चोट नहीं लगती है। लौकिक स्वार्थने इन लोगोंको इतना अंधा बना दिया है कि दूसरोंके दुःखको ये दुःख ही नहीं समझते हैं, दुखियोंके दुःखमें अपनी सहानुभूति दर्शाना और समवेदना प्रगट करना तो मानों इनकी प्रकृतिके विरुद्ध ही हो गया है। शायद इस प्रकारकी उदासीनताको ही ये लोग वीतरागता मान बैठे हों और इसी सुगम रीतिसे इन्होंने वीतराग पदवीका सर्टिफिकेट मिलना समझ रक्खा हो! अफसोस! और शोक!! जो लोग सबसे ऊँचे चढ़े थे,वे आज ऐसे नीचे आ पड़े! आज जैनियोंने अपना कर्तव्य भुलाकर अपने वंश-गौरव को मिटा दिया! जैनियोंकी वर्तमान हालतको देख कर कौन कह सकता है कि कभी जैनी भी ऐसे परोपकारी और दयावान् थे कि, जो जीवमात्रका कल्याण करनेके लिये सदैव आकुलित रहते थे और उनके रोम-रोम और नस-नसमें प्रतिक्षण परोपकारमय उत्साह की दामिनि दमकती थी! कौन समझ सकता है कि इनके पूर्वज ऐसे स्वार्थत्यागी, उदारचेता, समदृष्टि और निर्निमित्त बन्धु हो गये हैं कि जिन्होंने भील, चाण्डाल, म्लेच्छ और पापीसे पापी मनुष्य ही को नहीं, बल्कि सिंह, व्याघ्र, शूकर, कूकर गृद्ध आदि पशु पक्षियों तक पर दया करके उनको धर्मकी शिक्षा दी थी और उनको जैनधर्म धारण करा कर कल्याणके मार्ग पर लगाया था।

जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीके समवशरणमें

पशु-पक्षी भी धर्मोपदेश सुननेके लिए आते थे। समवशरणकी बारह सभाओंमें पशु-पक्षियोंकी भी एक सभा थी, जिनको महावीर जिनेन्द्र धर्मका उपदेश देते थे। जैनियोंकी वर्तमान ८४ खापें इस बातको प्रगट कर रही हैं कि जैन महर्षि कैसे दयालु निःसीम परोपकारी और धर्मप्रचारक थे कि, जिन्होंने नीच ऊंच किसीभी वर्णके मनुष्य-को जैनी बनानेसे नहीं छोड़ा और किसी भी जीवका हित करनेसे मुँह नहीं मोड़ा।

जिन परोपकारी महात्मा श्रीअकलंकदेवने मृतमांस-भोजी बौद्ध-समूहको वादमें परास्त कर राजा हिमशीतल-सहित हजारों बौद्धोंको जैनी बनाया, उनको आज जैनी अपना पूज्य गुरु मानते हैं और अपनेको उनका अनुयायी बतलाते हैं। परन्तु उनको ऐसा मानते और बतलाते हुए कुछ लज्जा नहीं आती है! क्या जैनियोंकी तरफ-से श्री अकलंकदेवके अनुयायीपनका सूचक कोई प्रयत्न जारी है? गुरुकी अनुकूलता-प्रदर्शक कोई काम हो रहा है? और किसी भी मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी बनाने या सर्व साधारणमें जैनधर्मका प्रचार करनेकी कोई खास चेष्टा की जाती है? यदि यह सब कुछ भी नहीं, तो फिर ऐसे अनुयायीपनसे क्या? खाली गाल बजाने, शेखी मारने और अपनेको उच्च धर्मानुयायी प्रगट करनेसे कुछ भी नतीजा नहीं है। निस्सन्देह 'अकलंकस्तोत्र' के "नाहंकारवशीकृतेन मनसा" इत्यादि वाक्य* में श्री अकलंकदेवकी जिस कारुण्य-बुद्धिका उल्लेख है, उसका आज जैनियोंमें अभाव है। जैनी इस बातको

---

* यह पूरा वाक्य इस प्रकार है:—

नाऽहंकार-वशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धया मया
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनां।
बौद्धौघान् सकलान्विजित्य स घटः पादेन विस्फालितः॥

जानते और मानते हैं कि मिथ्यात्व (अतत्त्वश्रद्धान) के समान और कोई इस जीवात्माका अहित और अनिष्ट करनेवाला विशिष्ट शत्रु नहीं है। इसी अतत्त्वश्रद्धानके कारण यह जीव संसारमें नाना प्रकार के कष्ट, दुःख और सन्ताप भोगता हुआ चतुर्गतिमें भ्रमण करता फिरता है। न कहीं इसको शान्ति मिलती है, न कहीं सुखकी प्राप्ति होती है। वे प्रत्यक्ष इस बातका अनुभव भी कर रहे हैं कि इसी मिथ्याश्रद्धानके कारण संसारमें घोर पापोंकी प्रवृत्ति हो रही है और जगतके जीव अपने पापकर्मोंके फलस्वरूप नाना प्रकारकी दुःखावस्थाओंसे घिरे हुए सविलाप कष्ट भोग रहे हैं। परन्तु फिर भी उन करुणा-पात्रोंपर इन जैनियोंको तनिकभी करुणा नहीं आती है। जैनी किसीभी जीवका मिथ्यात्वादि छुड़ाकर उसको सम्यक् श्रद्धानी, सम्यक्ज्ञानी और सम्यगाचरणी बनानेका कुछ भी प्रयत्न नहीं करते हैं, इससे अधिक कठोर चित्तवृत्ति और क्या हो सकती है? अफ़सोस! जैनी लोग अपने घरोंमें चिल्ला चिल्लाकर यह बात कहते हैं कि जैनधर्म ही जगतके जीवोंका उद्धार करनेवाला है; परन्तु फिर भी वे किसीको जैनधर्मसे अपना उद्धार करनेका अवसर नहीं देते हैं। न तो वे दूसरोंको जैनधर्म बतलाते हैं, न सर्वदेशोंकी सर्वभाषाओंमें अनेक रीतियों और युक्तियोंसे अपने धर्म-ग्रन्थोंको प्रकाशित करके, सर्व साधारणके लिये जैनधर्मकी शिक्षा प्राप्त करनेका मार्ग सुगम करते हैं। इससे प्रगट है कि इनके हृदयोंमें दयाका संचार नहीं है और इसीलिए यह कहना बिल्कुल सत्य है कि आजकल जैनियोंमें दयाका प्रायः अभाव है।

शायद हमारे बहुतसे भोले जैनी केवल हरी और कन्दमूलका त्याग करनेसे ही अपनेको दयावान् समझते हों। परन्तु याद रहे उनका यह लोक-प्रचारसे प्रेरित हुआ अक्रम त्याग केवल बाह्याडम्बर और लोकदिखावाके सिवाय और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। भला जिन लोगोंको पंचेन्द्रिय प्राणियों पर दया नहीं आती, पापियोंका

पाप, अज्ञानियोंका अज्ञान और मिथ्यात्वियोंका मिथ्यात्व छुड़ानेमें जिनकी प्रवृत्ति नहीं होती, जो सप्तव्यसन और पंचपापोंका त्याग नहीं करते, जो अपने भाईयोंको सताने और दुःख देनेमें आगा-पीछा नहीं सोचते और जिनके हृदय छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, अन्याय-द्रोह और वैर-विरोधसे परिपूर्ण हैं, उनके दिलोंमें दृष्टिमें भी न आनेवाले एकेन्द्रिय जीवोंकी रक्षाका भाव होना कब कोई अनुमान कर सकता है ? कदापि नहीं। इसलिए जिन भाईयोंका ऐसा खयाल हो भी, उनको अपना खयाल बदल देना चाहिये और लोक-प्रवाहमें न बह कर बाह्याडम्बर और बनावटको छोड़कर अन्तःशुद्धिकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये और अपने दोषोंका संशोधन-पूर्वक सच्ची दयाको हृदयमें स्थान देकर जिनधर्मकी महिमा प्रकट करनी चाहिए। इसीमें जाति और देशका कल्याण है और इसीसे जैनी अपने उस कलंकको दूर करनेमें समर्थ हो सकते हैं जो अपने पूज्य पुरुषोंकी पवित्र कीर्ति और नामको बट्टा लगानेसे उनके मस्तकपर चढ़ा है।

आशा है हमारे धर्मोपकारी, धर्मवीर और जैनधर्मके सच्चे प्रेमी अब अपनी गाढ़ निद्राको त्यागकर अपने कर्तव्यकी ओर झुकेंगे, अपने भाइयोंकी हालत सुधारेंगे, उनका अज्ञान-प्रमाद दूर करेंगे, उनके हृदयोंमें कारुण्य-जलका स्रोत बहाएँगे, उनसे परोपकार-व्रत धारण कराएँगे और जहाँतक बनेगा पापियों, अज्ञानियों और मिथ्यादृष्टियों पर दया करके उनका पाप, अज्ञान और मिथ्यात्व छुड़ाएँगे। साथ ही श्री अकलंकदेव सरीखी 'कारुण्यबुद्धि' को हृदयमें धारण कर स्वजाति-विजाति, देशी-विदेशी, आर्य-म्लेच्छ और जैनी-अजैनी सब ही प्राणियोंको जिनवचनामृतका पान कराकर—जैनधर्मकी शरण में लाकर—उनका हित-साधन करेंगे और इस प्रकार जैनधर्मके लुप्त-प्राय गौरवको पुनः उज्जीवित करनेमें समर्थ होंगे।

८

जिन-पूजाधिकार-मीमांसा

उत्थानिका

जो मनुष्य जिस मतको मानता है—जिस धर्मका श्रद्धानी और अनुयायी है—वह उसी मत वा धर्मके पूज्य और उपास्य देवताओंकी पूजा-उपासना करता है। परन्तु आजकलके कुछ जैनियोंका खयाल इस सिद्धान्तके विरुद्ध है। उनकी समझमें प्रत्येक जैनधर्मानुयायीको (जैनीको) जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेका अधिकार नहीं है। उनकी कल्पनाके अनुसार बहुतसे लोग जिनेन्द्रदेवके पूजकोंकी श्रेणीमें अवस्थान नहीं पाते। चाहे वे लोग अन्यमतके देवी-देवताओंकी पूजा और उपासना भले ही करें, पर जिनेन्द्रदेवकी पूजा और उपासनासे अपनेको कृतार्थ नहीं कर सकते *। शायद उनका ऐसा श्रद्धान हो कि ऐसे लोगोंके पूजन करनेसे महान् पापका बन्ध होता है और वह पाप शास्त्रोक्त नियमोंका उलंघन करके संक्रामक रोगकी तरह अड़ौसियों-पड़ौसियों, मिलने-जुलनेवालों और खासकर सजातियोंको पिचलता फिरता है। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है और आज

* इसी प्रकारके विचारोंसे खातौली (ज़िला मुज़फ्फ़रनगर) के दस्सा और बीसा जैनियोंके मुकद्दमेका जन्म हुआ और ऐसे ही प्रौढ़ विचारोंसे सर्धना (जिला मेरठ) के जिनमंदिरोंको करीब करीब तीस साल तक ताला लगा रहा !!

इसी भ्रमको दूर करने अर्थात् श्रीजिनेन्द्रदेवके पूजनका किस किसको अधिकार है, इस विषयकी मीमांसा और विवेचना करनेके लिये यह निबन्ध लिखा जाता है ।

पूजन-सिद्धान्त

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा और विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है, वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है । आत्मासे भिन्न और पृथक कोई एक ईश्वर या परमात्मा नहीं है । आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है — अरहंत, जिनेन्द्र, जिनदेव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठि, परमज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर परब्रह्म, इत्यादि उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर हैं—या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि परमात्मा आत्मीय अनन्त गुणोंका समुदाय है । उसके अनन्त गुणोंकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं । वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसको किसीसे राग या द्वेष नहीं है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नहीं होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोंसे अप्रसन्न होता है; धनिक श्रीमानों, विद्वानों और उच्च श्रेणी या वर्णके मनुष्योंको वह प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता और न निर्धन-कंगालों, मूर्खों तथा, निम्नश्रेणीके मनुष्योंको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है; न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन; वह परमानंदमय और कृतकृत्य है सांसारिक झगड़ोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं । इसलिये जैनियोंकी उपासना, भक्ति और पूजा हिन्दू मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं होती । उसका एक दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह संक्षिप्तरूपसे इस प्रकार है :—

'यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त-शक्तियोंका आधार है। परन्तु अनादि-कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं—कर्मोंके पटलसे वेष्टित हैं—और यह आत्मा संसारमें इतना लिप्त और मोह-जालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियों-का विकाश होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नहीं होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि-लाभ होता है, यह जीव उतनेमें ही सन्तुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप समझने लगता है। इन्हीं संसारी जीवोंमेंसे जो जीव, अपनी आत्म-निधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाऽग्निके बलसे, इस समस्त कर्ममलको दूर कर देता है, उसमें आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है तथा 'परमात्मा' कहलाता है। केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जबतक देहका सम्बन्ध बाकी रहता है, तब तक उस परमात्माको सकलपरमात्मा (जीवन्मुक्त) या अरहंत कहते हैं. और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकलपरमात्मा निष्कलपरमात्मा (विदेहमुक्त) या सिद्ध नामसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। वह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्ता-वस्थामें अपनी दिव्यवाणीके द्वारा संसारी जीवोंको उनकी आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है अर्थात् उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोंसे आच्छा-दित है, किस किस उपायसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदा हो सकते हैं, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध है; दुःखका; सुखका और संसारका स्वरूप क्या है; कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि समस्त बातोंका विस्तारके

साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है, जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित-साधन करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगतका निःसीम उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी और निर्निमित्तबन्धु इत्यादि भी नाम हैं। इस महोपकारके बदलेमें हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता प्रगट करें वह सब तुच्छ है। दूसरे जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बनना सब आत्माओंका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे शब्दोंमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिकचरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपनी आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्नतिमें अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय-गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं। अपने आदर्श-पुरुषके गुणोंमें भक्ति और अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो जिस गुणका आदर-सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है, वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदरसत्कार करता है और उससे प्रेम रखता है; क्योंकि गुणीके आश्रय बिना कहीं भी गुण नहीं होता। आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है। इसलिये परमात्मा* इन्हीं

* इन्ही कारणोंसे अन्य वीतरागी, साधु और महात्मा भी,

समस्त कारणोंसे हमारा परमपूज्य उपास्य देव है और द्रव्यदृष्टिसे समस्त आत्माओंके परस्पर समान होनेके कारण वह परमात्मा सभी संसारी जीवोंका समान-भावसे पूज्य है। यही कारण है कि परमात्माके 'त्रैलोक्यपूज्य' और 'जगत्पूज्य' इत्यादि नाम भी कहे जाते हैं। परमात्माका पूजन करने, परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाने और परमात्माका भजन और चिन्तवन करनेसे इस जीवात्माको पापोंसे बचनेके साथ साथ महत्पुण्योपार्जन होता है। जो जीव परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करता, वह अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने आत्मलाभसे वंचित रहता है—इतना ही नहीं, किन्तु वह कृतघ्नता×के दोषसे भी दूषित होता है।

अतः परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना सबके लिये उपादेय और ज़रूरी है।

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था अर्थात् अर्हन्त-अवस्थामें सदा और सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनके आलम्बनस्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोंका प्रतिबिम्ब होती है। उसमें स्थापनानिक्षेपसे मंत्रोंद्वारा परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती

जिनमे आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई हैं और जिन्होंने अपने उपदेश, आचरण और शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है, वे सब हमारे पूज्य हैं।

×अहसान फ़रामोशी या किये हुए उपकारको भूल जाना कृतघ्नता है। "अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्। इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥" —गोम्मटसार-टीका।

है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है, जो ऊपर वर्णन किया गया है; क्योंकि मूर्तिके पूजनसे धातु-पाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है; बल्कि मूर्तिके द्वारा परमात्माहीकी पूजा, भक्ति और उपासना की जाती है। इसीलिये इस मूर्तिपूजनके जिनपूजन, देवार्चन, जिनार्चा, देवपूजा इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा :—

भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः॥

—धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ६, श्लोक ४२

परमात्माकी इस परमशान्त और वीतरागमूर्तिके पूजनमें एक बड़ी भारी खूबी और महत्वकी बात यह है कि जो संसारी जीव संसारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपंचमें अधिक फँसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चंचल हैं और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि जो केवल शास्त्रोंमें परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नक़शे के परमात्मस्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदयमें खींच सकें या परमात्मस्वरूपका ध्यान कर सकें, वे भी उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमें समर्थ हो जाते हैं और उसीसे आगामी दुःखों और पापोंकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें अग्रसर होते हैं।

जब कोई चित्रकार चित्र खींचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादा चित्रोंपरसे, उनको देखदेखकर, अपना चित्र खींचनेका अभ्यास बढ़ाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको वह नहीं खींच सकता। जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है तब कठिन, गहन और रंगीन चित्रोंको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्र-विद्यामें पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती-फिरती,

दौड़ती-भागती वस्तुओंका भी चित्र बड़ी सफ़ाईके साथ बातकी बातमें खींचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके उसका साक्षात् जीता-जागता चित्र भी अंकित कर देता है। उसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता अर्थात् परमात्माका फोटू अपने हृदयपर नहीं खींच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढ़ाता है। मूर्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतरागछवि और ध्यान-मुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनैः शनैः एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फोटू अपने हृदयमें खींचने लगता है और फिर कुछ देर तक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करने पर उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है और वह फिर इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्तिके मूर्तिमान् श्रीअरहंतदेवका समवसरणादि विभूति-सहित साक्षात् चित्र अपने हृदयमें खींचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम रूपस्थध्यान है और यह ध्यान प्रायः मुनि-अवस्थामें ही होता है।

आत्मीय बलके इतना उन्नत हो जानेकी अवस्थामें फिर उसको धातु-पाषाणकी मूर्तिके पूजनादिकी या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिये मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी ज़रूरत बाकी नहीं रहती; बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमें परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोंका चित्र भी खींचने लगता है, जिसको रूपातीतध्यान कहते हैं। इस प्रकार ध्यानके बलसे वह अपनी आत्मासे कर्ममलको छांटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोंको क्षय कर देता है और इस प्रकार आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय इसका यह है कि मूर्तिपूजन आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्रथमावस्था (गृहस्था-

वस्था) में ही होती है; बल्कि दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमें है, उतना उतना ही जियादा उसको मूर्ति पूजनकी या मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी खास जरूरत रक्खी है और नित्य पूजन करना गृहस्थोंका मुख्य धर्म वर्णन किया है।

सर्वसाधारणाऽधिकार

भगवज्जिनसेनाचार्यने श्रीआदिपुराणमें लिखा है :—

दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् ।
धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनाम् ॥ ४१-१०४

अर्थात्—दान, पूजन, व्रतोंका पालन (व्रतानुपालनं शीलं) और पर्वके दिन उपवास करना, यह चार प्रकारका गृहस्थोंका धर्म है।

अमितगतिश्रावकाचारमें श्रीअमितगति आचार्यने भी ऐसा ही वर्णन किया है। यथा.—

दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः ।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ ९-१

श्रीपद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपंचविंशतिकामें, श्रावकधर्मका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ६-७

अर्थात्—देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये षट् कर्म गृहस्थोंको प्रतिदिन करने योग्य हैं। भावार्थ—धार्मिकदृष्टि-से गृहस्थोंके ये सर्वसाधारण नित्यकर्म हैं।

श्रीसोमदेवसूरि भी यशस्तिलकमें वर्णित उपासकाध्ययनमें इन्हीं षट् कर्मोंका, प्रायः इन्हीं (उपर्युल्लिखित) शब्दोंमें गृहस्थोंको उपदेश देते हैं :—

देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ४६-७

गृहस्थोंके लिये पूजनकी आवश्यकताको प्रगट करते हुए श्रीपद्मनन्दि आचार्य फिर लिखते हैं—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥ ६-१५

अर्थात्—जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन और स्तवन नहीं करते हैं उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। इसी आवश्यकताको अनुभव करते हुए श्री सकलकीर्ति आचार्य सुभाषितावलीमें यहाँ तक लिखते हैं:—

पूजां विना न कुर्वीत भोगसौख्यादिकं कदा ।

अर्थात्—गृहस्थोंको बिना पूजनके कदापि भोग और उपभोगादिक नहीं करना चाहिये। सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करना चाहिये।

श्रीधर्मसंग्रहश्रावकाचारमें, गृहस्थाश्रमका स्वरूप वर्णन करते हुए, लिखा है:—

इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा ।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मताः ॥ ६-२६

अर्थात्—इज्या (पूजन), वार्त्ता (कृषिवाणिज्यादि जीवनोपाय) तप, दान, स्वाध्याय, और संयम, इन छह कर्मोंको जो प्रतिदिन करते हैं वे गृहस्थ कहलाते हैं। भावार्थ—धार्मिक और लौकिक, उभयदृष्टिसे ये गृहस्थोंके छह नित्यकर्म हैं। गुरूपास्ति जो ऊपर वर्णन की गई है वह इज्याके अन्तर्गत होनेसे यहाँ पृथक नहीं कही गई।

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणके पर्व ३८ में निम्नलिखित श्लोकों-द्वारा यह सूचित करते हैं कि ये इज्या, वार्त्ता आदि कर्म उपासक सूत्रके अनुसार गृहस्थोंके षट्कर्म हैं। आर्यषट्कर्मरूप प्रवर्त्तना ही गृहस्थोंकी कुलचर्या है, जिसे कुलधर्म भी कहते हैं:—

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्त्तनम्।
गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४४॥

श्रीचामुण्डरायने चारित्रसारमें और विद्वद्वर पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें भी इन्हीं षट्कर्मोंका वर्णन किया है। इन षट्-कर्मोंमें दान और पूजन, ये दो कर्म सबसे मुख्य हैं। इस विषयमें पं० आशाधरजी सागारधर्मामृत(१-१५) में लिखते हैं—

दान-यजन-प्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।

अर्थात्—दान और पूजन, ये दो कर्म जिसके मुख्य हैं और ज्ञानाऽमृतका पान करनेके लिये जो निरन्तर उत्सुक रहता है वह श्रावक है। भावार्थ—श्रावक वह है जो कृषि-वाणिज्यादिको गौण करके दान और पूजन, इन दो कर्मोंको नित्य सम्पादन करता है और शास्त्राध्ययन भी करता है।

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार ग्रन्थमें, इससे भी बढ़कर साफ़ तौरपर यहाँतक लिखते हैं कि बिना दान और पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि ऐसा कोई श्रावक ही नहीं होसकता जिसको दान और पूजन न करना चाहिये।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सोवि ॥ १०॥

अर्थात्—दान देना और पूजन करना, यह श्रावकका मुख्य धर्म है। इसके बिना कोई श्रावक नहीं कहला सकता और ध्यान अध्य-यन करना यह मुनिका मुख्य धर्म है। जो इससे रहित है, वह मुनि ही नहीं है। भावार्थ—मुनियोंके ध्यानाध्ययनकी तरह, दान देना और पूजन करना ये दो कर्म श्रावकोंके सर्व साधारण मुख्य धर्म और नित्यके कर्त्तव्य कर्म हैं।

ऊपरके वाक्योंसे भी जब यह स्पष्ट है कि पूजन करना गृहस्थ

का धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है—बिना पूजनके मनुष्यजन्म निष्फल और गृहस्थाश्रम धिक्कारका पात्र है और बिना पूजनके कोई गृहस्थ या श्रावक नाम ही नहीं पा सकता, तब प्रत्येक गृहस्थ जैनीको नियमपूर्वक अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये, चाहे वह अग्रवाल हो, खंडेलवाल हो या परवार आदि अन्य किसी जातिका; चाहे स्त्री हो या पुरुष; चाहे व्रती हो या अव्रती; चाहे बीसा हो या दस्सा और चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सबको पूजन करना चाहिये। सभी गृहस्थ जैनी हैं, सभी श्रावक हैं, अतः सभी पूजनके अधिकारी हैं।

श्रीतीर्थंकर भगवानकी अर्थात् जिस अर्हन्त-परमात्माकी मूर्ति बनाकर हम पूजते हैं उसके समवसरणमें भी, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या व्रती, क्या अव्रती, क्या ऊंच और क्या नीच, सभी प्रकारके मनुष्य जाकर साक्षात् भगवानका पूजन करते हैं। और मनुष्य ही नहीं, समवसरणमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक भी जाते हैं—समवसरणकी बारह सभाओंमें उनकी भी एक सभा होती है, वे भी अपनी शक्तिके अनुसार जिनदेवका पूजन करते हैं। पूजन-फलप्राप्तिके विषयमें एक मेंढककी कथा सर्वत्र जैनशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। पुण्यास्रव-कथाकोश, महावीरपुराण, धर्मसंग्रहश्रावकाचार आदि अनेक ग्रन्थोंमें यह कथा विस्तारके साथ लिखी है और बहुतसे ग्रन्थोंमें इसका निम्नलिखित प्रकारसे उल्लेखमात्र किया है। यथाः—

> अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
> भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥ रत्नकरंड १२०
> यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः।
> संकल्पतोऽर्पितं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते॥ सागारध० २-२४

कथाका सारांश यह है कि जिस समय राजगृह नगरमें विपुलाचल पर्वतपर हमारे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीका समवसरण आया और उसके सुसमाचारसे हर्षोल्लसित होकर महाराजा

श्रेणिक आनंद भेरीबजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्रीवीर-जिनेन्द्रकी पूजा और वन्दनाको चले, उस समय एक मेंढक भी, जो नागदत्त श्रेष्ठीकी बावड़ीमें रहता था और जिसको अपने पूर्वजन्मकी स्त्री भवदत्ताको देखकर जातिस्मरण हो गया था, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजाके लिये मुखमें एक कमल दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगरके लोगोंके साथ समवसरणकी ओर चल दिया। मार्गमें महा-राजा श्रेणिकके हाथीके पैर तले आकर वह मेंढक मर गया और पूजनके इस संकल्प और उद्यमके प्रभावसे, मरकर सौधर्म स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। फिर वह देव समवसरणमें आया और श्रीगण-धरदेवके द्वारा उसका चरित्र लोगोंको मालूम हुआ। इससे प्रगट है कि समवसरणादिमें जाकर तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं।

समवसरणको छोड़कर और भी बहुतसे स्थानो पर तिर्यंचोंके पूजन करनेका कथन पाया जाता है। पुण्यास्रव और आराधना-सारकथाकोशमें लिखा है कि धाराशिव नगरमें एक बंबी थी, जिसमें श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी रत्नमयी प्रतिमा एक मंजूषेमें रक्खी हुई थी। एक हाथी, जिसको जातिस्मरण होगया था, प्रतिदिन तालाब-से अपनी सूंडमें पानी भरकर लाता और उस बँबीकी तीन प्रद-क्षिणा देकर वह पानी उसपर छोड़ता और फिर एक कमलका फूल चढाकर पूजन करता और मस्तक नवाता था। इस प्रकार वह हाथी श्रावकधर्मको पालता हुआ प्रतिदिन उस प्रतिमाका पूजन करता था। जब राजा करकंडुको यह समाचार मालूम हुआ, तब उसने उस बँबीको खुदवाया और उसमेंसे वह प्रतिमा निकली। प्रतिमाके निकलने पर हाथीने सन्यास धारण किया और अन्तमें वह हाथी मरकर सहस्रारस्वर्गमें देव हुआ। इसी प्रकार तिर्यंचोंके पूजन-संबधमें औरभी अनेक कथाएँ हैं। जब तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते है, तब ऐसा कौन मनुष्य हो

सकता है कि जिसको पूजन न करना चाहिये और जो भावपूर्वक जिनेन्द्रदेवका पूजन करके उत्तम फलको प्राप्त न हो ? अभिप्राय यह है कि, आत्महितचिन्तक सभी प्राणियोंके लिये पूजन करना श्रेयस्कर है। इसलिये गृहस्थोंको अपना कर्तव्य समझकर अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये।

पूजनके भेद

पूजन कई प्रकारका होता है। आदिपुराण, सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें नित्य[1], अष्टान्हिक[2], ऐन्द्रध्वज[3], चतुर्मुख[4], और कल्पद्रुम[5], इसप्रकार पूजनके

१. **नित्यपूजन**का स्वरूप आगे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

२-३. जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि।

अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्या त्वैन्द्रध्वजो महः॥ सागारधर्मा०

अर्थात्—नन्दीश्वर पर्वमें (आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुण इन तीन महीनोंके अन्तिम आठ आठ दिनोंमें) जो पूजन किया जाता है, उसको **अष्टान्हिक** पूजन कहते है और इन्द्रादिकदेव मिलकर जो पूजन करते हैं, उसको **'ऐन्द्रध्वज'** पूजन कहते है।

४ महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामहः।
चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि॥—आदिपुराण
भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते
तदाख्याः सर्वतोभद्र-चतुर्मुख-महामहाः॥—सागारध०

अर्थात्—मुकुटबद्ध (मांडलिक) राजाओंके द्वारा जो पूजन किया जाता है, उसके नाम **'चतुर्मुख'**, **'सर्वतोभद्र'** और **'महामह'** है।

५. दत्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते।
कल्पवृक्षमहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः॥—आदिपुराण
किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः।

पाँच भेद वर्णन किये हैं । वसुनन्दिश्रावकाचार और धर्मसंग्रह-श्रावकाचार नामके ग्रन्थोंमें प्रकारान्तरसे नाम[1], स्थापना[2], द्रव्य[3],

---

चक्रिभि: क्रियते सोऽर्हद्यज्ञ: कल्पद्रुमो मत: ॥—सागारध०

अर्थात्—याचकोको उनकी इच्छानुसार दान देकर जगतकी आशा को पूर्ण करते हुए चक्रवर्ति सम्राट द्वारा जो जिनेन्द्रका पूजन किया जाता है, उसको '**कल्पद्रुम**' पूजन कहते है ।

१ उच्चारिऊण णामं, अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि ।

पुप्फाईणि खिविजंति विण्णेया णामपूजा सा ॥ —वसुनन्दिश्रा०

अर्थात्—अर्हंतादिकका नाम उच्चारण करके किसी शुद्ध स्थानमें जो पुष्पादिकक्षेपण किये जाते है, उसको **नाम**पूजन कहते है ।

२.तदाकार वा अनदाकार वस्तुमें जिनेन्द्रादिके गुणोका आरोपण और सकल्प करके जो पूजन किया जाता है, उसको **स्थापना** पूजन कहते है । स्थापनाके दो भेद है—**१ सद्भावस्थापना** और **१ असद्भावस्थापना** । अरहतोकी **प्रतिष्ठाविधिको 'सद्भावस्थापना'** कहते है । (स्थापना पूजनका विशेष वर्णन जाननेके लिये देखो वसुनन्दि-श्रावकाचार आदि ग्रन्थ) ।

३ दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा ।

दव्वेण गंधसलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ॥

तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण ।

पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा जहाजोग्गं ॥

तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा ।

जा पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥—वसुनन्दिश्राव०

अर्थात्—द्रव्यसे और द्रव्यकी जो पूजाकी जाती है, उसको **द्रव्य-पूजन** कहते है । जलचंदनादिकसे पूजन करनेको **द्रव्यसे** पूजन करना कहते है और **द्रव्यकी** पूजा **सचित्त, अचित्त** तथा **मिश्रके** भेदसे तीन प्रकार है । साक्षात् श्रीजिनेन्द्रादिके पूजनको '**सचित्त द्रव्यपूजन**' कहते

क्षेत्र[4], काल[5] और भाव[6], ऐसे छह प्रकारका पूजन भी वर्णित है।

हैं। उन जिनेन्द्रादिके शरीरो तथा द्रव्यश्रुतके पूजनको '**अचित्त द्रव्य पूजन**' कहते है और दोनोके एक साथ पूजन करनेको '**मिश्रद्रव्यपूजन**' कहते है। द्रव्यपूजनके आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे और भी अनेक भेद है।

४. जिणजणमणिक्खवणणाणुप्पत्ति मोक्खसंपत्ती।
णिमिही सुखेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥—वसुनदिश्रा०

अर्थात्—जिन क्षेत्रोमे जिनेन्द्र भगवानके जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणक हुए है, उन क्षेत्रोमे जलचदनादिकसे पूजन करनेको '**क्षेत्र-पूजन**' कहते है।

५. गर्भादिपचकल्याणमर्हता यद्दिनेऽभवत्।
तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चाऽर्चनम् ॥
स्नपनं क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभि:।
तत्र गीतादिमाङ्गल्य कालपूजा भवेदियम् ॥ धर्मसंग्रहश्रा०

अर्थात्—जिन तिथियोमे अरहंतोके गर्भ-जन्मादिक कल्याणक हुए है, उनमें तथा नन्दीश्वर और रत्नत्रयादिक पर्वोमे जिनेन्द्रदेवका पूजन, इक्षुरस और दुग्ध-घृतादिकसे अभिषेक तथा गीत, नृत्य और जागरणादि मागलिक कार्य करनेको '**कालपूजन**' कहते है।

६. यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम्।
त्रिकालं क्रियते देववन्दना भावपूजनम् ॥
परमेष्ठिपदैर्जाप: क्रियते यत्स्वशक्तित:।
अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्र साप्यर्चा भावपूर्विका ॥
पिंडस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम् ॥ —धर्मसंग्रहश्रा०

अर्थात्—जिनेन्द्रके अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि गुणोंकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके जो त्रिकाल देववन्दान

परन्तु संक्षेपसे पूजनके नित्य और नैमित्तिक, ऐसे दो भेद हैं। अन्य समस्त भेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव है। 'अष्टान्हिक' आदिक चार प्रकारका पूजन नैमित्तिक पूजन कहलाता है और नामादिक छह प्रकारके पूजनोंमें कुछ नित्य,कुछ नैमित्तिक और कुछ दोनों प्रकारके होते हैं। प्रतिष्ठा भी नैमित्तिक पूजनका ही एक प्रधान भेद है। तथापि नैमित्तिक पूजनोंमें बहुतसे ऐसे भी भेद हैं जिनमें पूजनकी विधि प्रायः नित्य पूजनके ही समान होती है और दोनोंके पूजकमें भी कोई भेद नहीं होता; जैसे अष्टान्हिक पूजन और काल पूजनादिक। इसलिये पूजनकी विधि आदिकी मुख्यतासे नित्यपूजन और प्रतिष्ठादिविधान, ऐसे भी दो भेद कहे जाते हैं और इन्हीं भेदोंकी प्रधानतासे पूजकके भी दो ही भेद वर्णन किये गये हैं—एक नित्य पूजन करनेवाला जिसको पूजक कहते हैं और दूसरा प्रतिष्ठा आदि विधान करनेवाला जिसको पूजकाचार्य कहते हैं। जैसा कि पूजासार और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रगट है :—

> पूजकः पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजकः।
> आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः ॥ १६॥
>
> —पूजासार
>
> नित्यपूजा-विधायी यः पूजकः स हि कथ्यते।
> द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥६—१४२॥
>
> —धर्मसंग्रहश्रावकाचार

चतुर्मुखादिक पूजन तथा प्रतिष्ठादि विधान सदा काल नहीं बन सकते और न सब गृहस्थ जैनियोंसे इनका अनुष्ठान हो सकता

की जाती है, उसको तथा शक्तिपूर्वक पचपरमेष्ठिके जाप वा स्तवनको और पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको भावपूजन कहते है। (पिंडस्थादिक ध्यानोंका स्वरूप ज्ञानार्णवादिक ग्रन्थोमे विस्तारके साथ वर्णन किया है, वहाँसे जानना चाहिये।)

है—क्योंकि कल्पद्रुम पूजन चक्रवर्त्ति ही कर सकता है; चतुर्मुख पूजन मुकुटवद्ध राजा ही कर सकते हैं; ऐन्द्रध्वज पूजाको इन्द्रादिक देव ही रचा सकते हैं; इसी प्रकार प्रतिष्ठादि विधान भी खास खास मनुष्य ही सम्पादन कर सकते हैं—इसलिये सर्वसाधारण जैनियोंके वास्ते नित्यपूजनकी ही मुख्यता है । ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्यों आदिके वाक्योंमें 'दिने दिने' और 'अन्वहं' इत्यादि शब्दोंद्वारा नित्यपूजनका ही उपदेश दिया गया है । इसी नित्य पूजन पर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊँच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती राजा, महाराजा, चक्रवर्त्ति और देवता, सबका समान अधिकार है अर्थात् सभी नित्यपूजन कर सकते हैं ।

नित्यपूजनको नित्यमह, नित्याऽर्चन और सदार्चन इत्यादि भी कहते हैं । नित्यपूजनका मुख्य स्वरूप भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें इस प्रकार वर्णन किया है:—

तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति ।
स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥

—अ० ३८, श्लो० २७

अर्थात्—प्रतिदिन अपने घरसे जिनमंदिरको गंध, पुष्प, अक्षतादिक पूजनकी सामग्री ले जाकर जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना है उसको नित्यपूजन कहते हैं । धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भी नित्यपूजनका यही स्वरूप वर्णित है । यथा:—

जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् ।
यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥

—अ० ६ श्लो० २१

प्रतिदिन क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या बालिका, सभी गृहस्थ जन अपने अपने घरोंसे जो बादाम, छुहारा, लौंग, इलायची, या अक्षत (चावल) आदिक लेकर जिनमंदिरको जाते हैं और वहां उस द्रव्यको, जिनेन्द्रदेवादिकी स्तुतिपूर्वक नामादि उच्चारण करके,

जिनप्रतिमाके सन्मुख चढ़ाते हैं, वह सब नित्यपूजन कहलाता है। नित्यपूजनके लिये यह कोई नियम नहीं है कि वह अष्टद्रव्यसे ही किया जावे या कोई खास द्रव्यसे या किसी खास संख्या तक पूजाएँ की जावें; बल्कि यह सब अपनी श्रद्धा, शक्ति और रुचिपर निर्भर है—कोई एक द्रव्यसे पूजन करता है, कोई दोसे और कोई आठोसे; कोई थोड़ा पूजन करता और थोडा समय लगाता है, कोई अधिक पूजन करता और अधिक समय लगाता है; एक समय जो एक द्रव्यसे पूजन करता है वा थोड़ा पूजन करता है दूसरे समय वही अष्टद्रव्यसे पूजन करने लगता है और बहुतसा समय लगाकर अधिक पूजन करता है। इसीप्रकार यह भी कोई नियम नहीं है कि मंदिरजीके उपकरणोंमें और मंदिरजीमें रक्खे हुए वस्त्रोंको पहिनकर ही नित्य पूजन किया जावे। हम अपने घरसे शुद्ध वस्त्र पहिनकर और शुद्ध बर्तनोंमें सामग्री बनाकर मंदिरजीमें ला सकते हैं और खुशीके साथ पूजन कर सकते हैं। जो लोग ऐसा करनेके लिये असमर्थ है या कभी किसी कारणसे ऐसा नहीं कर सकते हैं, वे मंदिरजीके उपकरण आदिसे अपना काम निकाल सकते हैं. इसीलिये मंदिरोंमें उनका प्रबंध रहता है। बहुतसे स्थानोंपर श्रावकोंके घर विद्यमान होते हुए भी कमसे कम दो चार पूजाओंके यथासंभव नित्य किये जानेके लिये, मंदिरोंमें पूजन सामग्रीके रक्खे जानेकी जो प्रथा जारी है, उसको भी आज कलके जैनियोंके प्रमाद, शक्तिन्यूनता और उत्साहाभाव आदिके कारण एक प्रकारका जातीय प्रबंध कह सकते है, अन्यथा, शास्त्रोंमें इस प्रकारके पूजन संबंधमें, आमतौरपर अपने घरसे सामग्री लेजाकर पूजन करनेका ही विधान पाया जाता है; जैसा कि ब्रह्मसूरिकृत् त्रिवर्णाचारके निम्नलिखित वाक्यसे भी प्रगट है:—

ततश्चैत्यालयं गच्छेत्सर्वभव्यप्रपूजितम् ।
जिनादिपूजायोग्यानि द्रव्याण्यादाय भक्तितः ॥

—अ. ४-१६० ।

अर्थात्--संध्यावन्दनादिके पश्चात् गृहस्थ, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रादिके पूजनके योग्य द्रव्योंको लेकर, समस्त भव्यजीवों-द्वारा पूजित श्रीजिनमंदरजी जावे। भावार्थ—गृहस्थोंको जिनमंदरमें पूजनके लिये पूजनोचित द्रव्य लेकर जाना चाहिये। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बिना द्रव्यके मंदिरजीमें जाना ही निषिद्ध है, जाना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि यदि किसी अवस्थामें द्रव्य उपलब्ध नहीं है तो केवल भावपूजन भी हो सकता है। तथापि गृहस्थोंके लिये द्रव्यसे पूजन करनेकी अधिक मुख्यता है। इसीलिये नित्यपूजनका ऐसा मुख्य स्वरूप वर्णन किया गया है।

ऊपर नित्यपूजनका जो प्रधान स्वरूप वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त "जिनबिम्ब और जिनालय बनवाना, जिनमंदिरके खर्चके लिये दानपत्र-द्वारा ग्राम-गृहादिकका मंदिरजीके नाम करदेना तथा दान देते समय मुनीश्वरोंका पूजन करना, यह सब भी नित्यपूजनमें ही दाखिल (परिगृहीत) है।" जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८ के निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है:—

[1]चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाऽर्चनम् ॥२८॥
या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी।
स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥२९॥

श्रीसागारधर्मामृतमें भी नित्यपूजनके सम्बंधमें समग्र ऐसा[2] ही वर्णन पाया जाता है, बल्कि इतना विशेष और मिलता है कि अपने घरपर या मंदिरजीमें [3]त्रिकालदेववंदना—अरहंतदेवकी आराधना—

---

१. इन दोनों श्लोकोंका आशय वही है जो ऊपर अतिरिक्त शब्दके अनन्तर " " के मध्य दिया गया है।

२. आदिपुराणके उक्त श्लोक नं. २७, २८, २९ के अनुसार।

३. आदिपुराणमें पूजनके अन्य चार भेदोंका वर्णन करनेके अनन्तर

करनेको भी नित्यपूजन कहते हैं। यथा:—

> प्रोक्ता नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना।
> पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणम्॥
> भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसंध्याश्रया।
> सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम्॥ २-२५

धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भी 'त्रिसंध्यं देववन्दनम्' इस पदके द्वारा ९वें अधिकारके श्लोक नं. २९ में, त्रिकाल देववन्दनाको नित्यपूजन वर्णन किया है। और त्रिकाल देववन्दना ही क्या, "बलि, अभिषेक (न्हवन) गीत, नृत्य वादित्र आरती और रथयात्रादिक जो कुछ भी नित्य और नैमित्तिकपूजनके विशेष हैं और जिनको भक्त पुरुष सम्पादन करते हैं, उन सबका नित्यादि पंच प्रकारके पूजनमें अन्तर्भाव निर्दिष्ट होनेसे, उनमेंसे जो नित्य किये जाते हैं या नित्य किये जानेको हैं, वे भी नित्यपूजन में समाविष्ट हैं। जैसा कि निम्न-लिखित प्रमाणोंसे प्रगट है:—

> बलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत्।
> भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत्॥
>
> —सागारधर्मा० २-२०

> बलिस्नपनमित्यन्यत्त्रिसंध्यासेवया समम्।
> उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम्॥
>
> —आदिपुराण ३८-३३

ऊपरके इस कथनसे यह भी स्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है कि अपने पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है। पूजा भक्ति, उपासना और सेवा इत्यादि शब्द भी प्रायः एकार्थवाची हैं और उसी एक आशय और भावके द्योतक हैं। इसप्रकार पूजनका

श्लोक नं.३३ में त्रिकाल-देववन्दनाका वर्णन 'त्रिसंध्यासेवया समम्' इस पदके द्वारा किया है।

स्वरूप समझकर किसी भी गृहस्थको नित्यपूजन करनेसे नहीं चूकना चाहिये। सबको आनंद और भक्तिके साथ नित्यपूजन अवश्य करना चाहिये।

शूद्राऽधिकार

यहाँपर, जिनके हृदयमें यह आशंका हो कि, शूद्र भी पूजन कर सकते हैं या नहीं? उनको समझना चाहिये कि जब तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं तब शूद्र, जो कि मनुष्य हैं और तिर्यंचोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं, कैसे पूजनके अधिकारी नहीं हैं? क्या शूद्र जैनी नहीं हो सकते? या श्रावकके व्रत धारण नहीं कर सकते? जब शूद्रोंको यह सब कुछ अधिकार प्राप्त है और वे श्रावकके बारह व्रतोंको धारणकर ऊँचे दर्जेके श्रावक बन सकते हैं और हमेशासे शूद्र लोग जैनी ही नहीं; किन्तु ऊँचे दर्जेके श्रावक (क्षुल्लक) तक होते आये हैं, तब उनके लिये पूजनका निषेध कैसे हो सकता है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके वचनानुसार, जब बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता, और शूद्र लोग भी श्रावक जरूर होते हैं, तब उनके पूजन का अधिकार स्वतः सिद्ध है।

भगवानके समवसरणमें, जहाँ तिर्यंच भी जाकर पूजन करते हैं, वहाँ जिसप्रकार अन्य मनुष्य जाते हैं, उसीप्रकार शूद्रलोग भी जाते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार भगवानका पूजन करते हैं। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें, महावीरस्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए, लिखा है—'समवसरणमें, जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया, तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारों वर्णोंके स्त्रीपुरुषोंने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंने, श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नहीं, किन्तु उनकी पवित्रवाणीका यहाँतक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यंचोंने भी श्रावकके व्रत धारण किये।' इससे, पूजा-वन्दना और

धर्मश्रवणके लिये शूद्रोंका समवसरणमें जाना प्रगट है। शूद्रोंके पूजन-सम्बधमें बहुतसी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पुण्यास्रवकथाकोशमें लिखा है कि 'एक माली (शूद्र) की दो कन्याएं, जिनका नाम कुसुमावती और पुष्पवती था, प्रतिदिन एक एक पुष्प जिनमंदिरकी देहलीपर चढ़ाया करती थीं। एक दिन बनसे पुष्प लाते समय उनको सर्पने काट खाया और वे दोनों कन्याएं मरकर, इस पूजनके फलसे, सौधर्मस्वर्गमें देवी हुईं।' इसी शास्त्रमें एक पशु चरानेवाले नीचकुली ग्वालेकी भी कथा लिखी है, जिसने सहस्रकूट चैत्यालयमें जाकर, चुपकेसे नहीं किन्तु राजा, सेठ और सुगुप्ति नामक मुनिराजकी उपस्थिति (मौजूदगी) में, एक बृहत् कमल श्रीजिनदेवके चरणोंमें चढ़ाया, और इस पूजनके प्रभावसे अगले ही जन्ममें महाप्रतापी राजा करकंडु हुआ यह कथा श्रीआराधनासारकथाकोशमें भी लिखी है। इस ग्रंथमें ग्वालेकी पूजन-विधिका वर्णन इसप्रकार किया है:—

तदा गोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः।
'भोः सर्वोत्कृष्ट! मे पद्मं गृहाणेदमिति' स्फुटम् ॥१५॥
उक्त्वा जिनेंद्रपादाब्जोपरि क्षिप्त्वाशु पंकजम्।
गतो, मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥१६॥

—करकंडुकथा

अर्थात्—जब सुगुप्तिमुनिके द्वारा ग्वालेको यह मालूम हो गया कि सबसे उत्कृष्ट जिनदेव ही हैं तब उस ग्वालेने, श्रीजिनेंद्रदेवके सन्मुख खड़े होकर और यह कहकर कि 'हे सर्वोत्कृष्ट! मेरे इस कमलको स्वीकार करो' वह कमल श्रीजिनदेवके चरणोंपर चढ़ा दिया और इसके पश्चात् वह ग्वाला मंदिरसे चला गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि भला काम (सत्कर्म) मूर्ख मनुष्योंको भी सुखका देनेवाला होता है। इसी प्रकार शूद्रोंके पूजन सम्बन्धमें और भी बहुतसी कथाएं हैं।

कथाओंको छोड़कर जब वर्त्तमान समयकी ओर देखा जाता है, तब भी यही मालूम होता है कि, आज कल भी बहुतसे स्थानोंपर

शूद्रलोग पूजन करते हैं। जो जैनी शूद्र हैं या शूद्रोंका कर्म करते हुए जिनको पीढ़ियाँ बीत गईं, वे तो पूजन करते ही हैं; परन्तु बहुतसे ऐसे भी शूद्र हैं जो प्रगटरूप या व्यवहारमें जैनी न होते या न कहलाते हुए भी किसी प्रतिमा वा तीर्थस्थानके अतिशय (चमत्कार) पर मोहित होने के कारण उन स्थानोंपर बराबर पूजन करते हैं—चांदनपुर (महावीरजी), केसरियानाथ आदिक अतिशय क्षेत्रों और श्रीसम्मेद-शिखर, गिरनार आदि तीर्थस्थानोंपर ऐसे शूद्रपूजकोंकी कमी नहीं है। ऐसे स्थानोंपर नीच ऊँच सभी जातियाँ पूजनको आती और पूजन करती हुई देखी जाती हैं। जिन लोगोंको चैतके मेलेपर चांदनपुर जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, उन्होंने प्रत्यक्ष देखा होगा अथवा जिनको ऐसा अवसर नहीं मिला वे जाकर देख सकते हैं कि चैत्र शुक्ला चतुर्दशीसे लेकर ३-४ दिन तक कैसी कैसी नीच जातियोंके मनुष्य और कितने शूद्र, अपनी अपनी भाषाओंमें अनेक प्रकारकी जय बोलते आनंदमें उछलते और कूदते, मंदिरके श्रीमंडपमें घुस जाते हैं और वहाँपर अपने घरसे लाये हुए द्रव्यको चढाकर तथा प्रदक्षिणा देकर मंदिरसे बाहर निकलते हैं। बल्कि वहाँ तो रथोत्सवके समय यहाँतक होता है कि मंदिरका व्यासमाली, जो चढ़ी हुई सामग्री लेने-वाला और निर्माल्य भक्षण करनेवाला है, स्वयं वीरभगवानकी प्रति-माको उठाकर रथमें विराजमान करता है।

यदि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म (बुरा काम) होता और उस-से उनको पापबन्ध हुआ करता, तो पशुचरानेवाले नीचकुली ग्वाले को कमलके फूलसे भगवानकी पूजा करनेपर उत्तम फलकी प्राप्ति न होती और मालीकी लड़कियोंको पूजन करनेसे स्वर्ग न मिलता। इसीप्रकार शूद्रोंसे भी नीच पद धारण करनेवाले मेंढक जैसे तिर्यंच (जानवर) को पूजनके संकल्प और उद्यम-मात्रसे देवगतिकी प्राप्ति न होती [क्योंकि जो काम बुरा है उसका संकल्प और उद्यम भी बुरा ही होता है अच्छा नहीं हो सकता] और हाथीको, अपनी सूंडमें

पानी भरकर अभिषेक करने और कमलका फूल चढ़ाकर बाँबीमें स्थित प्रतिमाका नित्यपूजन करनेसे, अगले ही जन्ममें मनुष्यभवके साथ साथ राजपद और राज्य न मिलता। इससे प्रगट है कि शूद्रों-का पूजन करना असत्कर्म नहीं हो सकता, बल्कि वह सत्कर्म है। आराधनासारकथाकोशमें भी ग्वालेके इस पूजन-कर्मको सत्कर्म ही लिखा है; जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक नं. १६ के चतुर्थ पदसे प्रगट है।

इन सब बातोंके अतिरिक्त जैनशास्त्रोंमें शूद्रोंके पूजनके लिए स्पष्ट आज्ञा भी पाई जाती है। धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९वें अधि-कारमें लिखा है :—

> यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाऽध्यापने तथा।
> दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम्॥ २२५॥
> यजनाऽध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः।
> जाति-तीर्थ-प्रभेदेन द्विधा ते ब्राह्मणादयः॥ २२६॥

अर्थात् ब्राह्मणोंके पूजन करना पूजन कराना, पढ़ना, पढ़ाना दान देना, और दान लेना ये छह कर्म हैं। शेष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णोंके पूजन करना पढ़ना और दान देना ये तीन कर्म हैं। और वे ब्राह्मणादिक जाति और तीर्थके भेद-से दो प्रकारके हैं। इससे साफ प्रगट है कि पूजन करना जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय, और वैश्योंका धार्मिक कर्म है उसी प्रकार वह शूद्रोंका भी धार्मिक कर्म है।

इसी धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९वें अधिकारके श्लोक नं० १४२ में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके दो भेद वर्णन किये हैं—एक नित्यपूजन करनेवाला जिस को 'पूजक' कहते हैं। और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिस-को 'पूजकाचार्य' कहते हैं। इसके पश्चात् दो श्लोकोंमें, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके, प्रथम भेद अर्थात् पूजकका स्वरूप इस

प्रकार वर्णन किया है :—

> ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः ।
> सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥ १४३ ॥
> जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धुसुहृज्जनैः ।
> गुरूपदिष्टमंत्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः ॥ १४४ ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंमेंसे किसी भी वर्णका धारक, जो दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, इसप्रकार सप्तशील व्रतसे युक्त हो, सत्य और शौचका दृढतापूर्वक (निरतिचार) आचरण करनेवाला—सत्यवान्, शौचवान् और दृढाचारी हो - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाँच अव्रतों (पापों) से रहित हो, जाति और कुलसे पवित्र हो, बन्धु-मित्रादिकसे शुद्ध हो और गुरु उपदेशित मंत्रसे युक्त हो या ऐसे मंत्रसे जिसका संस्कार हुआ हो; वह उत्तम पूजक कहलाता है।

इसीप्रकार पूजासार ग्रन्थमें भी पूजकके उपर्युक्त दोनों भेदोंका कथन करके, निम्न लिखित दो श्लोकोंमें नित्यपूजकका, उत्कृष्टापेक्षा-से प्रायः समस्त यही स्वरूप वर्णन किया है :—

> ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः सुशीलवान् ।
> दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥ १७ ॥
> कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबन्ध्वादिभिः शुचिः ।
> गुरूपदिष्टमंत्राढ्यः प्राणिबाधादिदूरगः ॥ १८ ॥

ऊपरके इन दोनों ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे भली भांति स्पष्ट है कि, शूद्रोंको भी श्रीजिनेंद्रदेवके पूजनका अधिकार प्राप्त है और वे भी नित्य-पूजक होते हैं। साथ ही इसके यह भी प्रगट है कि शूद्र लोग साधारण पूजक ही नहीं, बल्कि ऊंचे दर्जेके नित्यपूजक भी होते हैं।

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ऊपर जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह पूजक मात्रका स्वरूप न होकर, ऊंचे दर्जेके

नित्यपूजकका ही स्वरूप है या उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन किया गया है यह सब किस आधारपर माना जावे ? इसका उत्तर यह है कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारके श्लोक नं.१४४ में जो 'एष' शब्द आया है वह उत्तमताका वाचक है। यह शब्द 'एतद्' शब्दका रूप न होकर एक पृथक् ही शब्द है। वामन शिवराम आप्टे कृत कोशमें इस शब्दका अर्थ अंग्रेजीमें desirable और to be desired किया है। संस्कृतमें इसका अर्थ प्रशस्त प्रशंसनीय और उत्तम होता है। इसी प्रकार पूजासार ग्रन्थके श्लोक नं० २८ में जहाँपर पूजक और पूजकाचार्यका स्वरूप समाप्त किया है वहाँपर, अन्तिम वाक्य यह लिखा है कि 'एवं लक्षणवानार्यो जिनपूजासु शस्यते' (अर्थात् ऐसे लक्षणोंसे लक्षित आर्यपुरुष जिनेन्द्रदेवकी पूजामें प्रशंसनीय कहा जाता है।) इस वाक्यका अन्तिम शब्द 'शस्यते' साफ बतला रहा है कि ऊपर जो स्वरूप वर्णन किया है वह प्रशस्त और उत्तम पूजकका ही स्वरूप है। दोनों ग्रन्थोंमें इन दोनों शब्दोंसे साफ़ प्रगट है कि यह स्वरूप उत्तम पूजकका ही वर्णन किया गया है। परन्तु यदि ये दोनों शब्द (एष और शस्यते) दोनों ग्रन्थोंमें न भी होते या थोड़ी देरके लिये इनको गौण किया जाय तब भी ऊपर कथन किये हुए पूजन-सिद्धान्त, आचार्योंके वाक्य और नित्यपूजनके स्वरूपपर विचार करनेसे यही नतीजा निकलता है कि यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। लक्षणसे इसका कुछ सम्बंध नहीं है। क्योंकि लक्षण लक्ष्यके सर्व देशमें व्यापक होता है। ऊपरका स्वरूप ऐसा नहीं है जो साधारणसे साधारण पूजकमें भी पायाजावे. इसलिये वह कदापि पूजकका लक्षण नहीं होसकता। यदि ऐसा न माना जाय—अर्थात् इसको ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका स्वरूप स्वीकार न किया जावे; बल्कि नित्यपूजक मात्रका स्वरूप वा दूसरे शब्दोंमें पूजकका लक्षण माना जावे तो इससे आजकलके प्रायः किसी भी जैनीको पूजनका अधिकार नहीं रहता; क्योंकि सप्तशीलव्रत और हिंसादिक

पंच पापोंके त्यागरूप पञ्च अणुव्रत, इसप्रकार श्रावकके बारह व्रतोंका पूर्णतया पालन दूसरी (व्रत) प्रतिमामें ही होता है और वर्त्तमान जैनियोंमें इस प्रतिमाके धारक दो चार त्यागियोंको छोड़कर, शायद कोई विरले ही निकलें! इसके सिवाय जैनसिद्धान्तोंसे बड़ा भारी विरोध आता है। क्योंकि जैनशास्त्रोंमें मुख्यरूपसे श्रावकके तीन भेद वर्णन किये हैं:—

१ पाक्षिक २ नैष्ठिक और ३ साधक। श्रावकधर्म जिसका पक्ष और प्रतिज्ञाका विषय है, श्रावकधर्मको जिसने स्वीकार कर रक्खा है और उसपर आचरण करना भी प्रारंभ कर दिया है; परन्तु उस धर्मका निर्वाह जिससे यथेष्ट नहीं होता, उस प्रारब्ध देशसंयमीको 'पाक्षिक' कहते हैं। जो निरतिचार श्रावकधर्मका निर्वाह करनेमें तत्पर है उसको 'नैष्ठिक' कहते हैं और जो आत्मध्यानमें तत्पर हुआ समाधि-पूर्वक मरण साधन करता है उसको 'साधक' कहते हैं*। नैष्ठिक श्रावकके दर्शनिक व्रतिक आदिक ११ भेद हैं जिनको ११ प्रतिमा भी कहते हैं दूसरी प्रतिमावाले व्रतिक श्रावकसे पहली प्रतिमावाला और पहिली प्रतिमावालेसे पाक्षिक श्रावक नीचे दर्जेपर होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि पाक्षिक श्रावक, मूल भेदोंकी अपेक्षा, दर्शनिकसे एक और व्रतिकसे दो दर्जे नीचे होता है अथवा उसको सबसे घटिया दर्जेका श्रावक कहते है। परन्तु शास्त्रोंमें व्रतिकके समान, दर्शनिक हीको नहीं, किन्तु पाक्षिकको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है; जैसा कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार (अ० ५) में निम्नलिखित श्लोकों-द्वारा उनके स्वरूप-कथनसे प्रगट है:—

सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतपालकः।

---

* "पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक्॥ २०॥
—सागारधर्मामृत

अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदं कांक्षी हि पाक्षिकः ॥ ४ ॥

पाक्षिकाचारसम्पत्त्या निर्मलीकृतदर्शनः ।
विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदार्चकः ॥ १४ ॥

मलान्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः ।
न्याय्यां वार्त्तां वपुःस्थित्यै दधद्दार्शनिको मतः ॥ १५ ॥

ऊपरके श्लोकोंमें,'अर्चादिनिरत'(पूजनादिमें तत्पर) इस पदसे, पाक्षिकश्रावकके लिये पूजन करना जरूरी रक्खा है। और 'अर्हदादिपदाऽर्चकः' (अर्हन्तादिकके चरणोंका पूजनेवाला) इस पदसे दर्शनिक श्रावकके लिये पूजन करना आवश्यक कर्म बतलाया है। सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें जिसका अंतिम काव्य,'सैषः प्राथमकल्पिकः . . .' इत्यादि है, पाक्षिकश्रावकका सदाचार वर्णन किया है। उसमें भी, "यजेत देवं सेवेत गुरून् " इत्यादि श्लोकों द्वारा, पाक्षिकश्रावकके लिये नित्यपूजन करनेका विधान किया है। भगवज्जिनसेनाचार्य भी आदिपुराणमें निम्नलिखित श्लोक-द्वारा सूचित करते हैं कि पूजन करना प्राथमकल्पिकी (पाक्षिकी) वृत्ति अर्थात् पाक्षिकश्रावकका कर्म वा श्रावकमात्रका प्रथम कर्म है। यथा :—

एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् ।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥ ३८-३४

यह तो हुई पाक्षिकश्रावककी बात, अब अविरतसम्यग्दृष्टिको लीजिये, अर्थात् ऐसे सम्यग्दृष्टिको लीजिये जिसके किसी प्रकारका कोई व्रत होना तो दूर रहा, व्रत या संयमका आचरण भी अभीतक जिसने प्रारंभ नहीं किया। जैनशास्त्रोंमें ऐसे अव्रतीको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है। प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंसे प्रगट है कि स्वर्गादिकके प्रायः सभी देव, देवांगनासहित,समवसरणादिमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन करते हैं, नन्दीश्वर द्वीपादिकमें जाकर जिनबिम्बोंका अर्चन करते हैं और अपने विमानोंके चैत्यालयोंमें नित्यपूजन

करते हैं। जगह जगह शास्त्रोंमें नियमपूर्वक उनके पूजनका विधान पाया जाता है। परंतु वे सब 'अव्रती' ही होते हैं—उनके किसी प्रकारका कोई व्रत नहीं होता। देवोंको छोड़कर अव्रती मनुष्योंके पूजनका भी कथन शास्त्रोंमें स्थान स्थानपर पाया जाता है। समवसरणमें अव्रती मनुष्य भी जाते हैं और जिनवाणीको सुनकर उनमेंसे बहुतसे व्रत ग्रहण करते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए हरिवंशपुराणके कथनसे प्रगट है। महाराजा श्रेणिक भी अव्रती ही थे, जो निरन्तर श्रीवीरजिनेंद्रके समवसरणमें जाकर भगवानका साक्षात् पूजन किया करते थे और जिन्होंने अपनी राजधानीमें स्थान स्थानपर अनेक जिनमंदिर बनवाये थे, जिसका कथन हरिवंशपुराणादिकमें मौजूद है। सागारधर्मामृतमें पूजनके फलका वर्णन करते हुए साफ़ लिखा है कि:—

दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः।
श्रयन्त्यहंपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम्॥ ३२॥

अर्थात्—अर्हंतका पूजन करनेवाले अविरतसम्यग्दृष्टिको भी पूजा, धन आज्ञा, ऐश्वर्य, बल और परिजनादिक सम्पदाएँ मैं पहले, ऐसी शीघ्रता करती हुईं प्राप्त होती हैं। और जो व्रतसे भूषित है उसका कहना ही क्या? उसको तो वे सम्पदाएँ और भी विशेषताके साथ प्राप्त होती हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि—धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णित पूजकके उपर्युक्त स्वरूपको पूजकका लक्षण माननेसे जो व्रती-श्रावक दूसरी प्रतिमाके धारक ही पूजनके अधिकारी ठहरते थे, उसका आगमसे विरोध आता है। इसलिये वह स्वरूप पूजकमात्रका स्वरूप नहीं है, किन्तु ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका ही स्वरूप है। और इसलिये शूद्र भी ऊंचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है।

यहांपर इतना और भी प्रगट कर देना जरूरी है कि, जैन शास्त्रोंमें आचरण-सम्बंधी कथनशैलीका लक्ष्य प्रायः उत्कृष्ट ही

रक्खा गया मालूम होता है। प्रत्येक ग्रन्थमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यरूप समस्त भेदोंका वर्णन नहीं किया गया है। किसी किसी ग्रन्थमें ही यह विशेष मिलता है। अन्यथा, जहाँ तहाँ सामान्यरूपसे उत्कृष्टका ही कथन पाया जाता है। इसके कारणों पर जहाँतक विचार किया जाता है तो यही मालूम होता है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। दूसरे, समस्त भेद-प्रभेदोंका वर्णन करनेसे ग्रन्थका विस्तार बहुत ज्यादह बढ़ता है और इस ग्रन्थ-विस्तारका भय सदा ग्रन्थकर्ताओंको रहता है। क्योंकि विस्तृत ग्रन्थके सम्बंधमें पाठकोंमें एक प्रकारकी अरुचिका प्रादुर्भाव हो जाता है और सर्व साधारणकी प्रवृत्ति उसके पठन-पाठनमें नहीं होती। तथा ऐसे ग्रन्थका रचना भी कोई आसान काम नहीं है—समस्तविषयोंका एक ग्रन्थमें समावेश करना बड़ा ही दुःसाध्य कार्य है। इसके लिये अधिक काल अधिक अनुभव और अधिक परिश्रमकी सविशेषरूपसे आवश्यकता है। तीसरे, ग्रन्थोंकी रचना प्रायः ग्रन्थकारोंकी रुचिपर ही निर्भर होती है—कोई ग्रन्थकार संक्षेपप्रिय होते हैं और कोई विस्तारप्रिय—उनकी इच्छा है कि वे चाहे, अपने ग्रन्थमें, जिस विषयको मुख्य रक्खें और चाहे जिस विषयको गौण। जिस विषयको ग्रन्थकार अपने ग्रन्थमें मुख्य रखता है उसका प्रायः विस्तारके साथ वर्णन करता है और जिस विषयको गौण रखता है उसका सामान्यरूपसे उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन कर देता है। यही कारण है कि कोई विषय एक ग्रन्थमें विस्तारके साथ मिलता है और कोई दूसरे ग्रन्थमें। बल्कि एक विषयकी भी कोई बात किसी ग्रन्थमें मिलती है और कोई किसी ग्रन्थमें। दृष्टान्तके तौरपर पूजनके विषयहीको लीजिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने, रत्नकरंडश्रावकाचारमें, 'देवाधिदेवचरणे…' तथा 'अर्हच्चरणसपर्या…' इन पूजनके प्रेरक और पूजन फलप्रतिपादक दो श्लोकोंके सिवाय इस विषयका कुछ भी वर्णन नहीं किया। श्रीपद्मनन्दि आचार्यने, पद्मनंदिपंचविंशतिकामें, गृहस्थियोंके

लिये पूजनकी खास जरूरत वर्णन की है और उसपर जोर दिया है; परन्तु पूजन और पूजकके भेदोंका कुछ वर्णन नहीं किया। वसुनन्दिआचार्यने वसुनन्दिश्रावकाचारमें, भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन किया है। इसीप्रकार सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार वगैरह ग्रन्थोंमें भी इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन पाया जाता है; परन्तु पूरा कथन किसी भी एक ग्रन्थमें नहीं मिलता। कोई बात किसीमें अधिक है और कोई किसीमें। इसीप्रकार ग्यारह प्रतिमाओंके कथनको लीजिये, बहुतसे ग्रन्थोंमें इनका कुछ वर्णन नहीं किया, केवल नाम मात्र कथन कर दिया या प्रतिमाका भेद न कहकर सामान्य रूपसे श्रावकके १२-व्रतोंका वर्णन कर दिया है। रत्नकरंडश्रावकाचारमें इनका बहुत सामान्यरूपसे कथन किया गया है। वसुनन्दिश्रावकाचारमें उससे कुछ अधिक वर्णन किया गया है। परन्तु सागारधर्मामृतमें अपेक्षाकृत प्रायः अच्छा खुलासा मिलता है। ऐसी ही अवस्था अन्य और भी विषयोंकी समझ लेनी चाहिए।

अब यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ग्रन्थकार जिस विषयको गौण करके उसका सामान्य कथन करता है वह उसका उत्कृष्टकी अपेक्षासे क्यों कथन करता है, जघन्यकी अपेक्षासे क्यों नहीं करता? इसका उत्तर यह है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। जबतक उत्कृष्ट दर्जेके आचरणमें अनुराग नहीं होता तबतक नीचे दर्जेके आचरणको आचरण ही नहीं कहते *, इससे उसके लिये

---

* सागारधर्मामृतके प्रथम श्लोककी टीकामें लिखा है,—"यतिधर्मानुरागरहितानामागारिणा देशविरतेरप्यसम्यक्रूपत्वात्। सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः।" अर्थात् यतिधर्ममें अनुराग रहित गृहस्थियोंका 'देशव्रत' भी मिथ्या है। सकलविरतिमें जिसकी लालसा है वही देशविरतिके परिणामका धारक हो सकता है। इससे

साधन अवश्य चाहिये। दूसरे ऊंचे दर्जेके आचरणसे किंचित् भी स्खलित होनेसे स्वतः ही नीचे दर्जेका आचरण हो जाता है। संसारी जीवोंकी प्रवृत्ति और उनके संस्कार ही प्रायः उनको नीचेकी ओर ले जाते हैं, उसके लिये नियमित रूपसे किसी विशेष उपदेशकी जरूरत नहीं। तीसरे, ऊँचे दर्जेको छोड़कर अक्रमरूपसे नीचे दर्जेका ही उपदेश देनेवालेको जैनशासनमें दुर्बुद्धि और दडनीय कहा है, जैसा कि श्री अमृतचंद्र आचार्यके निम्न लिखित वाक्योंसे ध्वनित है:—

यो मुनिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १९ ॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

यह शासन-दंड भी संक्षेप और सामान्य लिखनेवालोंको उत्कृष्ट-की अपेक्षासे कथन करनेमें कुछ कम प्रेरक नहीं है। इन्हीं समस्त कारणोंसे आचरण-संबंधी कथनशैलीका प्रायः उत्कृष्टाऽपेक्षासे होना पाया जाता है। किसी किसी ग्रन्थमें तो यह उत्कृष्टता यहाँतक बढ़ी हुई है कि साधारण पूजकका स्वरूप वर्णन करना तो दूर रहा, ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका भी स्वरूप वर्णन नहीं किया है; बल्कि पूजकाचार्यका ही स्वरूप लिखा है। जैसा कि वसुनन्दिश्रावकाचारमें, नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) का ही स्वरूप लिखा है। इसीप्रकार एकसंधिभट्टारककृत जिनसंहितामें पूजकाचार्यका ही स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु इस संहितामें इतनी

भी यही नतीजा निकलता है कि, जघन्य चारित्रका धारक भी कोई तबही कहलाया जा सकता है जब ऊंचे दर्जे आचरणका अनुरागी हो और शक्ति आदिकी न्यूनतासे, उसको धारण न कर सकता हो।

विशिष्टता और है कि, पूजक शब्दसे ही पूजकाचार्यका कथन किया है। यद्यपि 'पूजक' शब्दसे पूजक (नित्यपूजक) और पूजकाचार्य (प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला पूजक) दोनोंका ग्रहण होता है— जैसा कि ऊपर उल्लेख किये पूजासार ग्रन्थके, 'पूजकः पूजकाचार्यः इति द्वेधा स पूजकः,' इस वाक्यसे प्रगट है – तथापि साधारण ज्ञान वाले मनुष्योंको इससे भ्रम होना संभव है। अतः यहाँपर यह बतला देना जरूरी है कि उक्त जिनसंहिता में जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें पूजकाचार्यका ही स्वरूप है। वह स्वरूप इस संहिताके तीसरे परिच्छेदमें इसप्रकार दिया है:—

अथ वक्ष्यामि भूपाल ! शृणु पूजकलक्षणम् ।
लक्षितं भगवद्वक्त्रवचःस्वखिलगोचरे ॥ १ ॥
त्रैवर्णिकोऽभिरूपाङ्गः सम्यग्दृष्टिरणुव्रती ।
चतुरः शौचवान्विद्वान् योग्यः स्याज्जिनपूजने ॥ २ ॥
न शूद्रः स्यान्न दुर्दृष्टिर्न पापाचारपण्डितः ।
न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नातंकपरिदूषितः ॥ ३ ॥
नाऽधिकाङ्गो न हीनाङ्गो नाऽतिदीर्घो न वामनः ।
नाऽविदग्धो न तन्द्रालुर्नाऽतिवृद्धो न बालकः ॥४॥
नाऽतिलुब्धो न दुष्टात्मा नाऽतिमानो न मायिकः ।
नाऽशुचिर्न विरूपाङ्गो नाऽजानन् जिनसंहिताम् ॥५॥
निषिद्धः पुरुषो देवं यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ।
राजराष्ट्रविनाशः स्यात्कर्तृकारकयोरपि ॥६॥
तस्माद्यत्नेन गृह्णीयात्पूजकं त्रिजगद्गुरोः ।
उक्तलक्षणमेवाऽऽर्यः कदाचिदपि नाऽपरम् ॥७॥
यदीन्द्रवृन्दाऽर्चितपादपंकजं जिनेश्वरं प्रोक्तगुणः समर्चयेत् ।
नृपश्च राष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत् तथैव कर्ता च जनश्च कारकः ॥८॥

भावार्थ इसका यह है कि 'हे राजन् ! मैं अब श्रीजिनभगवानके वचनानुसार पूजकका लक्षण कहता हूँ; उसको तुम सुनो—

जो तीनों वर्णोंमेंसे किसी वर्णका धारक हो रूपवान हो, सम्यग्दृष्टि हो, पंच अणुव्रतका पालन करनेवाला हो, चतुर हो, शौचवान हो और विद्वान हो वह जिनदेवकी पूजा करनेके योग्य होता है। (परन्तु) शूद्र, मिथ्यादृष्टि, पापाचारमें प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीच कर्म करके आजीविका करनेवाला, रोगी अधिक अंगवाला, अंगहीन, अधिक लम्बे क़दका, बहुत छोटे क़दका (वामना), भोला वा मूर्ख निद्रालु या आलसी, अतिवृद्ध बालक, अति लोभी दुष्टात्मा, अतिमानी, मायाचारी, अपवित्र, कुरूप और जिनसंहिताको न जाननेवाला पूजन करनेके योग्य नहीं होता है। यदि निषिद्ध पुरुष भगवानका पूजन करे तो राजा और देशका तथा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका नाश होता है। इसलिये पूजन करानेवालेको यत्नके साथ जिनेन्द्रदेवका पूजक ऊपर कहे हुए गुणोंवाला ही ग्रहण करना चाहिये—दूसरा नहीं। यदि ऊपर कहे हुए गुणोंवाला पूजक इन्द्र समूहसे वंदित श्रीजिनदेवके चरणकमलकी पूजा करे तो राजा, देश तथा पूजन करनेवाला और कराने वाला सब सुखके भागी होते हैं।'

अब यहाँपर विचारणीय यह है कि, यह उपर्युक्त स्वरूप साधारण नित्यपूजकका है या ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका अथवा पूजकाचार्यका है। साधारण नित्यपूजकका यह स्वरूप हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर आगमसे विरोधादिक समस्त वही दोष यहाँ भी पूर्णरूपसे घटित होते हैं, जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णन किये हुए ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकके स्वरूपको नित्यपूजक मात्रका स्वरूप स्वीकार करनेपर विस्तारके साथ ऊपर दिखलाये गये हैं। बल्कि इस स्वरूपमें कुछ बातें उससे भी अधिक हैं, जिनसे और भी अनेक प्रकारकी बाधाएं उपस्थित होती हैं और जो विस्तार-भयसे यहाँ नहीं लिखी जातीं। इस स्वरूपके अनुसार जो जैनी रूपवान् नहीं है, विद्वान् नहीं है, चतुर नहीं है अर्थात् भोला वा मूर्ख है, जो जिनसंहिताको नहीं जानता, जिसका कद अधिक लम्बा

या छोटा है, जो बालक है या अतिवृद्ध है, जो पापके काम करना जानता है और जो अतिमानी, मायाचारी तथा लोभी है, वह भी पूजनका अधिकारी नहीं ठहरता। इसको साधारण नित्यपूजकका स्वरूप माननेसे पूजनका मार्ग और भी अधिक इतना तंग (सकीर्ण) हो जाता है कि वर्तमान १३-१४ लाख जैनियोंमें शायद कोई बिरला ही जैनी ऐसा निकले जो इन समस्त लक्षणोंसे सुसम्पन्न हो और जो जिनदेवका पूजन करनेके योग्य समझा जावे। वास्तवमें भक्तिपूर्वक जो नित्यपूजन किया जाता है उसके लिये इन बहुतसे विशेषणोंकी आवश्यकता नहीं है, यह ऊपर कहे हुए नित्यपूजन के स्वरूपसे ही प्रगट है। अतः आगमसे विरोध आने तथा पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपसे विरुद्ध पड़नेके कारण यह स्वरूप साधारण नित्यपूजकका भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका भी नही हो सकता। क्योंकि ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका जो स्वरूप धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थोंमें वर्णन किया है और जिसका कथन ऊपर आ चुका है, उससे इस स्वरूपमें बहुत कुछ विलक्षणता पाई जाती है। यहाँपर अन्य बातोंके सिवा त्रैवर्णिकको ही पूजनका अधिकारी वर्णन किया है; परंतु ऊपर अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णके मनुष्य पूजन कर सकते हैं और ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक हो सकते हैं। इसलिये यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक तक ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उसकी सीमासे बहुत आगे बढ़ जाता है।

दूसरे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि ऊँचा दर्जा हमेशा नीचे दर्जेकी और नीचा दर्जा ऊँचेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। जब एक दर्जेका मुख्यरूपसे कथन किया जाता है तब दूसरा दर्जा गौण होजाता है, परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। जैसा कि सकलचारित्र (महाव्रत) का वर्णन करते हुए देशचारित्र (अणु-

व्रत) और देशचारित्रका कथन करते समय सकलचारित्र गौण होता है; परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता अर्थात् यह नहीं कहा जाता कि जिसमें महाव्रतीके लक्षण नहीं वह व्रती ही नहीं हो सकता। व्रती वह ज़रूर हो सकता है; परन्तु महाव्रती नहीं कहला सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ग्रन्थकारमहोदयके लक्ष्यमें यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका ही होता, तो वे कदापि साधारण (नीचे दर्जेके) नित्यपूजकका सर्वथा निषेध न करते—अर्थात्, यह न कहते कि इन लक्षणोंसे रहित दूसरा कोई पूजक होनेके योग्य ही नही या पूजन करनेका अधिकारी नहीं। क्योंकि दूसरा नीचे दर्जेवाला भी पूजक होता है और वह नित्यपूजन कर सकता है। यह दूसरी बात है कि वह कोई विशेष नैमित्तिक पूजन न कर सकता हो। परन्तु ग्रन्थकारमहोदय 'उक्तलक्षणमेवार्यः कदाचिदपि नाऽपरम्' इस सप्तम श्लोकके उत्तरार्धद्वारा स्पष्टरूपसे उक्त लक्षणरहित दूसरे मनुष्यके पूजकपनेका निषेध करते हैं, बल्कि छटे श्लोकमें यहाँतक लिखते हैं कि यदि निषिद्ध (उक्तलक्षणरहित) पुरुष पूजन कर ले तो राजा, देश, पूजन करनेवाला और करानेवाला सब नाशको प्राप्त हो जावेंगे। इससे प्रगट है कि उन्होंने यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकको भी लक्ष्य करके नहीं लिखा है। भावार्थ—इस स्वरूपका किसी भी प्रकारके नित्य पूजकके साथ नियमित अथवा अविनाभाव सम्बन्ध न होनेसे, यह किसी भी प्रकारके नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है। बल्कि उस नैमित्तिक पूजनविधानके कर्तासे सम्बन्ध रखता है जिस पूजनविधानमें पूजन करनेवाला और होता है और उसका करानेवाला अर्थात् उस पूजनविधानके लिये द्रव्यादि खर्च करनेवाला दूसरा होता है। क्योंकि स्वयं उपर्युक्त श्लोकोंमें आये हुए "कर्तृकारकयोः' 'गृह्णीयात्' और 'तथैव कर्ता च जनश्च कारकः' इन पदोंसे भी यह बात पाई जाती है। 'यत्नेन गृह्णीयात् पूजकं' 'उक्तलक्षण-

मेवार्यः' ये पद साफ़ बतला रहे हैं कि यदि यह वर्णन नित्यपूजकका होता तो यह कहने या प्रेरणा करनेकी ज़रूरत नहीं थी कि पूजन-विधान करानेवाले को तलाश करके उक्त लक्षणोंवाला ही पूजक (पूजनविधान करनेवाला) ग्रहण करना चाहिये, दूसरा नहीं। इसी प्रकार पूजन-फलवर्णनमें, 'कर्तृकारकयोः' इत्यादि पदों-द्वारा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका भिन्न भिन्न निर्देश करनेकी भी कोई जरूरत नहीं थी; परन्तु चूँकि ऐसा किया गया है, इससे स्वयं ग्रन्थकारके वाक्योंसे भी प्रगट है कि यह नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है। तब यह स्वरूप किसका है? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि पूजकके जो मुख्य दो भेद वर्णन किये गये हैं—एक नित्यपूजन करनेवाला और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला—उनमेंसे यह स्वरूप प्रतिष्ठादि विधान करनेवाले पूजकका ही हो सकता है, जिसको प्रतिष्ठाचार्य, पूजकाचार्य और इन्द्र भी कहते हैं। प्रतिष्ठादि विधानमें ही प्रायः ऐसा होता है कि विधानका करनेवाला तो और होता है और उसका करानेवाला दूसरा। तथा ऐसे ही विधानोंका शुभाशुभ असर कथंचित् राजा, देश, नगर और करानेवाले आदि पर पड़ता है। प्रतिष्ठा-विधानमें प्रतिमाओंमें मंत्रद्वारा अर्हंतादिककी प्रतिष्ठाकी जाती है। अतः जिस मनुष्यके मंत्रसामर्थ्यसे प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित होकर पूजने योग्य होती हैं वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता। वह कोई ऐसा ही प्रभावशाली, माननीय, सर्वगुणसम्पन्न असाधारण व्यक्ति होना चाहिये।

इन सबके अतिरिक्त, पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका जो स्वरूप धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पूजासार और प्रतिष्ठासारोद्धार आदिक जैन-शास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है उससे इस स्वरूपकी प्रायःसब बातें मिलती हैं, जिससे भले प्रकार निश्चित होता है कि यह स्वरूप प्रतिष्ठादि-विधान करनेवाले पूजक अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यसे ही सम्बन्ध रखता है। यद्यपि इस निबन्धमें पूजकाचार्यया

प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप विवेचनीय नहीं है तथापि प्रसंगवश यहाँपर उसका किंचित् दिग्दर्शन करादेना ज़रूरी है, जिससे, यह मालूम करके कि दूसरे शास्त्रोंमें भी प्रायः यही स्वरूप प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्य का वर्णन किया है, इस विषयमें फिर कोई संदेह बाक़ी न रहे। सबसे प्रथम धर्मसंग्रहश्रावकाचारको ही लीजिये। इस ग्रन्थके ६ वें अधिकारमें, नित्यपूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक नं. १४५ से १५२ तक आठ श्लोकों में पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं:—

इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः॥ १४५॥
कुलजात्यादिसंशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी।
वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः॥ १४६॥
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गंभीरो विनयान्वितः।
शौचाऽऽचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः॥ १४७॥
साङ्गोपाङ्गयुतः शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः।
स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः॥ १४८॥
वारिमंत्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः।
निरभिमानी च मौनी च त्रिसंध्यं देववन्दकः॥ १४६॥
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः।
क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः॥ १५०॥
न हीनाङ्गो नाऽधिकांगो न प्रलम्बो न वामनः।
न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नातिबालकः॥ १५१॥
न क्रोधादिकषायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च।
नान्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी॥ १५२॥

इन उपर्युक्त पूजकाचार्यस्वरूपप्रतिपादक श्लोकोंमें जो—"ब्राह्मणः (ब्राह्मण हो), क्षत्रियः (क्षत्रिय हो), वैश्यः (वैश्य हो), नानालक्षणलक्षितः (शरीरसे सुन्दर हो), सद्दृष्टिः (सम्यग्दृष्टि हो), देश-

संयमी (अणुव्रती हो), जिनागमस्य वेत्ता (जिनसंहिता आदि जैन-शास्त्रोंका जाननेवाला हो), अनालस्यः (आलस्य वा तन्द्रारहित हो), वाग्मी (चतुर हो), विनयान्वितः (मानकषायके अभावरूप विनय-सहित हो), शौचाचमनसोत्साहः (शौच और आचमन करनेमें उत्साहवान् हो), सांगोपांगयुतः (ठीक अंगोपांगका धारक हो),शुद्धः (पवित्र हो), लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः (लक्ष्य और लक्षणका जाननेवाला बुद्धिमान् हो), स्वदारी ब्रह्मचारी वा (स्वदारसंतोषी हो या अपनी स्त्रीका भी त्यागी हो अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रतके जो दो भेद हैं उनमें-से किसी भेदका धारक हो), नीरोगः (रोग रहित हो), सत्क्रियारतः (नीची क्रियाके प्रतिकूल ऊंची और श्रेष्ठ क्रिया करनेवाला हो), वारिमंत्रव्रतस्नातः (जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नानसे पवित्र हो), निरभिमानी (अभिमानरहित हो), न हीनांगः (अंग-हीन न हो) नाऽधिकांगः (अधिक अंगका धारक न हो), न प्रलम्बः (लम्बे क़दका न हो), न वामनः (छोटे क़दका न हो), न कुरूपी (बदसूरत न हो), न मूढात्मा (मूर्ख न हो), न वृद्धः (बूढा न हो), नाऽतिबालकः (अति बालक न हो), न क्रोधादिकषायाढ्यः (क्रोध, मान, माया, लोभ, इन कषायोंमेंसे किसी कषायका धारक न हो), न च व्यसनी (और पापाचारी न हो),"—इत्यादि विशेषण-पद आये हैं, उनसे प्रगट है कि उपर्युक्त जिनसंहितामें जो विशेषण पूजकके दिये हैं वे सब यहाँपर साफ़ तौरसे पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं। बल्कि श्लो० नं० १५१ तो जिनसंहिताके श्लोक नं ४ से प्रायः यहाँतक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेका रूपान्तर कहना चाहिये। इसीप्रकार निम्नलिखित तीन श्लोकोंमें जो ऐसे पूजकके द्वारा कियेहुए पूजनका फल वर्णन किया है वह भी जिनसंहिताके श्लोक नं० ६ और ८ सेबिल्कुल मिलता जुलता है।

ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत्।
तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत्॥ १५३॥

कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम् ।
ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ।। १५४ ।।
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम् ।
तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ।। १५५ ।।

अर्थात्—यदि इन दोषोंका धारक पूजकाचार्य कहींपर प्रतिष्ठा करावे, तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाशको प्राप्त होते हैं और प्रतिष्ठा करने और करानेवाला दोनों भी अच्छे फलको प्राप्त नहीं होते. इसलिये उपर्युक्त उत्तम लक्षणोंसे विभूषितही पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) कहा जाता है। ऊपर जो जो पूजकाचार्यके लक्षण कह आये हैं, यदि उन लक्षणोंसे युक्त पूजक परमेश्वरका पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करे तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होते हैं।

पूजासार ग्रन्थमें भी, नित्य पूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर श्लोक नं० १६ से २८ तक पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया गया है। इस स्वरूपमें भी पूजकाचार्यके प्रायः वे ही सब विशेषण दिये गये हैं जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें वर्णित हैं और जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यथाः—

"लक्षणोद्भासी[1], जिनागमविशारदः, सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, देशसंयमभूषितः, वाग्मी, श्रुतबहुग्रन्थः, अनालस्यः, ऋजुः, विनयसंयुतः, पूतात्मा[2], पूतवाग्वृत्तिः[3], शौचाचमनतत्परः, सांगोपांगेन संशुद्धः, लक्षणलक्ष्यवित्, नीरोगी, ब्रह्मचारी च स्वदाररतिकोऽपि वा, जलमंत्रव्रतस्नातः, निरभिमानी, विचक्षणः, सुरूपा, सत्क्रियः, वैश्यादिषु समुद्भवः" इत्यादि।

इसी प्रकार प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थके प्रथम परिच्छेदमें श्लोक

---

१ शरीरसे सुन्दर हो. २ पापाचारी न हो. ३ सच बोलनेवाला हो तथा नीच क्रिया करके आजीविका करनेवाला न हो।

नं०१० से १६ तक जो प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप दिया गया है, उसमेंभी– "कल्याणांगः, रुजा हीनः, सकलेन्द्रियः, शुभलक्षणसम्पन्नः, सौम्य-रूपः, सुदर्शनः, विप्रो वा क्षत्रियो वैश्यः, विकर्मकरणोऽज्झितः, ब्रह्म-चारी गृहस्थो वा, सम्यग्दृष्टिः, निःकषायः, प्रशान्तात्मा, वेश्यादि-व्यसनोज्झितः, दृष्टसृष्टक्रियः, विनयान्वितः, शुचिः, प्रतिष्ठाविधि-वित्सुधीः, महापुराणशास्त्रज्ञः, न चार्थार्थी, न च द्वेष्टि—"

इत्यादि विशेषण पदोंसे प्रतिष्ठाचार्यके प्रायः वे ही समस्त विशेषण वर्णन किये गये है, जो कि जिनसंहितामें पूजकके और धर्म-संग्रहश्रावकाचार तथा पूजासार ग्रन्थोंमें पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं।

यह दूसरी बात है कि किसीने किसी विशेषणको संक्षेपसे वर्णन किया और किसीने विस्तारसे; किसीने एक शब्दमें वर्णन किया और किसीने अनेक शब्दोंमें; अथवा किसीने सामान्यतया एकरूपमें वर्णन किया और किसीने उसी विशेषणको शिष्योंको अच्छीतरह समझाने-के लिये अनेक विशेषणोंमें वर्णन कर दिया; परन्तु आशय सबका एक है. अतः सिद्ध है कि जिनसंहितामें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजक अर्थात् पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका ही है।

इस प्रकार यह संक्षिप्त रूपसे, आचरण-सम्बंधी कथनशैलीका रहस्य है। धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थमें जो साधारण-नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर, ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्व-रूप लिखा गया है उसका भी यही कारण है।

यद्यपि ऊपर यह दिखलाया गया है कि उक्त दोनों ग्रन्थोंमें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह ऊँचे दर्जेके नित्य पूजकका स्वरूप होनेसे और उसमें शूद्रको भी स्थान दिये जानेसे शूद्र भी ऊँचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है तथापि इतना और समझ लेना चाहिये कि शूद्र भी उन समस्त गुणोंका पात्र है जो कि नित्य-पूजकके स्वरूपमें वर्णन किये गये हैं और वह ११ वीं प्रतिमाको

धारण करके ऊँचे दर्जेका श्रावक भी हो सकता है, अतः उसके ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक हो सकनेमें कोई बाधक भी प्रतीत नहीं होता। वह पूर्णरूपसे नित्यपूजनका अधिकारी है।

अब जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि शूद्रोंका उपनीति (यज्ञोपवीतधारण) संस्कार नहीं होता और इसलिये वे पूजनके अधिकारी नहीं हो सकते; उनको समझना चाहिये कि पूजनके किसी खास भेदको छोड़कर आमतौर पर पूजनके लिये यज्ञोपवीत (ब्रह्मसूत्र-जनेऊ) का होना ज़रूरी नहीं है। स्वर्गादिकके देव और देवांगनायें प्रायः सभी जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजन करते हैं और खास तौरसे पूजन करनेके अधिकारी वर्णन किये गये हैं; परन्तु उनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता। ऐसी ही अवस्था मनुष्य-स्त्रियोंकी है। वे भी जगह जगह शास्त्रोंमें पूजनकी अधिकारिणी वर्णन की गई हैं— स्त्रियोंकी पूजन-सम्बन्धिनी असंख्य कथाओंसे जैनसाहित्य भरपूर है—उनका भी यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं होता। ऊपर उल्लेख की हुई कथाओंमें जिन गज-ग्वाल आदिने जिनेन्द्रदेवका पूजन किया है, वे भी यज्ञोपवीत-संस्कारसे संस्कृत (जनेऊके धारक) नहीं थे। इससे प्रगट है कि नित्यपूजकके लिये यज्ञोपवीत-संस्कारसे संस्कृत होना लाज़मी और ज़रूरी नहीं है और न यज्ञोपवीत पूजनका चिन्ह है। बल्कि वह द्विजोंके व्रतका चिन्ह है; जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८-३९-४१में, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है:—

"व्रतचिन्हं दधत्सूत्रम् ... ."
"व्रतसिद्धयर्थमेवाऽहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम्...."
"व्रतचिन्हं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम्...."
"व्रतचिन्हं च नः सूत्र पवित्रं सूत्रदर्शितम्।"
"व्रतचिन्हानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः।"

वर्तमान प्रवृत्ति (रिवाज) की ओर देखनेसे भी यही मालूम होत

है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना जरूरी नहीं समझा जाता; क्योंकि स्थान-स्थानपर नित्यपूजन करनेवाले तो बहुत हैं परंतु यज्ञोपवीतसंस्कारसे संस्कृत (जनेऊधारक) बिरले ही जैनी देखनेमें आते हैं। और उनमें भी बहुतसे ऐसे पाये जाते हैं जिन्होंने नाममात्र कन्धेपर सूत्र (तागा) डाल लिया है, वैसे यज्ञोपवीत संबंधी क्रियाकर्मसे वे कोसों दूर हैं। दक्षिण देशको छोड़कर अन्य देशोंमें तथा खासकर पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् युक्तप्रांत और पंजाबदेशमें तो यज्ञोपवीतसंस्कारकी प्रथा ही, एक प्रकारसे, जैनियोंसे उठ गई है; परन्तु नित्यपूजन सर्वत्र बराबर होता है। इससे भी प्रगट है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना आवश्यक कर्म नहीं है और इसलिये जनेऊका न होना शूद्रोंका नित्यपूजन करनेमें किसी प्रकार भी बाधक नहीं हो सकता। उनको नित्यपूजनका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि कोई अस्पृश्य शूद्र, अपनी अस्पृश्यताके कारण, किसी मंदिरमें प्रवेश न कर सके और मूर्तिको न छू सके; परन्तु इससे उसका पूजनाधिकार खंडित नहीं हो जाता। वह अपने घरपर त्रिकाल-देववन्दना कर सकता है, जो पूजनमें दाखिल है। तथा तीर्थस्थानों, अतिशयक्षेत्रों और अन्य ऐसे पर्वतों पर—जहाँ खुले मैदानमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं और जहाँ भील, चाण्डाल तथा म्लेच्छ तक भी बिना रोकटोक जाते हैं—जाकर दर्शन और पूजन कर सकता है। इसी प्रकार वह बाहरसे भी मंदिरके शिखरादिकमें स्थित प्रतिमाओंका दर्शन और पूजन कर सकता है। प्राचीन समयमें प्राय: जो जिनमंदिर बनवाये जाते थे उनके शिखर या द्वार आदिक अन्य किसी ऐसे उच्च स्थानपर, जहाँ सर्वसाधारणकी दृष्टि पड़ सके, कमसेकम एक जिनप्रतिमा ज़रूर विराजमान की जाती थी, ताकि (जिससे) वे जातियाँ भी, जो अस्पृश्य होनेके कारण, मंदिरमें प्रवेश नहीं कर सकतीं, बाहरसे ही दर्शनादिक कर सकें। यद्यपि आजकल ऐसे मंदिरोंके बनवानेकी वह प्रशंसनीय प्रथा जाती रही है—जिसका

प्रधान कारण जैनियोंका क्रमसे ह्रास और इनमेंसे राजसत्ताका सर्वथा लोप हो जाना ही कहा जा सकता है—तथापि दक्षिण देशमें, जहाँ-पर अन्तमें जैनियोंका बहुत कुछ चमत्कार रह चुका है और जहाँसे जैनियोंका राज्य उठे हुए बहुत अधिक समय भी नहीं हुआ है, इस समय भी ऐसे जिनमंदिर विद्यमान हैं जिनके शिखरादिकमें जिनप्रति-माएँ अंकित हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णके सब मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारी हैं और खुशीसे नित्यपूजन कर सकते हैं। नित्यपूजनमें उनके लिये यह नियम नहीं है कि वे पूजकके उन समस्त गुणोंको प्राप्त करके ही पूजन कर सकते हों, जो कि धर्म-संग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थोमें वर्णन किये हैं। बल्कि उनके बिना भी वे पूजन कर सकते हैं और करते हैं। क्योंकि पूजकका जो स्वरूप उक्त ग्रन्थोंमें वर्णन किया है वह ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका है और जब वह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका है तब यह स्वतः सिद्ध है कि उस स्वरूपमें वर्णन किये हुए गुणोंमेंसे यदि कोई गुण किसीमें न भी होवे तो भी वह पूजनका अधिकारी और नित्यपूजक हो सकता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जिनके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (परस्त्रीसेवन) परिग्रह इन पंच पापों या इनमेंसे किसी पापका त्याग नहीं है, जो दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रत या उनमेंसे किसी शीलव्रतके धारक नहीं हैं, अथवा जिनका कुल और जाति शुद्ध नहीं है या इसी प्रकार और भी किसी गुणसे जो रहित हैं, वे भी नित्य-पूजन कर सकते हैं और उनको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि गुणोंकी अपेक्षा उनका दर्जा क्या होगा? अथवाकी फल प्राप्तिमें अपने अपने भावोंकी अपेक्षा उनमें क्या कुछ न्यूनाधिकता (कमी बेशी) होगी? और वह यहाँपर विवेच-नीय नहीं है।

यद्यपि आजकल अधिकांश ऐसे ही गृहस्थ जैनी पूजन करते हुए

देखे जाते हैं जो हिंसादिक पाँच पापोंके त्यागरूप पंचअणुव्रत या दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रतके धारक नहीं हैं, तथापि प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंको देखनेसे मालूम होता है कि, ऐसे लोगोंका यह (पूजनका) अधिकार अर्वाचीन नहीं, बल्कि प्राचीन समयसे ही उनको प्राप्त है। जहाँ तहाँ जैनशास्त्रोंमें दिये हुए अनेक उदाहरणोंसे इसकी भले प्रकार पुष्टि होती है। यथा:–

लंकाधीश महाराज रावण परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत वह परस्त्रीलम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इस विषयमें उसकी जो कुछ भी प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि, 'जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे बलात्कार नहीं करूंगा।' नहीं कह सकते उसने कितनी परस्त्रियोंका–जो किसी भी कारणसे उससे रज़ामंद (सहमत) होगई हों–सतीत्वभंग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओंसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्रीसेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नही था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोंके पालनकी तो वहां बात ही कहाँ? परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणमें अनेक स्थानोंपर ऐसा वर्णन मिलता है कि—'महाराजा रावणने बड़ी भक्तिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमंदिर बनवाये। वह राजधानीमें रहते हुए अपने राजमन्दिरोंके मध्यमें स्थित श्रीशांतिनाथके सुविशाल चैत्यालयमें पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमें बड़े ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शन मेरु और कैलाश पर्वत आदिके जिनमन्दिरोंका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवानका भी पूजन किया था।'

कौशांबी नगरीका राजा सुमुख भी परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था। उसने वीरक सेठकी स्त्री वनमालाको अपने घरमें डाल लिया था। फिर भी उसने महातपस्वी वरधर्म नामके मुनिराजको वनमालासहित आहार दिया और पूजन किया। यह कथा जिनसेनाचार्य-कृत तथा जिनदासब्रह्मचारिकृत दोनों हरिवंशपुराणोंमें लिखी है।

इसी प्रकार और भी सैकड़ों प्राचीन कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमें पापियों तथा अव्रतियोंका पापाचरण कहीं भी उनके पूजनका प्रतिबंधक नहीं हुआ और न किसी स्थानपर ऐसे लोगोंके इस पूजनकर्म-को असत्कर्म बतलाया गया। वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि जिनेंद्रदेवका भावपूर्वक पूजन स्वयं पापोंका नाश करनेवाला है, शास्त्रोंमें उसे अनेक जन्मोंके संचित पापोंको भी क्षण मात्रमें भस्म कर देनेवाला वर्णन किया है*। इसीसे पापोंकी निवृत्तिपूर्वक इष्ट-सिद्धिके लिये लोग जिनदेवका पूजन करते हैं। फिर पापाचरणियोंके लिये उसका निषेध कैसे हो सकता है? उनके लिये तो ऐसी अवस्थामें, पूजनकी और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। पूजासार ग्रन्थमें साफ ही लिखा है कि:—

ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्करः सर्वपापकृत्।
जिनांघ्रिगंधसम्पर्कान्मुक्तो भवति तत्क्षणम्॥

अर्थात्—जो ब्रह्महत्या या गोहत्या किये हुए हो, दूसरोंका माल चुरानेवाला चोर हो अथवा इससे भी अधिक सम्पूर्ण पापोंका करने-वाला भी क्यों न हो, वह भी जिनेंद्र भगवानके चरणोंका भक्तिभाव-पूर्वक चंदनादि सुगंध द्रव्योंसे पूजन करनेपर तत्क्षण उन पापोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ होजाता है। इससे साफ़ तौर पर प्रगट है कि

---

* जिनपूजा कृता हन्ति पापं नानाभवोद्भवम्।
बहुकालचितं काष्ठराशिं वन्हिमिवाखिलम्॥९—१०३॥
—धर्मसंग्रहश्रावकाचार

पापीसे पापी और कलंकीसे कलंकी मनुष्य भी श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन कर सकता है और भक्तिभावसे जिनदेवका पूजन करके अपने आत्माके कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकता है। इसलिये जिसप्रकार भी बन सके सबको नित्यपूजन करना चाहिये। सभी नित्यपूजनके अधिकारी हैं और इसीलिये ऊपर यह कहा गया था कि इस नित्यपूजनपर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊँच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और देवता सबका समानाधिकार है। समानाधिकारसे यहाँ कोई यह अर्थ न समझ लेवे कि सब एक साथ मिलकर,एक थालीमें एक संदली या चौकीपर अथवा एक ही स्थानपर पूजन करनेके अधिकारी हैं, किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि सभी पूजनके अधिकारी हैं। वे, एक रसोई या भिन्न भिन्न रसोईयोंसे भोजन करनेके समान, आगे पीछे, बाहर भीतर, अलग और शामिल, जैसा अवसर हो और जैसी उनकी योग्यता उनको इजाज़त (आज्ञा) दे, पूजन कर सकते हैं।

दस्साधिकार

यद्यपि अब कोई ऐसा मनुष्य या जाति-विशेष नहीं रही जिसके पूजनाधिकारकी मीमांसा की जाय—जैनधर्ममें श्रद्धा और भक्ति रखनेवाले ऊँच-नीच सभी प्रकारके मनुष्योंको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है—तथापि इतनेपर भी जिनके हृदयमें इस प्रकारकी कुछ शंका अवशेष हो कि दस्से (गोटे) जैनी भी पूजन कर सकते हैं या कि नहीं, उनको इतना और समझ लेना चाहिये कि जैनधर्ममें दस्से' और 'बीसे' का कोई भेद नहीं है; न कहीं पर जैनशास्त्रोंमें 'दस्से' और 'बीसे' शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंसे बाह्य(बाहर) बीसोंका कोई पाँचवाँ वर्ण नहीं है उसी प्रकार दस्सोंका भी कोई भिन्न वर्ण नहीं है। चारों वर्णोंमें ही उनका भी अन्तर्भाव

है। चारों ही वर्णके सभी मनुष्योंको पूजनका अधिकार प्राप्त होनेसे उनको भी वह अधिकार प्राप्त है। वैश्य जातिके दस्सोंका वर्ण वैश्य ही होताहै*। वे वैश्य होनेके कारण शूद्रोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं और शूद्र लोग मनुष्य होनेके कारण तिर्यंचोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं। जब शूद्र तो शूद्र, तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं और तिर्यंच भी कैसे? मेंढक जैसे! तब वैश्यजातिके दस्से पूजनके अधिकारी कैसे नहीं? क्या वे जैनगृहस्थ या श्रावक नहीं होते? अथवा श्रावकके बारह व्रतोंको धारण नहीं कर सकते? जब दस्से लोग यह सब कुछ होते हैं और यह सब कुछ अधिकार उनको प्राप्त है, तब वे पूजन के अधिकारसे कैसे वंचित रक्खे जा सकते हैं? पूजन करना गृहस्थ जैनियोंका परमावश्यक कर्म है। उसके साथ अग्रवाल, खंडेलवाल या परवार आदि जातियोंका कोई बन्धन नहीं है—सबके लिये समान उपदेश है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुये आचार्योंके वाक्यों से प्रगट है। परमोपकारी आचार्योंने तो ऐसे मनुष्योंको भी पूजनाधिकारसे वंचित नहीं रक्खा जो आकंठ पापमें मग्न हैं और पापीसे पापी कहलाते हैं। फिर वैश्य जातिके दस्सोंकी तो बात ही क्या हो सकती है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजका तो वचन ही यह है कि बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता। दस्से लोग श्रावक होते ही हैं, इससे उनको पूजनका अधिकार स्वतः सिद्ध है और वे बराबर पूजनके अधिकारी हैं।

शोलापुरमें दस्से जैनियोंके बनाये हुए तीन शिखरबन्द मंदिर और अनेक चैत्यालय मौजूदहैं। ग्वालियरमें भी दस्सोंका एक मंदिर है; सिवनीकी तरफ़ दस्से भाइयोंके बहुतसे जैनमंदिरहै। श्रीसम्मेदशिखर शत्रुंजय, मांगीतुंगी और कुन्थलगिरि तीर्थों पर शोलापुर वाले

* वैश्यजातिके दस्सोंको छोटीसरण (श्रेणि) या 'छोटीसेन'के बनिये अथवा 'विनैकया' भी कहते है।

प्रसिद्ध धनिक श्रीमान् हरिभाई देवकरणजी दस्साके बनवाये हुए जिन मंदिर हैं। इन समस्त मंदिर और चैत्यालयोंमें दस्सा, बीसा, सभी लोग बराबर पूजन करते हैं।

शोलापुरके प्रसिद्ध विद्वान सेठ हीराचंद नेमिचंदजी आनरेरी मजिस्ट्रेट दस्सा जैनी हैं। उनके घरमें एक चैत्यालय है, जिसमें वे और अन्य भाई सभी पूजन करते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थानोंपर भी दस्सा जैनियोंके मन्दिर हैं, जिनमें सब लोग पूजन करते हैं। जहाँ उनके पृथक् मंदिर नहीं हैं वहाँ वे प्रायः बीसोंके मंदिरमें ही दर्शन-पूजन करते हैं।

यह दूसरी बात है कि कोई एक द्रव्य या दो द्रव्यसे पूजन करने-को अथवा मंदिरके वस्त्रों और मंदिरके उपकरणोंमें पूजन न करके अन्य वस्त्रादिकोंमें पूजन करनेको पूजन ही न समझता हो, और इसी अभिप्रायके अनुसार कही कहींके बीसे अपने मंदिरोंमें दस्सोंको मंदिरके वस्त्र पहनकर और मंदिरके उपकरणोंको लेकर अष्ट द्रव्य-से पूजन न करने देते हों, परन्तु इसको केवल उनकी कल्पना ही कह सकते है–शास्त्रोंमें इसका कोई आधार और प्रमाण नही है। पूजन-सिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपके अनुसार वह पूजन अवश्य है। तीर्थस्थानों और अतिशयक्षेत्रोंकी पूजा-वन्दनाको दस्से-बीसे सभी जाते हैं और सभी अष्टद्रव्यसे पूजन करते हैं।

श्रीतारंगाजी तीर्थपर नानचंद पदमसा नामके एक मुनीम हैं जो दस्सा जैनीहैं। वे उक्त तीर्थपर बीसोंके मंदिरोंमें, मंदिरके वस्त्रोंको पहन कर और मंदिरके उपकरणोको लेकर ही, नित्य अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। अन्य स्थानोंपर भी— जहाँके बीसोंमें इस प्रकारकी कल्पना नहीं है—दस्सा जैनी बीसोंके मंदिरमें उसी प्रकार अष्ट द्रव्यादिसे पूजन करते हैं जिसप्रकार कि वे अपने मंदिरोंमें करते हैं। जिनको ऐस देखनेका अवसर न मिला हो वे दक्षिण देशकी ओर जाकर स्वयं देख सकते हैं। उधर जाने पर उनको ऐसी जैन जातियाँ भी आम तौरपर

पूजन करती हुई मिलेंगी जिनमें पुनर्विवाहकी प्रथा भी जारी है।

इसके अतिरिक्त दस्सा जैनियोंने अनेक प्रतिष्ठाएँ भी कराई हैं। एक प्रतिष्ठा शोलापुरके सेठ रावजी नानचन्दने कराई थी। पिछले साल भी दस्सा जैनियोंकी दो प्रतिष्ठाएँ हो चुकीं हैं। प्रतिष्ठा कराने वाले भगवानकी प्रतिमाके साथ रथादिकमें बैठते हैं और स्वयं भगवानका अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। इसप्रकार प्रवृत्ति भी दस्सोंके पूजनाधिकारका भले प्रकार समर्थन करती है। इसलिये दस्सोंको बीसोंके समान ही पूजनका अधिकार प्राप्त है।

किसी किसीका कहना है कि अपध्वंसज अर्थात् व्यभिचारजातको ही दस्सा कहते हैं और व्यभिचारजात पूजनके अधिकारी नहीं होते; परन्तु ऐसा कहनेमें कोइ प्रमाण नहीं है। जब प्रवृत्तिकी ओर देखते हैं तो वह भी इसके विरुद्ध पाई जाती है—जो मनुष्य किसी विधवा स्त्रीको प्रगट रूपसे अपने घरमें डाल लेता है अर्थात् उसके साथ कराओ (धरेजा) कर लेता है वह स्वयं व्यभिचारजात (व्यभिचारसे पैदा हुआ मनुष्य) न होते हुए भी 'दस्सा' समझा जाता है। यदि कोई बीसा किसी नीच जाति (शूद्रादिक) की कन्यासे विवाह कर लेता है तो वह भी आजकल जातिसे च्युत किया जाकर दस्सा या गाटा बनादिया जाता है और उसकी संतान भी दस्सोंमें ही परिगणित होती है। इसीप्रकार यदि विधवाके साथ कराओ कर लेनेसे कोई पुत्र पैदा हो और उसका विवाह विधवासे न होकर किसी कन्यासे हो तो विधवा-पुत्रकी संतान 'व्यभिचारजात' न होते हुए भी 'दस्सा' ही कहलाती है। बहुधा वह संतान जो भर्तारके जीवित रहते हुए जारसे उत्पन्न होती है, व्यभिचारजात होते हुए भी, दस्सोंमें शामिल नहीं की जाती। कहीं कहीं पर दस्सेकी कन्यासे विवाहकर लेनेवाले बीसेको भी जातिसे खारिज(च्युत) करके दस्सोंमें शामिल कर देते हैं;परन्तु बम्बई और दक्षिण प्रान्तादि बहुतसे स्थानोंमें यह प्रथा नहीं है। वहाँपर दस्सों और बीसोंमें परस्पर विवाह

संबंध होनेसे कोई जातिच्युत नहीं किया जाता। हमारी भारतवर्षीय दिगम्बरजैनमहासभाके सभापति, जैनकुलभूषण श्रीमान् सेठ माणिकचंदजी जे.पी. बम्बईके भाई पानाचंदजीका विवाह भी एक दस्सेकी कन्यासे हुआ था; परन्तु इससे उनपर कोई कलंक नहीं आया और कलंक आनेकी कोई बात भी न थी। प्राचीन और समीचीन प्रवृत्ति भी, शास्त्रोंमें, ऐसी ही देखी जाती है, जिससे ऐसे बिवाह सम्बन्धों पर कोई दोषारोपण नहीं हो सकता। अधिक दूर जानेकी जरूरत नहीं है। श्रीनेमिनाथजी तीर्थंकरके चचा वसुदेवजीको ही लीजिये। उन्होंने एक व्यभिचारजातकी पुत्रीसे, जिसका नाम प्रियंगुसुन्दरी था, विवाह किया था। प्रियंगुसुन्दरीके पिताका अर्थात् उस व्यभिचारजातका नाम एणीपुत्र था। वह एक तापसीकी कन्या ऋषिदत्तासे, जिससे श्रावस्ती नगरीके राजा शीलायुधने व्यभिचार किया था और उस व्यभिचारसे उक्त कन्याको गर्भ रह गया था, उत्पन्न हुआ था। यह कथा श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखी है। इस विवाहसे वसुदेवजी पर, जो वड़े भारी जैनधर्मी थे, कोई कलंक नहीं आया। न कहीं पर वे पूजनाधिकारसे वंचित रक्खे गये। बल्कि उन्होंने श्रीनेमिनाथजीके समवसरणमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया है और उनकी उक्त 'प्रियगुसुन्दरी' राणीने जिनदीक्षा धारण×की है। इससे प्रगट है कि व्यभिचारजातका ही नाम दस्सा नहीं है और न कोई व्यभिचारजात (अपध्वंसज) पूजनाऽधिकारसे वंचित है। "शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः"—समस्त अपध्वंसज (व्यभिचारसे उत्पन्न हुए मनुष्य) शूद्रोंके समानधर्मी हैं—यह वाक्य यद्यपि मनुस्मृतिका है; परन्तु यदि इस वाक्यको सत्य भी मान लिया जाय और अपध्वंसजोंको ही दस्से समझ लिया जाय, तो भी वे पूजनाधिकारसे वंचित नहीं हो सकते।

× व्यभिचारजात भी दस्सा होता है ऐसा कह सकते हैं।

क्योंकि शूद्रोंको साफ़ तौरसे पूजनका अधिकार दिया गया है, जिसका कथन ऊपर विस्तारके साथ आचुका है। जब शूद्रोंको पूजनका अधिकार प्राप्त है, तब उनके समान धर्मियोंको उस अधिकारका प्राप्त होना स्वतः सिद्ध है।

पूजनका अधिकार ही क्या ? जैनशास्त्रोंके देखनेसे तो मालूम होता है कि अपध्वंसज लोग जिनदीक्षा तक धारण कर सकते हैं, जिसकी अधिकार-प्राप्ति शूद्रोंको भी प्रायः नहीं कही जाती। उदाहरणके तौरपर राजा कर्णको ही लीजिये। राजा कर्ण एक कुँवारी कन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुआ था और इसलिये वह अपध्वंसज' और 'कानीन' कहलाता है। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंश-पुराणमें लिखा है कि महाराजा जरासिंधके मारे जानेपर राजा कर्णने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर दमवर नामके दिगम्बर मुनिके निकट जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। श्रीजिनदास ब्रह्मचारिकृत हरिवंश-पुराणमें भी ऐसा ही लिखा है; जैसा कि उसके निम्नलिखित श्लोकसे प्रगट है:—

विजितोऽप्यरिभिः कर्णो निर्विण्णो मोक्षसौख्यदाम्।
दीक्षां सुदर्शनोद्यानेऽग्रहीद्दमवरान्तिके ॥ २६-२०८ ॥

अर्थात्—शत्रुओंसे विजित होनेपर राजा कर्णको वैराग्य उत्पन्न होगया और तब उन्होंने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर श्रीदमवर नामके मुनिके निकट, मोक्षका सुख प्राप्त करानेवाली, जिनदीक्षा धारण की।

इससे यह भी प्रगट हुआ कि 'अपध्वंसज' लोग अपने वर्णको छोड़कर 'शूद्र' नहीं हो जाते; बल्कि वे शूद्रोंसे कथंचित् ऊंचा दर्जा रखते हैं और इसलिये दीक्षा धारण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका पूजनाऽधिकार और भी निर्विवाद हो जाता है।

यदि थोड़ी देरके लिये व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वंचित रक्खा जावे तो कुंड, गोलक, कानीन और सहोढादिक सभी प्रकारके

व्यभिचारजात पूजनाधिकारसे वंचित रहेंगे। भर्तारके जीवित रहनेपर जो संतान जारसे उत्पन्न होती है वह 'कुंड' कहलाती है। भर्तारके मरे पीछे जो संतान जारसे उत्पन्न होती है उसको 'गोलक' कहते हैं। अपनी माताके घर रहनेवाली कुँवारी कन्यासे व्यभिचार-द्वारा जो संतान उत्पन्न होती है वह 'कानीन' कही जाती है और जो संतान ऐसी कुँवारी कन्याको गर्भ रह जानेके पश्चात् उसका विवाह हो जानेपर उत्पन्न होती है उसको सुहोढ कहते हैं। इन चारों भेदोंमेंसे गोलक और कानीनकी परीक्षा (पहचान) तथा प्रायः सहोढकी परीक्षा भी आसानीसे हो सकती है; परन्तु कुंडसंतानकी परीक्षाका और खासकर ऐसी कुंडसंतानकी परीक्षाका कोई साधन नहीं है, जो भर्तारके बारहों महीने निकट रहते हुए अर्थात् परदेशमें न होते हुए उत्पन्न हो। कुंडकी माताके सिवा और किसीको यह रहस्य मालूम नहीं हो सकता। बल्कि कभी कभी तो उसको भी इसमें भ्रम होना संभव है—वह भी ठीक ठीक नहीं कह सकती कि यह संतान जारसे उत्पन्न हुई या असली भर्तारसे। व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वंचित करने पर कुंडसंतान भी पूजन नहीं कर सकती, और कुंड-संतानकी परीक्षा न हो सकनेसे संदिग्धावस्था उत्पन्न होती है। संदिग्धाऽवस्थामें किसीको भी पूजन करनेका अधिकार नहीं होसकता; इससे पूजन करनेका ही अभाव सिद्ध हो जायगा, यह बड़ी भारी हानि होगी। अतः कोई व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वंचित नहीं होसकता। दूसरे, जब पापीसे पापी मनुष्य भी नित्यपूजन कर सकते हैं तो फिर कोरे व्यभिचारजातकी तो बात ही क्या हो सकती है ? वे अवश्य पूजन कर सकते हैं।

वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो, जैनमतके पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपाऽनुसार, कोई भी मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारसे वंचित नहीं रह सकता। जिन लोगोंने परमात्माको रागी, द्वेषी माना है—पूजन और भजनसे परमात्मा प्रसन्न होता है, ऐसा जिन-

का सिद्धान्त है—और जो आत्मासे परमात्मा बनना नही मानते, यदि वे लोग शूद्रोंको या अन्य नीच मनुष्योंको पूजनके अधिकारसे वंचित रक्खें तो कुछ आश्चर्य नही; क्योंकि उनको यह भय हो सकता है कि, कहीं नीचे दर्जेके मनुष्योंके पूजन कर लेनेसे या उनको पूजन करने देनेसे परमात्मा कुपित न हो जावे और उन सभीको फिर उसके कोपका प्रसाद न चखना पड़े। परन्तु जैनियोंका ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनी लोग परमात्माको परम वीतरागी, शान्तस्वरूप और कर्ममलसे रहित मानते है। उनके इष्ट परमात्मामें राग, द्वेष, मोह और काम-क्रोधादिक दोषोंका सर्वथा अभाव है। किसीकी निन्दा-स्तुतिसे उस परमात्मामें कोई विकार उत्पन्न नही होता और न उसकी वीतरागता या शान्ततामें किसी भी कारणसे कोई बाधा उपस्थित हो सकती है। इसलिये किसी क्षुद्र या नीचे दर्जेके मनुष्यके पूजन कर लेनेसे परमात्माकी आत्मामें कुछ मलिनता आ जायगी, उसकी प्रतिमा अपूज्य हो जायगी अथवा पूजन करनेवालेको कुछ पाप-बन्ध हो जायगा, इस प्रकारका कोई भय ज्ञानवान् जैनियोंके हृदयमें उत्पन्न नही हो सकता। जैनियोंके यहां इस समय भी चांदनपुर (महावीरजी) आदि अनेक स्थानोंपर ऐसी प्रतिमाओंके प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद हैं, जो शूद्र या बहुत नीचे दर्जेके मनुष्योंद्वारा भूगर्भसे निकाली गईं, स्पर्शी गईं, पूजी गई और पूजी जाती हैं; परन्तु इससे उनके स्वरूपमें कोई परिवर्त्तन नही हुआ, न उनकी पूज्यतामें कोई फ़र्क़ (भेद) पड़ा और न जैनसमाजको ही उसके कारण किसी अनिष्टका सामना करना पड़ा; प्रत्युत वे बराबर जैनियोंसेही नही किन्तु अजैनियोंसे भी पूजी जाती हैं और उनके द्वारा सभी पूजकोंका हितसाधन होनेके साथ साथ धर्मकी भी अच्छी प्रभावना होती है। अतः जैनसिद्धान्तके अनुसार किसी भी मनुष्यके लिये नित्यपूजनका निषेध नहीं हो सकता। दस्सा, अपध्वंसज या व्यभिचारजात सबको इस पूजनका पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि—अपने आन्तरिक

द्वेष, आपसी वैमनस्य, धार्मिक भावोंके अभाव और हृदयकी संकीर्णता आदि कारणोंसे—एक जैनी किसी दूसरे जैनीको अपने घर या अपने अधिकृत मंदिरमें ही न आने दे अथवा आने तो दे किन्तु उसके पूजन कार्यमें किसी न किसी प्रकारसे बाधक हो जावे। ऐसी बातोंसे किसी व्यक्तिके पूजनाऽधिकार पर कोई असर नहीं पड़ सकता। वह व्यक्ति खुशीसे उस मंदिरमें नहीं, तो अन्यत्र पूजन कर सकता है। अथवा स्वयं समर्थ और इस योग्य होने पर अपना दूसरा नवीन मंदिर भी बनवा सकता है। अनेक स्थानोंपर ऐसे भी नवीन मंदिरोंकी सृष्टिका होना पाया जाता है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि आगम और सिद्धान्तसे तो दस्सोंको पूजनका अधिकार सिद्ध है और अधिकतर स्थानों पर वे बराबर पूजन करते भी हैं; परन्तु कहीं कहीं दस्सोंको जो पूजनका निषेध किया जाता है वह किसी जातीय अपराधके कारण एक प्रकारका तत्रस्थ जातीय दंड है, तो कहना होगा कि शास्त्रोंकी आज्ञाको उल्लंघन करके धर्मगुरुओंके उद्देश्य-विरुद्ध ऐसा दंडविधान करना कदापि न्यायसंगत और माननीय नहीं हो सकता और न किसी सभ्य जातिकी ओरसे ऐसी आज्ञाका प्रचारित किया जाना समुचित प्रतीत होता है कि 'अमुक मनुष्य धर्मसेवनसे वंचित किया गया और उसकी संतानपरम्परा भी धर्मसेवनसे वंचित रहेगी।'

सासारिक विषयवासनाओंमें फँसे हुए मनुष्य वैसे ही धर्मकार्योंमें शिथिल रहते हैं, उलटा उनको दंड भी ऐसा ही दिया जावे कि वे धर्मके कार्य न करने पावें, यह कहांकी बुद्धिमानी, वत्सलता और जातिहितैषिता होसकती है ? सुदूरदर्शी विद्वानोंकी दृष्टिमें ऐसा दंड कदापि आदरणीय नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्योंके किसी अपराधके उपलक्षमें तो वही दंड प्रशंसनीय हो सकता है जिससे धर्मसाधन तथा अपने आत्म-सुधारका और अधिक अवसर मिले और उसके द्वारा वे अपने पापोंका शमन या संशोधन कर सकें—न यह कि डूबतेको

और धक्का दिया जावे ! बिरादरी या जातिका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसीसे धर्मके कार्य छुड़ाकर उसको पाप-कार्योंके करनेका अवसर देवे।

इसके सिवा जो धर्माऽधिकार किसीको स्वाभाविक रीतिसे प्राप्त है उसके छीन लेनेका किसी बिरादरी या पंचायतको अधिकार ही क्या है ? बिरादरीके किसी भाईसे यदि बिरादरीके किसी नियमका उल्लंघन हो जावे या कोई अपराध बन जावे तो उसके लिये बिरादरीका केवल इतना ही कर्त्तव्य हो सकता है कि वह उस भाई पर कुछ आर्थिक दंड कर देवे या उसको अपने अपराधका प्रायश्चित्त लेनेके लिये बाधित करे और जब तक वह अपने अपराधका योग्य प्रायश्चित्त न ले ले तब तक बिरादरी उसको बिरादरीके कामोंमें अर्थात् विवाह-शादी आदिक लौकिक कार्योंमें शामिल न करे और न बिरादरी उसके यहाँ ऐसे कार्योंमें सम्मिलित हो। इसी प्रकार वह उससे खाने पीने लेने देने और रिश्तेनातेका सम्बन्ध भी छोड़ सकती है। परन्तु, इससे अधिक, धर्ममें हस्तक्षेप करना बिरादरीके अधिकारसे बाह्य है और किसी बिरादरीके द्वारा ऐसा किये जानेका फलितार्थ यही हो सकता है कि वह बिरादरी, एक प्रकारसे, अपने पूज्य धर्मगुरुओंकी अवज्ञा–अवहेलना करती है।

जिन लोगों (जैनियों) के हृदयमें ऐसे दंडविधानका विकल्प उत्पन्न हो उनको यह भी समझना चाहिये कि किसीके धर्मसाधनमें विघ्न करना बड़ा भारी पाप है। अंजनासुन्दरीने अपने पूर्वजन्ममें थोड़ेही कालके लिये, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन-पूजनमें अंतराय डाला था। उसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्षतक पतिका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अनेक संकट तथा आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीपद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है।

रयणसार ग्रन्थमें श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजने लिखा है कि—दूसरों-

के पूजन और दानमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्मजन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगंदर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत-उष्णके आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती है: –

खयकुट्टसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो ।
सीदुण्हवह्मराइ पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥ ३३ ॥

इसलिये पापोंसे डरना चाहिये और किसीको दंडादिक देकर पूजनसे वंचित करना तो दूर रहा, भूल कर भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे दूसरोंके पूजनादिक धर्मकार्योंमें किसी प्रकारसे कोई बाधा उपस्थित हो। बल्कि—

उपसंहार

उचित तो यह है कि, दूसरोंको हरतरहसे धर्मसाधनका अवसर दिया जाय और दूसरोंकी हितकामनासे ऐसे अनेक साधन तैयार किये जाँय जिनसे सभी मनुष्य जिनेन्द्रदेवके शरणागत हो सकें और जैन-धर्ममें श्रद्धा तथा भक्ति रखते हुए खुशीसे जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजनादि करके अपनी आत्माका कल्याण कर सकें।

इसके लिये जैनियोंको अपने हृदयकी संकीर्णता दूरकर उसको बहुत कुछ उदार बनानेकी ज़रूरत है। अपने पूर्वजोंके उदार-चरितों-को पढ़कर, जैनियोंको उनसे तद्विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनके अनुकरणद्वारा अपना और जगतके अन्य जीवोंका हित-साधन करना चाहिए।

भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणको देखनेसे मालूम होता है कि आदीश्वर भगवानके सुपुत्र भरत महाराज प्रथम चक्रवर्तीने अपनी राजधानी अयोध्यामें रत्नखचित जिनबिम्बोंसे अलंकृत चौबीस चौबीस घंटे तय्यार कराकर उनको, नगरके बाहरी दरवाजों और राजमहलोंके तोरणद्वारों तथा अन्य महाद्वारों पर, सोनेकी

जंजीरोंमें बाँधकर, प्रलम्बित किया था। जिस समय भरतजी इन द्वारोंमेंसे होकर बाहर निकलते थे या इनमें प्रवेश करते थे उस समय वे तुरन्त अर्हन्तोंका स्मरण करके, इन घंटोंमें स्थित अर्हत्प्रतिमाओंकी वन्दना और उनका पूजन करते थे। नगरके लोगों तथा अन्य प्रजाजनोंने भरतजीके इस कृत्यको बहुत पसंद किया, वे सब उन घंटोंका आदर-सत्कार करने लगे और उसके पश्चात् पुरजनोंने भी अपनी अपनी शक्ति और विभवके अनुसार उसी प्रकारके घंटे अपने अपने घरोंके तोरणद्वारोंपर लटकाये *। भरतजीका यह उदारचरित बड़ा ही चित्तको आकर्षित करनेवाला है और इस (प्रकृत) विषयकी बहुत कुछ शिक्षा प्रदान करनेवाला है। उनके अन्य उदार और चरितोंका बहुत कुछ परिचय आदिपुराणके देखनेसे मिल सकता है। इसीप्रकार और भी सैंकड़ों और हजारों महात्माओंका नामोल्लेख

---

* उपर्युक्त आशयको प्रगट करने वाले आदिपुराण (पर्व ४१) के वें आर्षवाक्य इस प्रकार है :—

निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिम्बैरलंकृताः ।
परार्घ्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभिः ॥ ८७ ॥
लम्बिताश्च बहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः ।
राजवेश्म-महाद्वार-गोपुरष्वप्यनुक्रमात् ॥ ८८ ॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः ।
तदा मौलाग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥ ८६ ॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाऽभिवन्दनाम् ।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥ ६० ॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना ।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादरः ॥ ६३ ॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्म-तोरण-दामसु ।
यथाविभवमाबद्धा घंटास्ताः सपरिच्छदाः ॥ ६४ ॥

किया जा सकता है। जैनसाहित्यमें उदारचरित-महात्माओंकी कमी नहीं है। आज कल भी जो अनेक पर्वतोंपर खुले मैदानमें तथा गुफाओंमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं और दक्षिणादिदेशोंमें कहीं कहींपर जिनप्रतिमाओंसहित मानस्तंभादिक पाये जाते हैं, वे सब जैनपूर्वजोंकी उदार-चित्तवृत्तिके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। उदारचरित-महात्माओंके आश्रित रहनेसे ही यह जैनधर्म अनेकवार विश्वव्यापी हो चुका है। अब भी यदि राष्ट्रधर्मका सेहरा किसी धर्मके सिर बँध सकता है तो वह यही धर्म है जो प्राणीमात्रका शुभचिन्तक है। ऐसे धर्मको पाकर भी हृदयमें इतनी संकीर्णता और स्वार्थपरताका होना, कि एक भाई तो पूजन कर सके और दूसरा भाई पूजन न करने पावे, जैनियोंके लिये बड़ी भारी लज्जाकी बात है। जिन जैनियोंका 'वसुधैव कुटुम्बकम्'× यह खास सिद्धान्त था; क्या वे उसको यहाँ तक भुला बैठे कि अपने सहधर्मियोंमें भी उसका पालन और वर्त्ताव न करें! जातिभेद या वर्णभेदके कारण आपसमें ईर्षा-द्वेष रखना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करना और अपने लौकिक कार्यों-संबंधी कषायको धार्मिक कार्यमें निकालना, ये सब जैनियोंके आत्म-गौरवको नष्ट करनेवाले कार्य हैं। जैनियोंको इनसे बचना चाहिये और समझना चाहिये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपनी अपनी क्रियाओं (वृत्ति)के भेदकी अपेक्षा वर्णन किये गये हैं। वास्तवमें चारों ही वर्ण जैनधर्मको धारण करने एवं जिनेंद्रदेवकी पूजा-उपासना करनेके योग्यहैं और इस सम्बन्धसे जैनधर्मको पालन करते हुए सब आपसमें भाई भाईके समान हैं※। इसलिये, हृदयकी संकीर्णता-

---

× समस्त भूमंडल अपना कुटुम्ब है।

※ विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः॥

—सोमसेनाचार्य

को त्यागकर धार्मिक कार्योंके अनुष्ठानमें सब जैनियोंको परस्पर बन्धुताका बर्ताव करना चाहिये और आपसमें प्रेम रखते हुए एक दूसरेके धर्मकार्योंमें सहायक होना चाहिये । इसी प्रकार जो लोग जैनधर्मकी शरणमें आवें या आना चाहें, उनको सब प्रकारसे धर्म-*साधनमें सहायता देनी चाहिये ।*

आशा है हमारे विचारशील निष्पक्ष विद्वान् और परोपकारी भाई इस मीमांसाको पढ़कर सत्यासत्यके निर्णयमें दृढता धारण करेंगे और अपने कर्त्तव्यको समझकर जहाँ कहीं, सुशिक्षाके अभाव और संसर्गदोषके कारण, आगम और धर्मगुरुओंके उद्देश्य-विरुद्ध प्रवृत्ति पाई जावे उसके उठाने और उसके स्थानमें शास्त्रसम्मत समीचीनरीतिका प्रचार करनेमें दत्तचित्त और यत्नशील होंगे ।

६

जैनियोंका अत्याचार

जो जैनी वनस्पतिकायके जीवोंकी भी रक्षा करते है, उनके ऊपर अत्याचारके दोषका आरोपण होते देख बहुतसे पाठक चौंकेंगे—परन्तु नहीं, चौंकनेकी ज़रूरत नहीं है। वास्तवमें जैनियोंने घोर अत्याचार किया है और वे अब भी कर रहे हैं। हमारे भाइयोंने अभी तक इस ओर लक्ष्य ही नहीं दिया और न कभी एकान्तमें बैठकर इस पर विचारही किया है। यदि जैनियोंके अत्याचारकी मात्रा बढ़ी हुई न होती तो आज जैनियोंका इतना पतन कदापि न होता—जैनियोंकी यह दुर्दशा कभी न होती। जैनियोंका समस्त अभ्युदय नष्ट होजाना, इनके ज्ञान-विज्ञानका नामशेष रह जाना, अपने बल-पराक्रमसे जैनियोंका हाथ धो बैठना, अपना राज्य गँवा देना, धर्मसे च्युत और आचारभ्रष्ट हो जाना तथा जैनियोंकी संख्याका दिनपरदिन कम होते जाना और जैनियोंका सर्वप्रकारसे नगण्य और निस्तेज हो रहना, यह सब अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है—इन सबका कोई प्रधान कारण ज़रूर है, और वह है 'जैनियोंका अत्याचार'।

जिस समय हम जैनसिद्धान्तको देखते हैं, जैनियोंकी कर्म-फ़िलासोफ़ीका अध्ययन करते हैं और साथ ही जैनियोंकी यह पतितावस्था क्यों? लौकिक और परमार्थिक दोनों प्रकारकी उन्नतिसे जैनी इतने पीछे क्यों? इस विषयपर अनुसंधानपूर्वक गंभीर भावसे गहरा

विचार करते हैं तो उस समय हमको मालूम होता है और कहना पड़ता है कि यह सब जैनियोंके अपने ही कर्मोंका फल है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। अवश्य ही जैनियोंने कुछ ऐसे काम किये हैं जिनका कटुक फल वे अब तक भुगत रहे हैं। यह कभी हो नहीं सकता कि अत्याचार तो करें दूसरे लोग और फल उसका भोगना पड़े जैनियोंको। जैन फिलासोफ़ी इसको माननेके लिए तैयार नहीं। यदि थोड़ी देरके लिए उस मनुष्यको भी जिसपर अत्याचार किया गया हो, कोई बुरा फल सहन करना हो अथवा किसी आपत्तिका निशाना बनना पड़े, तो कहना होगा कि उसने भी ज़रूर अपनी चेष्टा या अपने मन-वचनादिकके द्वारा दूसरोंके प्रति कोई अत्याचारविशेष किया है और वह बुरा फल उसके ही किसी कर्मविशेषका नतीजा है। यही हालत जैनसमाजकी है। यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछले समयमें जैनियों पर थोड़े बहुत अत्याचार ज़रूर हुए हैं; परन्तु वे अत्याचार जैनियोंकी वर्तमान दशाके कारण नहीं हो सकते। जैनियोंकी वर्तमान अवस्था कदापि उनका फल नहीं है। यदि जैनियोंने उन अत्याचारोंको मनुष्य बनकर सह लिया होता और स्वयं उनसे अधिक अत्याचार न किया होता तो ज़रूर था कि यह जैनबाग़ (जैनसमाज दूसरोंके अत्याचाररूपी खाद (Manure) से और भी हराभरा और सरसब्ज होता—खूब फलता और फूलता; परन्तु जैनियोंको ऐसी सद्बुद्धि ही उत्पन्न नहीं हुई। उनके विचार प्रायः इतने संकीर्ण और स्वार्थमय रहे है कि सदसद्विवेकवती बुद्धि-को उनके पास फटकनेमें भी लज्जा आती थी। अत्याचार और भी अनेक धर्मानुयायिओंको सहन करने पड़े हैं; परन्तु उनमेंसे जिन्होंने अपने कर्त्तव्यपथको नहीं छोड़ा, अपने सामाजिक सुधारको समझा, उन्नतिके मार्गको पहचाना, अपनी त्रुटियोंको दूर किया, सबको प्रेम-की दृष्टिसे देखा और अपने स्वार्थको गौणकर दूसरोंका हितसाधन किया, वे दुःखके दिन व्यतीत करके आज अपने सत्कर्मोंका सुमधुर

फल भोग रहे हैं। इससे साफ़ प्रगट है कि जैनियोंकी वर्तमान दशा उन अत्याचारोंका फल नहीं है जो जैनियों पर हुए, बल्कि उन अत्याचारोंका फल है जो जैनियोंने दूसरों पर किये और जो परस्पर जैनियोंने एक दूसरे पर किये। सच है, **मनुष्योंका अपने ही कर्मोंसे पतन और अपने ही कर्मोंसे उत्थान होता है**। जिन जैनियोंके ज्ञान और आचरणकी किसी समय चारों ओर धाक थी, जिनके सर्व-प्राणिप्रेमने अनेकवार जगतको हिला दिया, और जिनका राज्य समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था; आज वे ही जैनी बिल्कुल ही रंक बने हुए है! यह सब जैनियोंके अपने ही कर्मोंका फल है। इसके लिए किसीको दोष देना–किसी पर इलजाम लगाना–भूल है। जैनियोंकी वर्तमान स्थिति इस बातको बतला रही हैं कि, उन्होंने ज़रूर कोई भारी अत्याचार किये हैं; तभी उनकी ऐसी शोचनीय दशा हुई है।

जैनियोंने एक बड़ा भारी अपराध तो यह किया है कि इन्होंने दूसरे लोगोंको धर्मसे वंचित रक्खा है। ये खुद ही धर्मरत्नके भंडारी और खुद ही उसके सोल प्रोप्राईटर (अकेले ही मालिक) बन बैठे! दूसरे लोगोंको—दूसरे समाज-वालों तथा दूसरे देशनिवासियोंको—धर्म बतलाना, धर्मके मार्ग पर लगाना तो दूर रहा, इन्होंने उलटा उन लोगोंसे धर्मको छिपाया है। इनकी अनुदार-दृष्टिमें दूसरे लोग प्रायः बड़ी ही घृणाके पात्र रहे हैं, वे मनुष्य होते हुए भी मनुष्यधर्मके अधिकारी नहीं समझे गये! यद्यपि जैनी अपने मंदिरोंमें यह तो बराबर घोषणा करते रहे कि 'मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई शत्रु नहीं है, मिथ्यात्व ही संसारमें परिभ्रमण करानेवाला और समस्त दुःखोंका मूल कारण है। परन्तु मिथ्यात्वमें फँसे हुए प्राणियोंपर इन्हें ज़रा भी दया नहीं आई, उनकी हालत पर इन्होंने ज़रा भी तरस नहीं खाया और न मिथ्यात्व छुड़ानेका कोई यत्न ही किया। इनका चित्त इतना कठोर हो गया कि दूसरोंके दुख सुखसे इन्होंने कुछ सम्बन्ध ही नहीं रक्खा।

जिस प्रकार कोई दुरात्मा पुत्र अपने स्वार्थमें अंधा होकर यह चाहता है कि मैं अकेला ही पैतृक-सम्पत्तिका मालिक बन बैठूँ और अपनी इस कामनाको पूरा करनेके लिए वह अपने पिताके समस्त धन पर अधिकार कर लेता है—यदि पिताने कोई वसीयत भी की हो तो उसको छिपानेकी चेष्टा करता है- और अपने उन भाइयोंको जो दूरदेशान्तरमें रहनेवाले हैं, जो नाबालिग़ (अव्युत्पन्न) हैं, जो भोले या मूर्ख हैं, जिनको अन्य प्रकारसे पिताके धनकी कुछ खबर नहीं है अथवा जो निर्बल हैं उन सबको अनेक उपायों-द्वारा पैतृक-सम्पत्तिसे वंचित कर देता है। उसे इस बातका ज़रा भी दुख-दर्द नहीं होता कि मेरे भाइयोंकी क्या हालत होगी ? उनके दिन कैसे कटेंगे ? और न कभी इस बातका ख़याल ही आता है कि मैं अपने भाइयों पर कितना अन्याय और अत्याचार कर रहा हूँ, मेरा व्यवहार कितना अनुचित है, मैं अपने पिताकी आत्माके सन्मुख क्या मुँह दिखाऊँगा। उसके विवेकनेत्र बिल्कुल स्वार्थसे बन्द हो जाते हैं और उसका हृदययंत्र संकुचित होकर अपना कार्य करना छोड़ देता है। ठीक उसी प्रकारकी घटना जैनियोंकी हुई है। ये अकेले ही परमपिता श्री महावीरजिनेन्द्रकी सम्पत्तिके अधिकारी बन बैठे! "समस्त जीव परस्पर समान हैं; जैनधर्म आत्माका निजधर्म है; प्राणीमात्र इस धर्मका अधिकारी है; सबका जैनधर्म बतलाना चाहिये और सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखते हुए उनके उत्थानका यत्न करना चाहिए।" वीरजिनेन्द्रकी इस वसीयतको—उनके इस पवित्र आदेशको- इन स्वार्थी पुत्रोंने छिपानेकी पूर्णरूपसे चेष्टा की है। इन्होंने अनेक उपाय करके अपने दूसरे भाइयोंको धर्मसे कोरा रक्खा, उनकी हालत पर ज़रा भी रहम नहीं खाया और न कभी अपने इस अन्याय, अत्याचार और अनुचित व्यवहार पर विचार या पश्चात्ताप ही किया है। बल्कि जैनियोंका यह अत्याचार बहुत कुछ अंशोंमें उस स्वार्थान्ध-पुत्रके अत्याचारसे भी बढ़ा रहा। क्योंकि

किसी अधिकारीको धनादिकसे वंचित रखना, यद्यपि, अत्याचार ज़रूर है; परन्तु जान-बूझकर किसीको आत्मलाभसे वंचित रखना, यह उससे कहीं बढ़कर अत्याचार है। मेरा तो, इस विषयमें, यहाँ तक खयाल है कि यह अत्याचार किसीको जानसे मार डालनेकी अपेक्षा भी अधिक है। धनादिक पर-पदार्थोंका वियोग इतना दुःखजनक नहीं हो सकता जितना कि आत्मलाभसे वंचित रहना। जो लोग अपनी आत्माको जानते हैं, अपने स्वरूपको पहचानते हैं, धर्म क्या और अधर्म क्या इसका जिन्हें बोध है, उनको धनादिकका वियोग भी इतना कष्टकर नहीं होता जितना कि न जानने और न पहचाननेवालों को होता है। इसलिये दूसरोंको धर्मसे वंचित रखना उनके लिये घोर दुःखोंकी सामग्री तैयार करना है। क्या इस अत्याचारका भी कहीं ठिकाना है? शोक! ऐसा महान् अत्याचार करनेवाले जैनियोंका पाषाणहृदय, दूसरोंके दुःखोंका स्मरण ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी ज़रा नहीं पसीजा—आत्मलाभसे वंचित पापी और मिथ्यादृष्टि मनुष्य जैनियोंके सन्मुख ही अनेक प्रकारके अनर्थ और पापाचरण करके अपनी आत्माओंका पतन करते रहे; परन्तु जैनियोंको उन पर कुछ भी दया नहीं आई और न दूसरे जीवोंकी रक्षाका ही कुछ खयाल उत्पन्न हुआ।

संसारमें ऐसा व्यवहार है कि यदि कोई अंधा मनुष्य कहीं चला जा रहा हो और उसके आगे कुआँ आजाय तो देखनेवाले उस अंधेको तुरन्त ही सावधान कर देंगे और अपनी समस्त शक्तिको, उसे कुएँमें गिरनेसे बचाने अथवा गिर जाने पर उसके शीघ्र निकालनेमें, लगा देंगे। यदि कोई मनुष्य अंधेके आगे कुआँ देखकर भी चुपचाप बैठा रहे और उसकी रक्षाका कुछ भी उपाय न करे तो वह बहुत पापी और निन्द्य समझा जाता है। किसी कविने कहा भी है—

जब तू देखै आँखसे, अंधे आगे कूप।
तब तेरा चुप बैठना, है निश्चय अघरूप॥

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य किसीको दिनदहाड़े लूटता हो और दूसरा आदमी उसके इस कृत्यको देखता हुआ भी आनन्दसे हुक्क़ा गुड़गुड़ाता रहे और उसके बचानेकी कुछ भी कोशिश न करे, तो कहना होगा कि वह महा अपराधी है। जैनी लोग इस बातको बराबर स्वीकार करते आए हैं कि मिथ्यादृष्टि लोग अंधे होते हैं—उन्हें हित-अहित कुछ भी सूझ नहीं पड़ता; परन्तु जैनियोंके सन्मुख ही लाखों और करोड़ों मिथ्यादृष्टि अतत्त्वश्रद्धारूपी कुएँमें बराबर गिरते रहे तोभी इन सुदृष्टियोंको उनपर ज़राभी दया न आई! इन्होंने अपने मौनव्रतको भंगकर उनके बचाने या निकालनेकी कुछ भी चेष्टा नही की। और तो क्या, इनके सामनेही बहुतसे इनके भाइयों (जैनियों)-का धर्म-धन लूट लिया गया और वे मिथ्यादृष्टि बना दिये गये;परन्तु फिर भी इनके कठोर चित्तपर कुछ आघात नही पहुँचा। ये बराबर अपने आनन्दमें मस्त रहे। कोई जीयो या मरो, इन्होंने उसकी कुछ पर्वाह नही की। बल्कि ये लोग उलटा खुश हुए और इन्होंने जान-बूझकर अपने बहुतसे भाइयोंको लुटेरोंके सुपुर्द किया। यदि किसी भाईसे कोई अपराध या खोटा आचरण बन गया तो इन्होंने उसको अपनेमेंसे ऐसे निकालकर फैक दिया जैसा कि दूधमेंसे मक्खीको निकाल कर फेक देते हैं। इन्होंने उसको कुछ भी धीर-दिलासा नहीं दिया, न इन्होंने उसके खोटे आचरणको छुड़ाकर धर्ममें स्थिर करने की कोशिश की और न प्रायश्चित्त आदिसे शुद्ध करनेका कोई यत्न ही किया। बल्कि उसके साथ बिल्कुल शत्रुओं-सरीखा व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया। नतीजा इसका यह हुआ कि उसको अपनी संसार-यात्राका निर्वाह करनेके लिए दूसरोंका शरण लेना पड़ा और वह हमेशाके लिए जैनियोंसे बिछड़ गया। इससे समझ लीजिए कि जैनियोंने कितना बड़ा अपराध और अत्याचार किया है—कहाँ तक इन्होंने अपने धर्मका उल्लंघन और कहां तक उसके विरुद्ध आचरण किया है।

मनुष्यका यह धर्म नहीं है कि यदि कोई मनुष्य किसी नदी आदिमें गिरता हो या बहता जाता हो तो उसको उलटा धक्का दे दिया जावे और यदि वह किनारेके पास भी हो और निकलना भी चाहता हो तो उसको ठोकर मारकर और दूर फेंक दिया जावे, जिससे वह निकलनेके क़ाबिल भी न रहे। बल्कि इसके विपरीत उसको न गिरने देना या हस्तावलम्बन देकर निकालना ही मनुष्य-धर्म कहलाता है। इसीलिए जैनियोंके यहाँ 'स्थितिकरण' धर्मका अंग रक्खा गया है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने 'रत्नकरंड श्रावकाचार'में इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है :—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥

अर्थात्—जो लोग किसी कारणवश अपने यथार्थ श्रद्धान तथा चारित्रसे डिगते हों, तो धर्मसे प्रेम रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि उनको फिरसे अपने श्रद्धान और आचरणमें दृढ कर दें। यही 'स्थितिकरण' अंग कहलाता है।

परन्तु शोक! जैनियोंने यह सब कुछ भुला दिया। गिरतेको सहारा या हस्तावलम्बन देना तो दूर रहा इन्होंने उलटा उसको और ज़ोरका धक्का दिया। श्रद्धान और आचरणसे डिगना तो दूसरी बात, यदि किसीने रूढियों (आधुनिक जैनियोंके सम्यक्चारित्र?) के विरुद्ध ज़रा भी आचरण किया अथवा उनके विरुद्ध अपना ख़याल भी ज़ाहिर किया तो बस उस बेचारे की शामत आगई, और वह झट जैनसमाजसे अपना अलग जीवन व्यतीत करनेके लिए मजबूर किया गया! जैनियोंके इस अत्याचारसे हज़ारों जैनी गाटे दस्से या विनैकया बन गये; लाखों अन्यमती हो गये, जैनियोंके देखते देखते मुसलमानी ज़मानेमें लाखों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जबरन् मुसलमान बना लिये गये; और इस ज़मानेमें तो कितने ही ईसाई बना लिये गये; परन्तु जैनियोंके संगदिल (पाषाणहृदय)

पर इससे कुछ भी चोट नहीं लगी। इन्होंने आजतक भी उन सबोंके शुद्ध करनेका—अपने बिछुड़े हुए भाइयोंको फिरसे गले लगानेका—कोई उपाय नहीं किया। ऐसा कोई अपराध नहीं जिसका प्रायश्चित्त न हो सके। भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्यसे भी प्रगट है कि—'यदि किसी मनुष्यके कुलमें किसी भी कारणसे कभी कोई दूषण लग गया हो तो वह राजा या पंच आदिकी सम्मतिसे अपनी कुलशुद्धि कर सकता है। और यदि उसके पूर्वज—जिन्होंने दोष लगाया हो—दीक्षायोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उस कुलशुद्धि करनेवालेका और उसके पुत्र-पौत्रादिक संतानका यज्ञोपवीत-संस्कार भी हो सकता है।' वह वाक्य इस प्रकार है :—

कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम्॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसंततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः॥

—आदिपुराण, पर्व ४०

इससे दस्सों और हिन्दूसे मुसलमान या ईसाई बने हुए मनुष्योंकी शुद्धिका खासा अधिकार पाया जाता है। बल्कि शास्त्रोंमें उन म्लेच्छोंकी भी शुद्धिका विधान देखा जाता है जो मूलसे ही अशुद्ध हैं। आदिपुराणमें यह उपदेश स्पष्ट शब्दोंमें दिया गया है कि, 'प्रजाको बाधा पहुँचानेवाले अनक्षर (अनपढ़) म्लेच्छोंको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेने चाहिएँ। यथा:—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥

—आदिपुराण, पर्व ४२

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी जैनियोंके संकीर्ण हृदयने महात्माओंके इन उदार और दयामय उपदेशोंको ग्रहण नहीं किया। सच भी है, सेरभरके पात्रमें मनभर कैसे समा सकता है? अपात्र

जैनियोंके हाथमें जैनधर्म पड़ जानेसे ही उन्होंने जैनधर्मका गौरव नहीं समझा और इसलिए दूसरोंपर मनमाना अत्याचार किया है।

मैं कहता हूँ कि दूसरोंको धर्म बतलाने या सिखलानेमें धार्मिक-भाव और परोपकार बुद्धिको जाने दीजिए, जैनियोंने यह भी नहीं समझा कि परिस्थिति कितने महत्वकी चीज़ है। क्या परिस्थिति कभी उपेक्षणीय हो सकती है? कदापि नहीं। जहाँ चारों ओरका जलवायु दूषित हो वहाँ कदापि आरोग्यता नहीं रह सकती। जहाँ चारों ओर मिथ्या-दृष्टियों और पापाचारियोंका प्राबल्य हो वहाँ जैनी भी अपना सम्यक्त्व और धर्म क़ायम नहीं रख सकते। यदि जैनियोंने इस परिस्थितिके महत्वको ही समझ लिया होता तब भी वे आत्मरक्षाके लिए ही दूसरोंकी स्थितिका सुधार करना अपना कर्तव्य समझते, अवश्य ही दूसरोंको धर्मकी शिक्षा देनेका प्रयत्न करते और कदापि धर्मप्रचारके कार्यसे उपेक्षित न होते; परन्तु महर्षियों-द्वारा संरक्षित वीरजिनेन्द्रकी सम्पत्तिको पाकर जैनी ऐसे कृपण बने—इनमें चित्तको कठोर करनेवाली ऐसी धार्मिक-कृपणता आई कि दूसरोंको उस सम्पत्तिसे लाभ पहुँचाना तो दूर रहा ये खुद भी उससे कुछ लाभ न उठा सके। यदि इस परमोत्कृष्ट जैनधर्मको पाकर जैनी अपना ही कुछ भला करते तो भी एक बात थी; परन्तु कृपणका धन जिस प्रकार दान और भोगमें न लगकर तृतीया गति (नाश) को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार जैनियोंने जैनधर्म भी तृतीया गतिको पहुँचा दिया—न आप इससे कुछ लाभ उठाया और न दूसरोंको उठाने दिया—और जिस प्रकार बादल सूर्यके प्रकाशको रोक लेते हैं उसी प्रकार इन धार्मिक-कृपणोंने जैनधर्मके प्रकाशको आच्छादित कर दिया!

जैनियोंने जिनवाणी माताके साथ जैसा सलूक किया है उसको याद करके तो हृदय कापता है और शरीरके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्होंने माताको उन अंधेरी कोठरियोंमें बंद करके रक्खा, जहाँ रोशनी और हवाका गुज़र नहीं; उसका अंग चूहोंसे कुतरवाया और दीमकों-

को खिलाया; माता गलती है या सड़ती, जीती है या मरती, इसकी इन्होंने कुछ भी पर्वाह नहीं की ! हजारों जैनग्रन्थोंकी मिट्टी हो गई, हजारों शास्त्र चूहों और दीमकोंके पेटमें चले गये, लाखों और करोड़ों मनुष्य मातृवियोग दुःखसे पीड़ित रहे; परन्तु इन समस्त दृश्योंसे जैनियोंके वज्रहृदय पर कुछ भी चोट नहीं लगी ! माता पर इस प्रकारके अत्याचार करते हुए जैनियोंका हृदय ज़रा भी कम्पायमान नही हुआ और इन्हें कुछ भी लज्जा या शर्म नहीं आई !! इन्होंने उलटी यहाँ तक निर्लज्जता धारण की कि अपने इन अत्याचारोंका नाम 'विनय' रख छोड़ा ! वास्तवमें इनका नाम विनय नहीं है,-ये घोर अत्याचार हैं—और न ढाई हाथ दूरसे हाथ जोड़ने या चावलके दाने चढ़ा देनेका नाम ही विनय है। जिनवाणीका विनय है—जैनशास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना, उनके मुताबिक—उनकी शिक्षाओंके अनुसार—चलना और उनका सर्वत्र प्रचार करना। इस वास्तविक विनयसे जैनी प्रायः कोसों दूर रहे और इसलिए इन्होंने माताका घोर अविनय ही नहीं किया, बल्कि कितने ही जैनशास्त्रोंका लोप भी किया है। उसीका फल है जो आज बहुतसे शास्त्र नहीं मिलते। इनकी इस विलक्षण विनयवृत्तिको देखकर ही एक दुःखित हृदय कविने कहा है:—

बस्ते बँधे पड़े हैं अ़लूमो फ़नूनके×।
चावल चढ़ावें उनको बस इतने हैं कामके !!

इसीप्रकार जैनियोंने स्त्रीसमाज पर जो अत्याचार किया है वह भी कुछ कम नहीं है। इन्होंने लड़कियोंको बेचा, धनके लालचसे अपनी सुकुमार बालिकाओंको यमके यजमानोंके गले बांध उन्हें हमेशाके लिये पापमय जीवन व्यतीत करनेको मजबूर किया, अनमेल सम्बन्ध करके स्त्रियोंका जीवन दुःखमय बनाया और उन्हें अनेक प्रकारका दुःख और कष्ट पहुँचाया; पर इन सब अत्याचारोंको रहने दीजिए।

× विद्याओं-विज्ञानो तथा कला-कौशलके।

जैनियोंने इन सब अत्याचारोंसे बढ़कर स्त्रीसमाज पर जो भारी अत्याचार किया है उसका नाम है स्त्रीसमाजको अशिक्षित रखना। स्त्रियों और बालिकाओंको विद्या न पढ़ाकर जैनियोंने उनके साथ बड़ी ही शत्रुताका व्यवहार किया है। जिस विद्या और ज्ञानके बिना मनुष्य निद्रित, अचेत, पशु और मृतकके तुल्य वर्णन किये गये हैं और जिसके विना सुख-शांतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी विद्या और ज्ञानसे, जैनियोंने स्त्रियोंको वंचित रक्खा, यह इनका कितना बड़ा अन्याय है! जैनियोंने स्त्रियोंकी योग्यता और उनकी विद्या-सम्पादन-शक्तिको न समझा हो, ऐसा नहीं; किन्तु 'लड़कियाँ पराए घरका धन और पराए घरकी चाँदनी हैं, वे हमारे कुछ काम नहीं आ सकतीं।' इस स्वार्थमय वासनासे जैनियोंने उन्हें विद्यासे विमुख रक्खा है। इस नीच विचारने ही जैनियोंको अपनी संतानके प्रति ऐसा निर्दय बनाया और इतना विवेकहीन बनाया कि उन्होंने स्त्री-समाजके साथ पशुओं-सदृश व्यवहार किया, उन्हें जड़वत् रक्खा, काष्ठपाषाणकी मूर्तियाँ समझा और उन्हें अपनी आत्मोन्नति करने देना तो दूर रहा, यह भी खबर न होने दी कि संसारमें क्या हो रहा है। क्या यह थोड़ा अत्याचार है? नहीं, इस अत्याचारके करनेमें जैनी मनुष्यताका भी उल्लंघन कर गये। इनसे पशुपक्षी ही अच्छे रहे, जो अपनी नर और मादा दोनों प्रकारकी संतानको समान-दृष्टिसे अवलोकन करते हैं और उससे किसी भी प्रकारके प्रत्युपकारकी वांछा न रखते हुए अपना कर्त्तव्य समझकर सहर्ष उसका पालन-पोषण करते हैं।

यहाँ पर मुझे यह लिखते हुए दुःख होता है कि जैनियोंका यह अत्याचार केवल स्त्रीसमाजको ही नहीं भोगना पड़ा, बल्कि पुरुषोंको भी इसका हिस्सेदार बनना पड़ा है—बालकों पर भी इसका नज़ला टपका है। माताओंके अशिक्षित रहनेसे—परिस्थितिके बिगड़ जानेसे—वे भी शिक्षासे प्रायः विहीन ही रहे हैं। हज़ारमें दस-पाँचने

यदि मामूली विद्या पढ़ी भी—कुछ अक्षरोंका अभ्यास किया भी--तो इसका नाम शिक्षा नहीं है। जैन बालकोंको जैसी चाहिएँ वैसी विद्याएँ नहीं पढ़ाई गईं। यदि उन्हें बराबर विद्याएँ पढ़ाई जातीं तो आज उन हज़ारों विद्याओंका लोप न होता, जिनका उल्लेख जैन-शास्त्रोंमें मिलता है। दिव्य विमानोंकी रचनाको जाने दीजिये, आज कोई जैनी उस मयूरयन्त्रके बनानेकी विधि भी नहीं जानता, जिसको जीवंधरके पिता सत्यधरने बनाया था और उसमें अपनी गर्भवती स्त्रीको बिठलाकर, गर्भस्थ पुत्रकी रक्षाके लिए, उसे दूर देशान्तरमें पहुँचाया था! इसी प्रकार सैकड़ों विद्याओंका नामोल्लेख किया जा सकता है। जैनियोंने शिक्षा और खासकर स्त्री-शिक्षासे द्वेष रखकर इन समस्त विद्याओंके लोप करनेका पाप अपने सिर लिया है और इसलिए जैनी समस्त जगतके अपराधी हैं।

जैनियोंका एक भारी अत्याचार और भी है और वह अपनी संतानकी छोटी उम्रमें शादी करना है। इसके विषयमें मुझे कुछ विशेष लिखनेकी ज़रूरत नहीं है। हाँ, इतना ज़रूर कहूँगा कि इस राक्षसी कृत्यके द्वारा आजतक लाखों ही नहीं किन्तु करोड़ों दुधमुँही बालिकाएँ विधवा हो चुकी हैं—वैधव्यकी भयंकर आँचमें भुन चुकी हैं—, हज़ारोंने अपने शीलशृंगारको उतार दिया, व्यभिचारका आश्रय लिया, दोनों कुलोंको कलंकित किया और भ्रूणहत्यायें तक कर डालीं। इसके सिवाय, बाल्यावस्थामें स्त्री-पुरुषका संसर्ग हो जानेसे जो शारीरिक और मानसिक निर्बलताएँ इनकी संतानको उत्तरोत्तर प्राप्त हुईं उनका कुछ भी पारावार और हिसाब नहीं है। निर्बल मनुष्यका जीवन बड़ा ही वबाले-जान और संकटमय होता है। रोगोंका उसपर आक्रमण हो जाना तो एक मामूलीसी बात है। जैनियोंके इस अत्याचारसे उनकी संतान बड़ी ही पीड़ित रही। उससे हिम्मत, साहस, धैर्य, पुरुषार्थ और वीरता आदि सद्गुणोंकी सृष्टि ही एकदम उठ खड़ी हुई। जैनी निर्बल होकर तन्दुल मच्छकी तरह

घोर मानसिक पापोंका संचय करते रहे और इन पापोंने उदयमें आकर जन्म-जन्मान्तरोंमें इन्हें खूब ही नीचा दिखाया। जैनियोंका यह गुड्डा गुड्डीका खेल (बाल्यविवाह) बड़ा ही हृदयद्रावक है। इसने जैनसमाजकी जड़में बड़ाही कुठाराघात किया है।

इस प्रकार जैनियोंने बहुत बड़े बड़े अत्याचार किये हैं। इनके सिवा और जो छोटे-मोटे अत्याचार किये हैं उनकी कुछ गिनती ही नहीं है। जैनियोंके इन अत्याचारोंसे जैनधर्म कितना कलंकित हुआ और जगतमें कैसे कैसे अनर्थ फैले इसका कुछ ठिकाना नहीं है। जैनियोंके इन सब अत्याचारों ही का फल उनकी वर्त्तमान दशा है। बल्कि नहीं, जैनियोंमें इस समय जो कुछ थोड़ी बहुत अच्छी बातें बची-खुची हैं उनका श्रेय स्वामी कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द और सिद्धसेन आदि परोपकारी आचार्यों तथा अन्य परोपकारी महानुभावोंको प्राप्त है। ऐसे जगद्बन्धुओंके आश्रित रहनेसे ही जैनधर्मके अभी तक कुछ चिन्ह अवशेष पाये जाते हैं; अन्यथा, आम तौर पर जैनियोंके अत्याचार उनकी सत्ताको बिल्कुल लोप करनेके लिए काफ़ी थे। जब तक जैनियोंने अत्याचार करना प्रारंभ नहीं किया था तब तक इनका बराबर डंका बजता रहा, ये खूब फलते और फूलते रहे। परन्तु जबसे ये लोग अत्याचारों पर उतर आए तभीसे इनका पतन शुरू हो गया। और आज वह दिन आ गया कि ये लोग पूरी अधोदशाको पहुँच गये हैं। जैनियोंके अत्याचार जैनियोंको खूब ही फले—इन्होंने अपने कियेकी खूब सज़ा पाई। ये लोग दूसरोंको धर्म बतलाना नहीं चाहते थे, अब खुद ही उस धर्मसे वंचित हो गये; दूसरोंको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे, अब खुद ही घृणाके पात्र बन गये; जिस बल, विद्या और ऐश्वर्य पर इन्हें घमंड था वह सब नष्ट हो गया; ये लोग अपने आपको भले ही जीवित समझते हों परन्तु जीवित समाजोंमें अब इनकी गणना नहीं है; इनकी गणना है मरणोन्मुख समाजोंमें। जैनी लोग अन्धकारमें पड़े हुए

सिसक रहे हैं—वास्तवमें इनकी हालत बड़ी ही करुणाजनक है। जब तक जैनी लोग इन अत्याचारोंको बंद करके अपने पूर्व पापोंका प्रायश्चित्त नहीं करेंगे तब तक वे कदापि इस दैवकोपसे विमुक्त नहीं हो सकते, उनका अभ्युत्थान नहीं हो सकता और न उनमें जीवनीशक्तिका फिरसे संचार ही हो सकता है।

आशा है हमारे जैनीभाई इस लेखको पढ़कर अपने अत्याचारोंकी परिभाषा समझेंगे और उनके भयंकर परिणामको विचार कर शीघ्र ही उनका प्रायश्चित्त करनेमें दत्तचित्त होंगे।

१०

विवाह-समुद्देश्य

विवाहकी समस्या

बड़े बड़े विद्वानों और आचार्योंका कथन है कि 'स्त्री बिना जंज़ीरका—ज़ंजीर न होते हुए भी—दृढ बन्धन है, स्त्रीसे बढ़कर पुरुषोंके लिए दूसरा कोई बड़ा बन्धन नहीं। यथा :—

कलत्रं नाम नराणामनिगडमपि दृढं बंधनमाहुः। — सोमदेवः।

न कलत्रात्परं किञ्चिद्‌बन्धनं विद्यते नृणाम्‌ ।—शुक्रः।

वस्तुतः विचार करनेपर भी ऐसा ही प्रतीत होता है। स्त्रीका परिग्रह करने पर स्वभावसे ही मनुष्य वहुतसे अंशोंमें अपना स्वातंत्र्य—अपनी आज़ादी—खो बैठता है, तरह तरहकी चिन्ताओं, आपदाओं तथा ज़िम्मेदारियोंकी दलदलमें फँस जाता है और इस तरह पर बन्धनमें पड़कर एक अच्छा खासा बन्दी बन जाता है। वास्तविक दृष्टिसे बन्धनमें पड़ना कभी इष्ट नहीं हो सकता। बन्धनसे परतंत्रता आती है और परतंत्रता या पराधीनतामें कहीं भी असली सुख नहीं है—पैरोंमें जंजीर डालकर खंभेसे बाँधा हुआ एक हाथी कभी अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक विहार नहीं कर सकता। इसलिए शास्त्रकारोंने बन्धनको दुःख वर्णन किया है। बन्धनसे छूटने-पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करने—पूरी आज़ादी हासिल करने—ही का

नाम मुक्ति है। उसीमें वास्तविक सुख है और वही सब जीवोंका अन्तिम ध्येय बतलाया जाता है। साथ ही, महान्से महान् आचार्यों-का—धर्मगुरुओंका—यह भी कथन है कि 'मैथुन करना पाप है'—पंच पापोंमें उसकी गणना है। अमृतचन्द्रसूरिने, तिलोंसे पूर्ण नलीमें तप्त-लोह-शलाकाके प्रवेशका उदाहरण देकर, मैथुनमें पापकी—द्रव्यहिंसाकी—मात्राको और भी अधिकताके साथ प्रदर्शित किया है। यथा :—

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवायोनौ[१] हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय:

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, आज एक, कल दूसरा और परसों तीसरा नवयुवक खुशीसे इस स्त्री-बन्धनको स्वीकार करता है, एक अपरिचित व्यक्तिको—एक अजनबी शख्शको—अपना हृदय देता है, कुटुम्बके भरण-पोषणादिकी समस्त ज़िम्मेदारियोंको अपने ऊपर लेता है और धनके उपार्जन करने-बढ़ाने-रक्षा करनेके द्वारा तथा रोग-शोकादिकके कारण नित्य नई आनेवाली गृहस्थकी चिन्ताओं और विपत्तियोंमें पड़नेके लिए तैयार होता है। साथही, पंचों द्वारा, बिना किसी संकोचके, उसके इस स्त्री-सम्बन्धकी रजि-ष्ट्रीकी जाती है और इस प्रकार विवाह[२]-द्वारा दम्पतिको निष्कं-

---

१ वात्स्यायन ऋषिने भी योनिमे जीवोंको स्वीकार किया है; जैसा कि सागारधर्मामृतमे उद्धृत उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है: —

रक्तजा: कृमय: सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तय:।
जन्मवर्त्मसु कंडूतिं जनयन्ति तथाविधम्॥

२ विवाह उस सम्बन्ध-विशेषका ही नाम है जिसके द्वारा, मानव-समाजमें, स्त्री-पुरुषोंको परस्पर काम-क्रीडाका द्रव्यादिकी अपेक्षा र हित स्वतंत्र और खुला अधिकार प्राप्त होता है।

टक (बे-रोक-टोक) काम-सेवनकी परवानगी दी जाती है—उसे उनके लिये जायज और विधेय ठहराया जाता है। इसी खुशीमें अनेक प्रकारके बाजे बजते हैं, मांगलिक गीत गाये जाते हैं, तरह तरहके उपहार और इनाम बाँटे जाते हैं, बराती-गण नये नये वस्त्र और रंगविरंगी पोशाकें पहनते हैं और वरके माता-पिता तथा अन्य कुटुम्बी जनोंके आनन्दका कुछ पार नहीं रहता। युवती तथा कन्या-पक्षके बन्ध-प्रबन्ध और आमोद-प्रमोदकी भी प्रायः यही सब हालत होती है। नगर भरमें जिधर देखो उधर मूर्तिमान आनन्द ही आनन्द दिखाई देने लगता है। कहा जाता है कि यह सब मांगलिक कार्य है, इसे 'विवाहमंगल' कहते हैं और इस प्रकारके मंगल प्रायः हुआ करते हैं और हमेशासे होते आए हैं।

इन सब बातों पर गहरी दृष्टि डालते हुए एकाग्रताके साथ विचार करनेपर मालूम होता है और कहना पड़ता है कि, विवाहकी समस्या भी बड़ी ही विचित्र है। जो लोग इस समस्याको हल किये विना, विवाहका ठीक रहस्य समझे विना और विना यह मालूम किये कि विवाहका उद्देश्य—शादीकी असली ग़रज़—क्या है, विवाह-बन्धनमें पड़ते हैं—शादी कराते हैं—वे निःसन्देह बहुत बड़ी ग़लती करते हैं और विवाहके वास्तविक लाभोंसे वंचित ही रहते हैं। इसीलिए आज इस समस्याको हल करने, विवाहका रहस्य बतलाने और विवाहके समीचीन उद्देश्यको समझानेका प्रयत्न किया जाता है।

विवाह-कर्मकी सृष्टि

जरूरत और उपयोगिता

संसारमें अनादिकालसे यह जीवात्मा नाना प्रकारके अच्छेसे अच्छे और रमणीय विषयभोगोंको भोगता हुआ चला आया है। मैथुनकी सृष्टि इस जगतमें अनादिसे ही चली आती है। परन्तु

आज तक कभी इन विषय-भोगोंसे किसीको भी तृप्तिकी प्राप्ति नहीं हुई और न हो सकती है। ईन्धन और घृताहुतिसे जिस प्रकार अग्नि तृप्त नही होती और घड़ों पानी पी लेनेसे जिस प्रकार तृषा-रोगके रोगीकी प्यास नहीं बुझती, उसी प्रकार संसारी जीवकी हालत है। उसे भी इन विषय-भोगोंसे कोई तृप्ति नहीं मिलती। विषयोंकी ऐसी हालत होते हुए, आत्मकल्याणार्थी कुछ महात्माओंके हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि, जब विषय-भोगोंसे कुछ तृप्ति नहीं होती और न इनके सेवनसे आत्माका कुछ लाभ होता है, वल्कि उल्टा पापबंध ज़रूर होता है और नाना प्रकारके दुःख तथा कष्ट उठाने पड़ते हैं, तब ऐसे व्यर्थके कामोंमें फँसकर अपने आत्मा-का अनिष्ट करना कौन बुद्धिमानीकी बात है? इसलिए उन्होंने विषयोंके सर्वथा त्यागका उपदेश दिया और इस तरह विषयोंके विरोधकी सृष्टि हुई। इस विरोधसे जैन-अजैन सभी ग्रन्थ भरे हुए हैं; जिनमें विषयोंका वास्तविक स्वरूप, उनकी अनुपयोगिता (निरर्थ-कता) और उनसे होनेवाली हानि आदिका हृदय-हारी वर्णन करते हुए उनके त्यागकी प्रेरणा की गई है। साथ ही, ब्रह्मचर्यकी महिमा, उसकी उपयोगिता और उसके द्वारा संपूर्ण सुखोंकी प्राप्ति आदिका वर्णन भी बड़े कौशलके साथ किया गया है। और अन्तमें पूर्ण ब्रह्म-चर्यके धारण करने और पालनेकी ज़ोरके साथ प्रेरणा की गई है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना बहुत ही उत्तम, श्रेष्ठ और कल्याणकारी धर्म है। इसके द्वारा आत्मा उत्तरोत्तर अपनी शक्तियोंको बढ़ाकर कर्मशत्रुओंको निर्मूल करनेके लिये समर्थ हो सकता है। परन्तु कामदेवकी प्रबल शक्तिका मुक़ाबला करके पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना खेल नहीं और न हरएक व्यक्ति-का काम है, बिरले ही मनुष्य इसको धारण कर सकते हैं। इसके लिये बड़े बलवान आत्माकी ज़रूरत होती है। निर्बलोंका इसमें अधिकार नहीं हो सकता। जैसा कि श्रीशुभचन्द्राचार्यने 'ज्ञानार्णव' में

कहा है:—

नाल्पसत्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाऽक्षनिर्जितैः ।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ ११-५ ॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य उन लोगोंसे स्वप्नमें भी आचरण किये जानेके योग्य नहीं है जो अल्पशक्तिके धारक हैं, शील-रहित हैं, दीन हैं और जिनकी इन्द्रियाँ उनके वशमें नहीं हैं।

ऐसी हालतमें शरीर और विचार-बल-रहित निर्बल व्यक्तियोंको पूर्ण ब्रह्मचर्यके लिए मजबूर करना कभी न्यायसंगत नहीं हो सकता और न उससे कुछ लाभ ही उठाया जा सकता है। इसलिए उनके लिए भी कोई विधान बतलानेकी जरूरत पैदा हुई।

तृषा-रोगके निर्बल रोगीको, इच्छानुसार घड़ों पानी पिला देनेके समान, पानीका बिल्कुल न देना भी जिस प्रकार हानिकर (नुकसान-देनेवाला) होता है और इसलिए उसके वास्ते कोई हलका पेय (अर्क-शर्बतादि) पदार्थ तजवीज किया जाता है, जिससे उसका रोग शनैः शनैः दूर होजाय, उसी प्रकार कामतृष्णातुर निर्बल आत्माओंको, उनकी इच्छानुसार विषय-सेवन करानेकी तरह, सर्वथा विषयोंसे वंचित रखना भी—उनसे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन कराना भी—अनिष्टकर होता है। और इसलिए उनके लिए 'गृहस्थाश्रम' या 'गृहस्थधर्म' नामका 'लघु पेय' तजवीज़ किया गया है, जिससे उनकी कामतृष्णा धीरे-धीरे शान्त होजाय।

इस पेयमें तीन चीजें मिली हुई हैं—धर्म, अर्थ और काम—जिनको 'त्रिवर्ग' भी कहते है। काम-सेवन पानीके समान है, धर्म काम-तृष्णाको दूर करनेवाली औषधि है और अर्थ (धन) दोनोंका साधन है—उन्हें यथास्थान (ठीक ठिकाने पर) पहुँचानेवाला है। इन तीनोंकी मात्रा आदिक भी निर्दिष्ट (तजवीज़) की गई है, जिससे परस्पर विरोध होकर किसी प्रकारका अनिष्ट न हो सके। अविरोध-रूपसे सेवन किया हुआ ही 'त्रिवर्ग' अभीष्ट फलको देनेवाला हो

सकता है। इसीलिये श्रीवादीभसिंहसूरि-जैसे विद्वानोंने कहा है—

परस्पराऽविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमदः सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात्॥
—क्षत्रचूडामणिः

अर्थात्—धर्म, अर्थ और कामका यदि एक दूसरेके साथ विरोध न करके सेवन किया जाय तो उससे सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति अनिवार्य होती है, और क्रमसे मोक्ष मिलता है।

काम-सेवनके लिये पुरुषको एक स्त्रीकी और स्त्रीको एक पुरुषकी आवश्यकता होती है। विना किसी विघ्न-बाधाके निर्दिष्ट रूपसे कामसेवन[1] होता रहे और उसके द्वारा धर्मोषधिकी उपयुक्त (यथोचित) मात्रा रोगीके शरीरमें पहुँचती रहे, इसी अभिप्रायसे विवाह कर्मकी सृष्टि की गई है।

विवाहकर्मको 'दारपरिग्रह' या 'दारकर्म' भी कहते हैं, जो गृहस्थ-धर्मका एक खास अङ्ग है। स्त्री-सहित रहनेका नाम ही 'गृहस्थ' है—जलभागकी जिसमें प्रधानता हो उसीको 'पेय' कहते हैं—वह गृहस्थ ही नहीं जिसके पास स्त्री नहीं[2]। 'गृह' शब्द भी स्त्रीका वाचक है। इसीलिए सोमदेवसूरि आदि विद्वानोंने लिखा है:—

गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्य-कट-संघातः।—सोमदेवः।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्य-कट-संहतिम्।—आशाधरः।
कृतदारपरिग्रहः गृहस्थः गृहशब्दस्य दार-वचनत्वात्।
—विज्ञानेश्वरः।

---

१. इस प्रकारके बाधा-रहित काम-सेवनको सोमदेवने 'अनुपहता रति' और आशाधरने 'अक्लिष्टा रति' लिखा है।

२. स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः।
—नीतिवाक्यामृते, सोमदेवः

अर्थात्—वास्तवमें 'गृहिणी' (घरवाली) हीका नाम घर है। ईंट, पत्थर, लकड़ी आदिके समुदायका नाम घर नहीं है। साधारण बोल-चालमें भी 'घर' शब्द स्त्रीके अर्थमें व्यवहृत होता है—इस्तेमाल किया जाता है। जैसे एक शख्स कहता है कि मैं घर-सहित आया हूँ, जिसका साफ अभिप्राय यह होता है कि 'मैं अपनी स्त्रीको साथ लाया हूँ'। इन सब बातोंसे गृहस्थके लिये 'गृहिणी' का होना और भी ज़रूरी पाया जाता है। वह धर्म-संग्रहमें बहुत बड़ी सहायक होती है[1]। और इसीलिये संसारमें विवाहकी प्रथा प्रचलित हुई है।

किसी खास पेयके निर्दिष्ट हो जाने पर जिस प्रकार रोगीको, उसकी हितकामनासे, दूसरे इच्छानुसार पेयोंके सेवनका निषेध किया जाता है उसी प्रकार विवाह-द्वारा गृहस्थधर्मके, स्वीकार करने पर, पुरुषसे पर-स्त्रीका और स्त्रीसे पर-पुरुषका त्याग कराया जाता है। विवाहके समय दोनोंको प्रतिज्ञाएँ करनी होती हैं। इस तरह दोनों शीलव्रतको धारण करते हैं, जिसको परदारनिवृत्ति, स्वदारसंतोष, स्वभर्तृसंतुष्टि और लघुब्रह्मचर्यादि नामोंसे पुकारा जाता है। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि संसारमें शान्ति स्थापित होती है, छीना-झपटीकी प्रथा उठ जाती है, वैर-विरोध बढ़ने नहीं पाते और हर शख्स बिना किसी रोक-टोकके अपने विषयोंको भोग सकता है तथा आनन्दके साथ अपने धर्मादिक कार्योंका सम्पादन कर सकता है। विपरीत इसके, व्यभिचारका प्रचार होनेसे जगतमें अशान्ति फैल जाती, छीनाझपटीकी प्रथा बढ़ जाती, मनुष्योंका जीवन दुःख और आकुलतामय बन जाता और उनका भविष्य बिगड़ जाता। इससे कहना पड़ता है कि विवाहकी यह रीति बहुत ही सोच-विचार कर जारी की गई है। स्त्री हो या पुरुष जो कोई भी विवाहके इस नियम-का उल्लंघन करता है—अपने व्रतको तोड़ता है—वह राजासे दंड-

---

१ नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे। —महाभारत:

-नीय और प्रजासे धिक्कारका पात्र होता है, चोर-जार-पापी कहलाता है, अपने उद्देश्यसे गिर जाता है और उसे 'जगतका शांति-भंग-कर्ता' समझना चाहिए। इस विषयमें सोमप्रभाचार्यने 'सूक्ति-मुक्तावली' में बहुत ही अच्छा लिखा है :—

दत्तस्तेन जगत्यकीर्ति-पटहो गोत्रे मषी-कूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुण-गणारामस्य दावानलः ।
संकेतः सकलापदां शिवपुर-द्वारे कपाटो दृढः
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्य-चिन्तामणिः ॥

अर्थात्—जिस मनुष्यने अपने 'शीलव्रत' को जो तीन लोकका चिन्तामणि रत्न है, भंग कर दिया है उसने जगतमें अपकीर्त्तिका ढोल बजा दिया है अपने कुलमें स्याहीका पोता फेर दिया है, निर्मल चारित्रको जलाञ्जलि दे दी है, गुणसमूहरूपी बाग़ीचेमें आग लगा दी है, बहुतसी आपदाओंको बुलानेके लिए इशारा कर दिया है और मज़बूत किवाड़ लगाकर अपने मोक्षके दरवाजेको बन्द कर दिया है।

इससे भले प्रकार समझमें आ सकता है कि 'शीलव्रत' को भंग करना कितना बड़ा अपराध है।

उद्देश्य-विनिर्देश

अब यहाँ पर यह बतला देना ज़रूरी है कि, प्यासके रोगीका उद्देश्य 'पानी पीना' नहीं होता। उससे प्यासकी वेदना सही नहीं जाती, इससे मजबूरन (लाचारीसे) उसकी अल्पकालिक शान्तिके लिए जल ग्रहण करता है। उसका उद्देश्य होता है "प्यासका न उत्पन्न होना—तृषारोगका समूल नाश हो जाना"। साथ ही, वह यह भी चाहता है कि मुझमें प्यासको सहन करनेकी शक्ति उत्पन्न हो और उस शक्तिके अनुसार प्यासको सहन करनेकी चेष्टा भी करता है। उसका यह कर्तव्य नहीं होता कि प्यासकी शान्तावस्थामें भी—जिस वक्त प्यास दबी हुई है उस वक्त भी—ख्वाहमख्वाह

बिना प्रयोजन भी—पानी पीता रहे या तृषा-वर्धक पदार्थोंको खाकर अपनी प्यास बढ़ा लेवे। **इसी तरह गृहस्थका विवाह-द्वारा काम-सेवन करना उद्देश्य न होना चाहिए।** काम-तृष्णाकी असह्य वेदना उत्पन्न होने पर—प्राकृतिकरूपसे कामका वेग बढ़ने पर—उसकी अल्पकालिक शांतिके लिए अथवा प्रकृतिकी तात्कालिक पुकारको पूरा करनेके लिये ही उसे संभोग करना चाहिए। **"कामकी वेदनाका उत्पन्न न होना, कामतृष्णाका समूल नाश होजाना और कामको जीतने की अपनेमें शक्ति पैदा करना ही" उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।** साथ ही, उसे अपनी शक्तिके अनुसार प्रति-पक्ष-भावनाओंसे—विषयोंसे ग्लानि और ब्रह्मचर्यसे अनुराग उत्पन्न करानेवाली विचारधाराओंसे—काम पीड़ाको जीतनेका अभ्यास करना चाहिए। उसका यह कर्त्तव्य कभी न होना चाहिए कि, कामकी शान्तावस्थामें भी, विनोद आदिके तौरपर, कामक्रीड़ा करता फिरे या कामोद्दीपक पदार्थोंका—सोते हुए कामदेवको जगानेवाले लड्डुओं आदिका—सेवन करके अपनी कामतृष्णाको उत्पन्न करे। जो गृहस्थ ऐसा करता है वह विवाहके उद्देश्यसे गिर जाता है और उसे तरह तरहकी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। ज़रूरत बिना जरूरत अधिक मैथुन करनेसे—वीर्यका दुरुपयोग करनेसे—उसकी शक्ति क्षीण होजाती है। वह अपने बलको यहाँतक खो बैठता है कि बादको (पीछेसे) फिर बहुत कुछ पौष्टिक पदार्थोंका सेवन करने पर भी—अनेकों वैद्यों, हकीमों और डाक्टरोंकी शरणमें जाने-पर भी—उसकी वह शक्ति वापिस नहीं आती और वह नपुंसक बन जाता है; जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके इन वाक्योंसे प्रकट है:—

निकामं-कामकामात्मा तृतीया प्रकृतिर्भवेत्। (यशस्तिलक)

स्त्रियमतिभजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः। (नीतिवा०)

इसलिए विवाहके उद्देश्यको खूब ध्यानमें रखते हुए, गृहस्थोंको चाहिए कि वे अपनी कामवासनाको परिमित रक्खें, इन्द्रियोंका

विजय[1] करना सीखें और 'विरुद्धकामप्रवृत्ति' (बे-कायदे काम-सेवन करनेवाले) न बनें। साथ ही, उन्हें 'धर्म' और 'अर्थ' पुरुषार्थोंका योग्य-रीतिसे सम्पादन करते हुए, स्त्रीका सेवन इस तरह पर करना चाहिए जिस तरह पर शरीर और मनका आताप मेटनेके लिए भोजनका सेवन किया जाता है। अन्यथा, अधिक स्त्रीसेवनसे उन्हें अपने धन, धर्म और शरीर तीनोंकी हानि उठानी पड़ेगी। इसी अभिप्रायको लेकर विद्वद्वर पंडित आशाधरजी ने लिखा है:—

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत्।
क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥ (सागारधर्मामृत)

सोमदेवसूरिने भी 'यशस्तिलक' और 'नीतिवाक्यामृत' में ऐसा ही प्रतिपादन किया है :—

ऐदंपर्यमतो मुक्त्वा भोगानाऽऽहारवद्भजेत्।
देह-दाहोपशान्त्यर्थमभिध्यान-विहानये ॥ (यशस्तिलक)
न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्य स्त्रीष्वत्यासक्तिः (नीतिवा०)

वास्तवमें गृहस्थाश्रम एक 'रसायन' है। रसायनके तैयार करनेमें किसी औषधिके छूट जानेसे, औषधियोंका वजन कमती बढ़ती हो जानेसे या उनकी प्रक्रिया ठीक न बैठनेसे जिस प्रकार इष्टफल घटित नहीं होता, उसी प्रकार गृहस्थाश्रममें धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंमेंसे किसीके छूट जाने या जानबूझ कर छोड़ दिये जाने पर पुरुषार्थोंकी मात्रामें कमी-बेशी हो जाने पर या और प्रकारसे उनकी प्रक्रिया और सेवन-विधि ठीक न बैठने पर इष्ट-फलकी प्राप्ति नहीं

---

१ इष्ट-पदार्थमें आसक्तिका और विरुद्धमें प्रवृत्तिका न होना 'इंद्रिय-जय' कहलाता है; जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाऽप्रवत्तिरिन्द्रियजयः।

हो सकती। इसलिये विवाह करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले पुरुष और स्त्री दोनोंको धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थोंका 'अविरोधरूपसे' या 'समानरूपसे'[1] सेवन करना चाहिए। 'धर्म' को घात करके दूसरे पुरुषार्थोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उस किसान (कृषक) के समान है जो बीज न रखकर अपने खेतकी सब पैदावार (उपज) खा जाता है और अन्तमें दुखी होता है। असलमें सुखी वही कहलाता है जो आगामी सुखका विरोध न करके वर्त्तमान सुखको भोगता है। 'अर्थ' पुरुषार्थको घात करनेवाला गृहस्थ विपत्तिमें पड़ता है; क्योंकि उसके धर्म और कामका साधन अर्थ ही है ('धर्म-कामयोरर्थमूलत्वात्')। और 'काम' पुरुषार्थको घात करनेवाला गृहस्थ ही नहीं कहला सकता—गृहस्थीमें रहते इन्द्रियविषयोंका सेवन जरूरी है। इसी तरह पर जो गृहस्थ 'केवल काम' पुरुषार्थका ही सेवन करता है उसके धन, धर्म और शरीर तीनों नष्ट हो जाते हैं। उसे इस लोक और परलोकमें सभी जगह कष्ट उठाना पड़ता है। जो 'केवल धन' ही कमाता है, न उसे परोपकारादि धर्मकार्योंमें लगाता है और न अपने विषयभोगोंमें, उसके बराबर कोई मूर्ख नहीं हो सकता, वह केवल बोझा ढोनेवाला है—वह अपने दोनों लोक बिगाड़ता है। और जो 'केवल धर्म ही धर्म' का सेवन करता है वह गृहस्थ नहीं हो सकता, उसे मुनि या साधु कहना चाहिए। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर और इनके पालनके लिए तैयार होकर ही मनुष्योंको 'गृहस्थाश्रम' में प्रवेश करना चाहिए, अर्थात् विवाह कराना चाहिये। तब ही विवाहसे यथेष्ट लाभ—जैसा चाहिए वैसा फ़ायदा—हो सकता है और तब ही उनका गृहस्थाश्रम सुखाश्रम बन सकता है।

---

१ "समं वा त्रिवर्गं सेवेत"—इति सोमदेवः।

ग्राह्य-स्त्री

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि, विवाहके इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिए किस वर्ण या जातिकी स्त्रीसे पाणि-ग्रहण (विवाह) किया जाय ? यह प्रश्न उसी प्रकारका होगा जिस प्रकार 'पेय' के सम्बन्धमें यह पूछा जाय कि उसमें कौनसे कुएँ या नदी आदिका पानी डाला जाय ? और जिस प्रकार उसका उत्तर अधिकसे अधिक इतना ही हो सकता है कि, जिस कुएँ या नदीका पानी पीनेके लिये मिल सकता हो और जिसके पीनेमें किसी प्रकार-की घृणा या संकोच न हो और जो साथ ही शुद्ध-साफ़ तथा निर्दोष हो, पेयके उद्देश्यमें बाधक न हो, वह सब पानी पीनेके लिए ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। "जिस वर्ण या जातिसे, परस्पर व्यवहारके कारण, स्त्री मिल सकती हो और जिसके सेवनमें किसी प्रकारकी घृणा या संकोच न हो और जो साथ ही शुद्ध-साफ़ तथा निर्दोष हो, शीलादि गुणोंसे युक्त हो, अंगोपांगसे दुरुस्त हो, रोग-रहित हो, पढ़ी लिखी-गुणवती हो और विवाहके उद्देश्यमें किसी प्रकारसे बाधक न होसके वह स्त्री विवाहके लिए ग्राह्य है—ग्रहण किये जाने योग्य है"। इससे अधिक इस विषयमें, सर्वसाधारणकी दृष्टिसे, कोई खास नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। जैन शास्त्रोंमें भी इस विषयका कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक एक नियम नहीं पाया जाता ❋। अस्तु।

❋ 'एक नियम नही पाया जाता' इसका कुछ अनुभव पाठकोंको नीचेके अवतरणों तथा प्रमाणोंसे हो जायगा, जो केवल इसे ही अनुभव करानेके एक मात्र उद्देश्यसे दिये जाते हैं। उनसे किसी खास रीति-रिवाजको पुष्ट करना या उसपर चलनेकी प्रेरणा करना यहां इष्ट

सबसे प्रधान उद्देश्य

समाज-संगठन

अब विवाहका सबसे प्रधान उद्देश्य बतलाया जाता है, जिसका नाम है 'समाज-संगठन'–अर्थात्, समाजका सुव्यवस्थित, बलाढ्य

नही है :-

(१) भगवज्जिनसेनाचार्य और श्रीसोमदेवसूरिने आनुलोम्यरूपसे ब्राह्मणोंके लिए चारों, क्षत्रियोंके लिए तीन, और वैश्योंके लिये सिर्फ़ दो वर्णोंकी स्त्रियोंसे विवाह करनेका विधान किया है—अर्थात् तीनों वर्णोंके लिए शूद्रा स्त्रीसे विवाह करना भी उचित ठहराया है। परन्तु प्रतिलोम-विवाहकी—अपनेसे ऊपरके वर्णकी स्त्रीसे विवाह करनेकी—आज्ञा नहीं दी। जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वा ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥—आदिपुराण
आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मणक्षत्रियविशः।
—नीतिवाक्यामृत

(२) 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' मे प्रथम तीन वर्णोंके लिये परस्पर विवाह करनेका विधान किया गया है और शूद्रोके साथ विवाह-सम्बंधका सर्वथा निषेध किया है। यथा—

परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पंक्तिभोजनं।
कर्त्तव्यं न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह॥

इससे असवर्ण विवाहके साथ साथ प्रतिलोम विवाहकी भी साफ़ तौरसे ध्वनि निकलती है। और प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंमे तो प्रतिलोम विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं। स्वयं राजा श्रेणिकने, जो क्षत्रिय था, अपने पुरोहित सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्रीसे विवाह किया था।

और वृद्धिगत होना। समाज व्यक्तियोंसे बनता है—व्यक्तियोंके समुदायका नाम ही समाज है—और व्यक्तियोंका समुदाय तभी बढ़ता है जब कि विवाहसे संतान उत्पन्न हो। इसलिए संतानोत्पा-

---

(३) दाय-भागके ग्रन्थों अथवा प्रकरणोंमें भी असवर्ण विवाहके विधानोंका उल्लेख पाया जाता है—उनमें ऐसे विवाहोंसे उत्पन्न हुई संततिके लिये विरासतके नियम दिये है—और उनके लिये 'अर्हन्नीति' आदि ग्रन्थोंको देखना चाहिये, जिनके प्रमाणोंको विस्तार-भयसे छोड़ा जाता है। अथवा जैन-ला-कमेटी देहली द्वारा प्रकाशित 'जैन-नीति-संग्रह' को देखना चाहिये जिसमें ऐसे कितने ही प्रकरणोका संग्रह किया गया है।

जब असवर्ण विवाहों तकका विधान है तब जातियो उपजातियोंकी तो कोई गिनती ही नही हो सकती—उनकी कल्पना तो बहुत पीछे हुई है।

(४) म्लेच्छों और भीलोंकी कन्याओंके साथ विवाह होनेके भी बहुतसे उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं और उनके करनेवाले अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित पुरुष हुए हैं; जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ति, वसुदेव आदि। परंतु आज ऐसे सम्बन्ध गर्हित समझे जाते हैं।

(५) श्रीनेमिनाथके चचा वसुदेवजीने अपने चचाज़ाद भाई देवसेन-की लड़की 'देवकी' से भी विवाह किया था। और इससे यह प्रकट है कि उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्बमें भी विवाह हो जाता था, जो आजकल हेय समझा जाता है। और कुछ जातियोमे तो आठ-आठ गोत्र टालकर विवाह किया जाता है। वसुदेवजीने 'एणीपुत्र' नामकके 'व्यभिचारजात' की पुत्री 'प्रियंगुसुन्दरी' से भी, जिसे आजकलकी भाषामें 'दस्से या गाटेकी लड़की' कहना चाहिये, विवाह किया था। (देखो 'हरिवंशपुराण'।)

(६) मामा फूफीकी कन्याओंसे विवाहका पहले आम दस्तूर था

दन करना भी विवाहका मुख्य उद्देश्य है। जिस मैथुनसे प्रजा या संतान उत्पन्न नहीं होती उसको विद्वानोंने नामका मैथुन, निष्फल मैथुन और धिक्कारयोग्य मैथुन कहा है ('धिग्मैथुनमप्रजम्')।

और उनके उदाहरणोंसे शास्त्र भरे हुए हैं। अब भी कितनी ही जातियोंमें अथवा स्थानोंपर ऐसे विवाह होते हैं और इसीलिये सोमदेवसूरिने लिखा है कि **'देश-कुलापेक्षो मातुल-सम्बन्धः'**—अर्थात् मामाकी पुत्रीसे विवाह देश तथा कुलकी अपेक्षा रखता है। अतः वह सार्वदेशिक नहीं है।

(७) आदिपुराणमें, विवाह-विधानोंमें स्वयंवर-विधिको सबसे श्रेष्ठ बतलाया है और उसे सनातन मार्ग लिखा है। यथा :—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुति-स्मृतिषु भाषितः।
विवाह-विधि-भेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥

परन्तु स्वयंवरमें कन्या अपनी इच्छानुसार वरको वरण करती है। उसमें कुलीन या अकुलीनका कोई विचार अथवा क्रम नहीं होता; जैसा कि ब्रह्मजिनदासकृत हरिवंशपुराणके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥

ऐसी हालतमें विवाहके लिए वर्ण, जाति और कुल-गोत्रका कुछ भी नियम नहीं रहता।

(८) सोमदेवसूरि आदि कितने ही विद्वानोंने, गृहस्थोंके लिये लौकिक और पारलौकिक ऐसे दो प्रकारके धर्मोंका विधान करते हुए लौकिकधर्मको लोकाश्रित—अर्थात् लौकिक जनोंकी देशकालानुसारिणी प्रवृत्तिके अधीन—और पारलौकिकको आगमाश्रित अथवा आप्तप्रणीत शास्त्रोंके अधीन बतलाया है। सांसारिक व्यवहारोंके लिये आगमका आश्रय लेना भी व्यर्थ ठहराया है। और साथ ही, यह प्रतिपादन किया है कि जैनियोंके लिये वे संपूर्ण लौकिक विधियाँ प्रमाण हैं—

और इसी लिए प्राय: ऋतुकालमें ही मैथुनका विधान किया गया है ('ऋतौ भार्यामुपेयात्'), जब कि स्त्रीमें गर्भाधानकी योग्यता रहती है और जो स्त्रीको मासिक धर्म हो चुकने पर प्राय: १२ दिन तक रहती है। दूसरे समयोंमें मैथुन करनेसे गर्भ धारण नहीं हो सकता, ऐसा वैद्यकशास्त्रोंका मत है। भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें विवाह-विधिका वर्णन करते हुए, साफ तौरसे "संतानके लिए ऋतुकालमेंही" स्त्रीपुरुषोंको, यदि वे उस समय रोगादिकके कारण

ग्राह्य हैं—जिनसे उनकी धार्मिक श्रद्धा (सम्यक्त्व) मे कोई बाधा न पड़ती हो और न व्रतोमें ही कोई दूषण लगता हो। यथा—

> द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिक: पारलौकिक: ।
> लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्य: पर: स्यादागमाश्रय: ।।
> संसार-व्यवहारे तु स्वत: सिद्धे वृथागम: ।
> सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधि:
> यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं ।।
>
> —यशस्तिलक

ऐसी हालतमे विवाह-विधिका,जो कि गृहस्थोका एक लौकिक धर्म है और लोकाश्रित होनेसे परिवर्तनशील है, कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक एक नियम हो ही नही सकता। और इसलिये जिन विवाह-विधियोंके द्वारा दूसरे वर्णों या जातियों आदिके साथ सम्बंध जोड़ा जाता है उनसे यदि जैनियोंकी धार्मिक श्रद्धामे कोई बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोंमें कोई दोष लगता हो तो वें सभी विधियाँ जैनियोंके लिये एक प्रकारसे उचित और मान्य ठहरती हैं। और इसीलिये 'ग्राह्य-स्त्री'के सम्बन्धमें ऊपर जो कुछ उत्तर दिया गया है वह ठीक और समुचित ही प्रतीत होता है।

जैनशास्त्रोंकी तरह, हिन्दू-धर्मके ग्रन्थोमें भी, सर्व देशों और सर्व समयोंके लिये, ग्राह्य-स्त्री-विषयक कोई एक नियम नही पाया जाता।

या और तौरपर वैसा करनेके लिये असमर्थ न हों और वह समय भी कोई पर्वादि वर्ज्य काल न हो तो, परस्पर काम-सेवन करना लिखा है। यथा:—

संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्।
शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥३८-१३५॥

इसी ग्रन्थके १५ वें पर्वमें उक्त आचार्यमहोदयने ये वाक्य भी दिये हैं:—

त्वामाऽऽदिपूरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्त्तताम्।
महतां मार्गवर्तिन्यः प्रजाः सुप्रजसो ह्यमूः ॥६१॥
ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु।
प्रजा-संततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥६२॥
प्रजा-संतत्यविच्छेदे तनुते धर्म-संततिः।
मनुष्व मानव धर्मं ततो देवैनमच्युत ॥६३॥
देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि-दारपरिग्रहम्।
संतानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥४६।

इन वाक्योंमें विवाहकी उस प्रार्थनाका वर्णन है जो युगकी आदिमें नाभिराजाने भगवान् वृषभदेवसे की थी और जिसके अनुसार वृषभदेवने विवाह कराना स्वीकार किया था। प्रार्थनामें बतलाया गया है कि 'विवाह करना गृहस्थोंका धर्म है'[1]। गृहस्थोंको संतान

---

१ जैन-विवाह-पद्धतिमे भी लिखा है कि 'अन्य-स्त्रीका त्याग और निजस्त्री-मात्रमे प्रवृत्तिरूप जो यह विवाहकर्म है वह गृहस्थोका धर्म है और संततिका योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये अनादि-प्रवाहसे चला आता है। इस गृहस्थ-धर्मका यथेष्ट रीतिसे धारण और पालन होनेपर मुनि-धर्ममे आदर उत्पन्न होता है अथवा यो कहिये कि मुनि-धर्मकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति होती है।' यथा:—

अन्याङ्गनापरिहृतिर्निजदारवृत्ति–

उत्पन्न करने और उसकी रक्षा करनेमें यत्न करना चाहिए। विवाह के द्वारा प्रजाका सिलसिला बंद न होकर धर्मका सिलसिला बराबर जारी रहता है'। इससे विवाहका साफ़ उद्देश्य धार्मिक संतानका उत्पन्न करना पाया जाता है। इसी तरह श्रीसोमदेवसूरि और पं० आशाधरजी आदि दूसरे जैन विद्वानोंने भी संतानोत्पादनको विवाह-का उद्देश्य बतलाया है। हिन्दू-धर्मके विद्वानोंका भी इस विषयमें प्रायः ऐसा ही मत है[1]।

संगठनकी जरूरतका बाह्यदृष्टिसे विचार

अब देखना यह है कि विवाहद्वारा संतान उत्पन्न करके समाज-संगठनकी जरूरत क्यों पैदा होती है? जरूरत इसलिये होती है कि यह जीवन एक प्रकारका 'युद्ध' है —लौकिक और पारलौकिक

धर्मो गृहस्थजनता-विहितोऽयमास्ते।
नादिप्रवाह इति सन्तति-पालनार्थ—
मेवं कृती मुनिवृषे विहितादरः स्यात्॥

१ वे भी धार्मिक प्रजाकी अथवा धर्म और प्रजा (संतति) दोनों-की सततिको विवाहका प्रयोजन मानते हैं; जैसा कि याज्ञवल्क्य-स्मृति-के निम्न श्लोक और उसकी 'मिताक्षरा' टीकासे प्रकट है —

लोकानन्त्यं दिवःप्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्त्तव्याश्च सुरक्षिताः॥

टीका — लोके आनन्त्यं वंशस्याविच्छेदः दिवःप्राप्तिश्च दारसंग्रहस्य प्रयोजनम्। कथमित्याह। पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकैर्लोकानन्त्यम्; अग्निहोत्रादि-भिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः। यस्मात् स्त्रीभ्य एतद्द्वयं भवति तस्मात् स्त्रियः सेव्या उपभोग्याः प्रजार्थम्। रक्षितव्याश्च धर्मार्थम्। तथा चाऽऽपस्तम्बेन धर्मप्रजासंपत्तिः प्रयोजनं दारसंग्रहस्योक्तं 'धर्मप्रजासं-पन्नेषु दारेषु नान्यां कुर्वीत' इति वदता। रति-फलं तु लौकिकमेव।

या अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही दृष्टियोंसे इसे युद्ध समझना चाहिए—और यह संसार 'युद्धक्षेत्र' है। युद्धमें जिस प्रकार अनेक शक्तियोंका मुकाबला करनेके लिये सैन्य-संगठनकी ज़रूरत होती है उसी प्रकार जीवन-युद्धमें अनेक आपदाओंसे पार पानेके लिए समाज-संगठनकी आवश्यकता है।

हम चारों ओरसे इस संसारमें इतनी आपत्तियों-द्वारा घिरे हुए हैं कि यदि हमारे पास उनसे बचनेका कोई साधन नहीं है तो हम एक दिन क्या, घड़ी भर भी जीवित नहीं रह सकते। बाह्य जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि एक शक्ति बड़ी सरगर्मी (तत्परता) के साथ दूसरी शक्ति पर अपना स्वत्व (स्वामित्व) और प्राबल्य स्थापित करना चाहती है, अपने स्वार्थके सामने दूसरी को बिलकुल तुच्छ और नाचीज़ समझती है, चैतन्य होते हुए भी उससे जड-जैसा व्यवहार करती है और यदि अवसर मिले तो उसे कुचल डालती है—हड़प कर जाती है। रात दिन प्रायः इस प्रकार-की घटनाएँ देखनेमें आती हैं। निर्बलों पर खूब अत्याचार होते हैं। न्यायालय खुले हुए हैं, परन्तु वे सब उनके लिये व्यर्थ हैं। उनकी कोई सुनाई नहीं होती। इसीलिए न कि, उनका कोई रक्षक या सहायक नहीं है, उनमें कौटुम्बिक बल नहीं है, जिस समाजके वे अंग हैं वह सुव्यवस्थित नहीं है, पैसा उनके पास नहीं है, उन्हें कोई साक्षी उपलब्ध नहीं होता— कोई गवाह मयस्सर नहीं आता। जो लोग प्रत्यक्षमें उनपर होते हुए अत्याचारोंको देखते हैं वे भी अत्या-चारीके भयसे या अपने स्वार्थमें कुछ बाधा पड़नेके भयसे बेचारे गरीबोंकी कोई मदद नहीं करते, उन्हें 'न्याय-भिक्षा' दिलानेमें समर्थ नहीं होते। और इस तरह बेचारे पारिवारिक और सामाजिक शक्ति-विहीनोंको रात-दिन चुपचाप घोर संकट और दुःख सहन करने पड़ते हैं।

संसारमें अविवेक और स्वार्थकी माया इतनी बढ़ी हुई है कि

उसके आगे पापका भय कोई चीज नहीं है। पापके भयसे बहुत ही कम अपराधोंकी रोक होती है। ऐसे बहुत ही कम लोग निकलेंगे जो पापके भयसे अपराध न करते हों। जो हैं उन्हें सच्चे धर्मात्मा समझना चाहिए। बाकी अधिकांश लोग ऐसे ही मिलेंगे जो लोक-भयसे, राज्य-भयसे या परशक्तिके भयसे पापाचरण करते हुए डरते हैं। अन्यथा, उन्हें पापसे कोई घृणा नहीं है वे सब जब मौक़ा मिलता है तब ही उसे कर बैठते हैं।

ऐसी हालतमें समूह बनाकर रहनेकी बहुत ही ज़रूरत है। समूहमें बहुत बड़ी शक्ति होती है। छोटे छोटे तिनकों और कच्चे सूतके धागोंका कुछ भी बल नहीं है, उन्हें हर कोई तोड़-मरोड़ सकता है। परन्तु जब वे मिलकर एक मोटे रस्सेका रूप धारण कर लेते हैं तब बड़े बड़े मस्त हाथी भी उनसे बांधे जा सकते हैं। चीटियां आकार में कितनी छोटी छोटी होती हैं; परन्तु वे अपनी समूहशक्तिसे एक सांपको मार लेती हैं। जिनकी समूहशक्ति बढ़ी हुई होती है उन पर एकाएक कोई आक्रमण नहीं कर सकता हर एकको उन पर अत्याचार करने या उनके स्वार्थमें बाधा डालनेका साहस नहीं होता, उनके स्वत्वों और अधिकारोंकी बहुत कुछ रक्षा होती है। विपरीत इसके, जिनमें समूहशक्ति नहीं होती वे निर्बल कहलाते हैं और निर्बलों पर प्रायः राजा और प्रजा सभीके अत्याचार हुआ करतेहैं। छोटी छोटी मछलियाँ संख्यामें अधिक होने पर भी अपनेमें समूहशक्ति नहीं रखती, इसलिये बड़ी बड़ी मछलियाँ या मच्छ उन्हें खा जाते हैं। मधुमक्खियाँ (शहदकी मक्खियाँ) अपनेमें कुछ समूह-शक्ति रखती हैं, इससे हर एकको उनके छत्तेके पास तक जानेका साहस नहीं होता। साधारण मक्खियोंमें वह शक्ति नहीं है, इसलिये उन्हें हर कोई मार गिराता है। इससे केवल व्यक्तियोंकी संख्याके अधिक होनेका नाम 'समूह' या 'समूहशक्ति' नहीं है; बल्कि उनका मिलकर 'एक प्राण' और 'एक उद्देश्य' हो जाना ही समूहशक्ति

कहलाता है।

एक कुटुम्बके किसी व्यक्ति पर जब कोई अत्याचार करता है तो उस कुटुम्बके सभी लोगोंको एकदम जोश आजाता है और वे उस अत्याचारीको उसके अत्याचारका मज़ा (फल) चखानेके लिए तैयार हो जाते हैं, इसीको 'एक प्राण होना' कहते हैं। इसी तरह जब कुटुम्बका कोई मनुष्य कुटुम्बके उद्देश्यके विरुद्ध प्रवर्त्तता है—अन्यायमार्ग पर चलता है—तो उससे भी कुटुम्बके लोगोंके हृदय पर चोट लगती है और वे,शरीरके किसी अंगमें उत्पन्न हुए विकार-के समान, उसका प्रतिशोध करनेके लिये तैयार हो जाते हैं; इसको भी 'एक प्राण होना' कहते हैं। साथ ही,यह सब उनके 'एक उद्देश्य' होनेको भी सूचित करता है।

इस प्रकार एक प्राण और एक उद्देश्य होकर जितनी भी अधिक व्यक्तियां मिलकर एक साथ काम करती हैं उतनी ही अधिक विघ्न-बाधाओंसे सुरक्षित रहकर वे शीघ्र सफल मनोरथ होती हैं। यही समाज-संगठनका मुख्य उद्देश्य है और इसी खास उद्देश्यको लेकर विवाहकी सृष्टि की गई है। इसमें पूरा 'रक्षा-तत्त्व' भरा हुआ है।

एक विवाह होने पर दोनों पक्षकी कितनी शक्तियाँ परस्पर मिलती हैं, एक दूसरेके सुख-दुखमें कितनी सहानुभूति बढ़ती है और कितनी समवेदना प्रकट होती है, इसका अनुभव वे सब लोग भले प्रकार कर सकते हैं जो एक सुव्यवस्थित कुटुम्बमें रहते हों। युद्धमें दो राजशक्तियोंके परस्पर मिलनेसे—एक सूत्रमें बँधनेसे—जिस प्रकार आनन्द मनाया जाता है, उसी प्रकार विवाहमें वर और वधू दोनों पक्षकी शक्तियोंके मिलापसे आनन्द का पार नही रहता। इस सम्मिलित शक्तिसे जीवन-युद्ध अनेक अंशोंमें सुगम होजाता है। विवाहके द्वारा कुटुम्बोंकी रचना होती है और कुटुम्बोंसे 'समाज' बनता है। कुटुम्बोंके संगठित,बलाढ्य और सुव्यवस्थित होनेपर समाज सहज-में ही संगठित, बलाढ्य और सुव्यवस्थित होजाता है। और समाजके

संगठित, बलाढ्य और सुव्यवथित होने पर उन सब लौकिक तथा धार्मिक स्वत्वोंकी—अधिकारोंकी—पूर्णतया रक्षा होती है, जिनकी रक्षा प्रत्येक व्यक्ति या कुटुम्ब अलग अलग नहीं कर सकता।

दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि सब कुटुम्ब समाज शरीरके अङ्ग हैं। एक भी अङ्गकी व्यवस्था बिगड़ जानेपर जिस प्रकार शरीर-के काममें बाधा पड़ जाती है. उसी प्रकार किसी भी कुटुम्बकी व्यव-स्था बिगड़ जाने पर समाजके काममें हानि पहुँचती है। और जिस प्रकार सब अङ्गोंके ठीक होनेपर शरीर स्वस्थ और नीरोग होकर भले प्रकार सब कार्योंका सम्पादन करनेमें समर्थ हो सकता है, उसी प्रकार समाज भी सब कुटुम्बोंकी व्यवस्था ठीक होनेपर यथेष्ट रीतिसे धर्म-कर्म आदिकी व्यवस्था कर सकता है और प्रत्येक कुटुम्ब तथा व्यक्ति-के स्वत्वोंकी रक्षा और उसकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका समुचित प्रबंध कर सकता है। इससे कहना होगा कि 'समाजका संगठन कुटुम्बोंके संगठनपर अवलम्बित है और कुटुम्बके संगठनका भार कुटुम्बके प्रधान व्यक्तियों पर—गृहिणी और गृहपति' पर—होता है। इसलिए वि-वाहके इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये विवाहित और विवाहके लिए प्रस्तुत स्त्री-पुरुषोंको इस ओर खास ध्यान देनेकी ज़रूरत है। उन्हें अपनी ज़िम्मेदारियोंको खूब समझ लेना चाहिये। उनके द्वारा कोई भी ऐसा काम न होना चाहिए जिससे समाजसंगठनमें बाधा पड़ती हो। साथ ही, उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जबतक परिस्थिति नहीं सुधरेगी—वातावरण ठीक नहीं होगा—तब तक हम अपनी स्थितिको भी जैसा चाहिए वैसा नहीं सुधार सकते। इसलिये समाज-संगठनके अभिप्रायसे—वायुमंडलको सुधारनेकी दृष्टिसे—उन्हें अपने कुटुम्बको सुव्यवस्थित करनेमें कोई बात उठा न रखनी चाहिये। इस प्रकारके प्रयत्नसे सब कुटुम्बोंके सुव्यवस्थित हो जाने पर जो स्वच्छ वायु-धारा बहेगी वह सभीके लिये स्वास्थ्यप्रद होगी और उसमें रह-कर सभी लोग अपना कल्याण कर सकेंगे।

प्रत्येक कुटुम्बको 'सुव्यवस्थित और बलाढ्य' बनानेके लिए उसके प्रधान पुरुषोंको इन बातोंपर ध्यान रखनेकी खास जरूरत है:—

(१) स्वयं सदाचारसे रहना और अपने कुटुम्बियों तथा आश्रितोंको सदाचारके मार्ग पर लगाना। ऐसा कोई काम न करना जिसका समाजपर बुरा असर पड़े।

(२) अपने बुद्धि-बल शरीर-बल और धन-बलको बराबर बढ़ाते रहना और सदा प्रसन्न चित्त रहनेकी चेष्टा करना।

(३) सबके दुख-सुखका पूरा खयाल रखना, सबको परस्पर प्रेम तथा विश्वास करना सिखलाना और दुःखियोंके दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना। साथ ही, किसीपर अत्याचार न करना और दूसरोंके द्वारा होते हुए अत्याचारोंको यथाशक्ति रोकना।

(४) वीर्यका दुरुपयोग न करके प्रायः सन्तानके लिए ही मैथुन करना। किसी व्यसनमें न फँसना और जितेन्द्रिय रहना।

(५) स्वयं कुसङ्गतिसे बचना और अपने परिवारके लोगोंको बचाते रहना। साथ ही, अपनी सन्ततिका कभी बाल्यावस्थामें विवाह न करना।

(६) सन्तानकी तथा अन्य कुटुम्बियोंकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करना, उन्हें धर्मके मार्ग पर लगाना और ऐसी शिक्षा देना जिससे वे परावलम्बी न बनकर प्रायः स्वावलम्बी बनें और देश, धर्म तथा समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हों।

(७) कुटुम्बभरमें एकता, सत्यता, समुदारता दयालुता, गुण-ग्राहकता, आत्म-निर्भरता और सहनशीलता आदि गुणोंका प्रचार करना। साथ ही, ईर्षा, द्वेष और अदेखसका-भाव आदि अवगुणोंको हटाना।

(८) रूढ़ियोंका दास न बनकर कुरीतियोंको दूर करना और जो कुछ युक्ति तथा प्रमाणसे समुचित और हितरूप जँचे उसीके अनुसार चलना।

(९) धर्मप्रचार और समाजके उत्थानकी बराबर चिन्ता रखना और धार्मिक कार्योंमें सदैव योग तथा सहायता देते रहना।

(१०) मितव्ययी (किफ़ायती) बनना, परन्तु कृपण नहीं होना। साथ ही, पूज्यकी पूजाका कभी व्यतिक्रम न करते हुए, बराबर अतिथि-सत्कारमें उद्यमी रहना और उसे यथाशक्ति करना।

प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन दस बातोंको अपना 'कर्त्तव्य-कर्म' बना, लेना चाहिए, अपने समस्त आचार-व्यवहारका 'सूत्र' समझना चाहिये और विवाहके गठजोड़ेके समय इनकी भी 'गाँठ' बाँध लेनी चाहिए।

अन्तरङ्ग-दृष्टिसे विचार

यह तो हुआ बाह्य जगतकी दृष्टिसे विचार। अब अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालिये। अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि, यह जीवात्मा अनादिकालसे मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान-मद, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, अज्ञान अदर्शन, अन्तराय और वेदनीय आदि सैकड़ों और हजारों कर्मशत्रुओंसे घिरा हुआ है, जिन सबने इसे बंधनमें डालकर पराधीन बना रक्खा है और इसकी अनन्त शक्तियोंका घात कर रक्खा है। इसीलिए यह आत्मा अपने स्वभावसे च्युत होकर विभाव-परिणतिरूप परिणाम रहा है और अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकारके दुःख और कष्टोंको भोग रहा है। इसका मुख्य और प्रधान उद्देश्य है 'बन्धनसे छूटकर स्वाधीनता प्राप्त करना'।

परन्तु बन्धनसे छूटना आसान काम नहीं है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्रकी परतंत्रतासे अलग होना चाहता है—स्वाधीन बननेकी इच्छा रखता है—तब उसे रातदिन इसविषयमें प्रयत्नशील रहनेकी जरूरत होती है, बड़े बड़े उपायोंकी योजना करनी पड़ती है, घोर संकट सहन करने होते हैं, बन्धनोंमें पड़ना होता है, हानियाँ उठानी

पड़ती हैं, अपने स्वार्थकी बलि देनी होती है और बहुतसे ऐसे काम भी करने पड़ते हैं जिनका करना उसे इष्ट नहीं होता और न वे उसके उद्देश्य ही होते हैं; परन्तु बिना उनके किये उसे अपने उद्देश्योंमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, और इसलिये वह उन्हें लाचारीकी दृष्टिसे करता है। साथ ही, वह अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता और न दूसरे राष्ट्रकी मोह-मायामें फँसता है। तब कहीं वह वर्षोंके बाद परतन्त्रताकी बेड़ीसे छूटकर स्वतन्त्रताकी शीतलछायामें निवास करता है। इसी तरह पर उस आत्माको भी,जो कर्मके बन्धनसे छूटना चाहता है, अपनी उद्देश्य-सिद्धिके लिये बड़े बड़े प्रयोग करने होते हैं और नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं। उसे बन्ध-मुक्त होनेके लिये बन्धनमें भी पड़ना होता है, कर्मसे छूटनेके लिये कर्म भी करना पड़ता है, हानिसे बचनेके लिए हानि भी उठानी पड़ती है, पापसे सुरक्षित रहनेके लिये पाप भी करना होता है और शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके लिये शत्रुओंका आश्रय भी लेना पड़ता है। परन्तु इन सब अवस्थाओंमें होकर जाता हुआ मुमुक्षु आत्मा अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता—पुद्गलके अथवा प्रकृतिके मोहजालमें कभी नहीं फँसता। वह कभी बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र स्वीकार नहीं करता। और न कभी इन बन्धादिक अवस्थाओंको इष्ट समझता हुआ उनमें तल्लीन ही होता है। बल्कि उसका प्रेम इन सब अवस्थाओंसे सिर्फ 'कार्यार्थी' होता है। कार्यार्थीका प्रेम कार्यकी हदतक रहता है। कार्यकी समाप्तिपर उसकी भी समाप्ति हो जाती है। इसलिए वह अपने किसी इष्ट प्रयोजनकी साधनाके निमित्त लाचारीसे इन बन्धादिक अवस्थाओंसे क्षणिक प्रेम रखता हुआ भी बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्पाप और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करता रहता है। इस विषयमें उसका यह सिद्धान्त होता है :—

उपकारादगृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत्।

पादलग्नं करस्थेन कंटकेनेव कंटकम् ॥

अर्थात्—हाथमें काँटा लेकर जिस प्रकार पैरका काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार उपकार तथा प्रेमादिकसे एक शत्रुको अपना बनाकर उसके द्वारा दूसरे शत्रुको निर्मूल करना चाहिए। अभिप्राय यह कि, पैरमें लगे हुए काँटेको निकालनेके लिए पैरमें दूसरा काँटा चुभानेकी ज़रूरत होती है और उस दूसरे काँटेको आदरके साथ हाथमें ग्रहण करते हैं। परन्तु वह दूसरा काँटा वास्तवमें इष्ट नहीं होता—कालान्तरमें वह भी पैरमें चुभ सकता है—और न उसका चुभाना ही इष्ट होता है—क्योंकि उससे भी तकलीफ़ ज़रूर होती है; फिर भी उस अधिक पीड़ा पहुँचानेवाले पैरके काँटेको निकालनेके लिए यह सब कुछ किया जाता है। और कार्य हो चुकने पर वह दूसरा काँटा भी हाथसे डाल दिया जाता है। इसी सिद्धान्त पर मुमुक्षु आत्माको बराबर चलना होता है। उसका जानबूझकर किसी बंधन में पड़ना, कोई पापका काम करना और किसी शत्रुकी शरणमें जाना दूसरे अधिक कठोर बन्धनसे बचने, घोर पापसे सुरक्षित रहने और प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होता है। यद्यपि उसे सम्पूर्ण कर्मशत्रुओंका विजय करना इष्ट होता है; परन्तु साथ ही वह अपनी शक्तिको भी देखता है और इस बातको समझता है कि यदि समस्त शत्रुओंको एकदम चैलेंज दे दिया जाय—सबका एक साथ विरोध करके उन्हें युद्धके लिए ललकारा जाय—तो उसे कदापि सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए वह बराबर अपनी शक्तिको बढ़ानेका उद्योग करता रहता है। जब तक उसका बल नहीं बढ़ता तब तक वह अपनी तरफ़से आक्रमण नहीं करता, केवल शत्रुओंके आक्रमणकी रोक करता है, कभी कभी उसे टेम्परेरी (अल्पकालिक) संधियाँ भी करनी पड़ती हैं। और जब जिस विषयमें उसका बल बढ़ जाता है तब उसी विषयके शत्रुसे लड़नेके लिए तैयार हो जाता है और उसे नियमसे परास्त कर देता है। इस

तरह वह सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है।

गृहस्थाश्रम भी कर्मबन्धनसे छूटनेके प्रयोगोंमेंसे एक प्रयोग है और स्त्री पुरुष दोनों मुमुक्षु हैं—कर्मबन्धनसे छूटनेके इच्छुक हैं—इसलिए उन्हें भी अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर गृहस्थाश्रमकी बन्धादिक अवस्थाओंको अपना स्वरूप न समझ लेना चाहिए, उन्हें सर्वथा इष्ट मानकर उनमें लवलीन न हो जाना चाहिए। बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव, हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र न मान लेना चाहिए। ऐसा मान लेनेसे फिर कर्मका बन्धन न छूट सकेगा। अन्तरंग दृष्टिसे उनका भी प्रेम इन सब अवस्थाओंसे 'कार्यार्थी' होना चाहिए और उन्हें बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्कषाय और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही, उनका भी वही कंटकोन्मूलन-सिद्धान्त होना चाहिए और उन्हें बड़ी सावधानीके साथ उस पर चलना चाहिए। उनका जानबूझकर गृहस्थीके बन्धनोंमें पड़ना, आरंभादिक पापोंमें फँसना और कामादिक शत्रुओंका शरण लेना नरक-निगोद-तिर्यंचादिकके कठोर बंधनोंसे बचने, संकल्प तथा अशुभ रागादि-जनित घोर पापोंसे सुरक्षित रहने और अज्ञान-मिथ्यात्वादि प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होना चाहिए। उन्हें अपने पूर्ण ब्रह्मचर्यादि धर्मों पर लक्ष्य रखते हुए समस्त कर्म शत्रुओंको जीतनेका उद्देश्य रखना चाहिए और उसके लिए बराबर अपना आत्म-बल बढ़ाते रहना चाहिए। आत्माका बल शुभकर्मोंसे बढ़ता है और अशुभकर्मोंसे घटता है। इसलिए गृहस्थाश्रममें उन्हें अशुभकर्मोंका त्याग करके बराबर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्म-द्वारा आत्माका बल बहुत कुछ बढ़ाया जा सकता है। इसीलिए महर्षियोंने इस गृहस्थाश्रमकी सृष्टि की है। शुभकर्मोंके द्वारा आत्म-बल बढ़ जाने पर गृहस्थोंको, प्रेमपूर्वक ग्रहण किये हुए हाथके कांटेके समान, गृहस्थाश्रमका भी त्याग कर देना चाहिए और

फिर उन्हें 'वानप्रस्थ' या 'संन्यस्त' (मुनि) आश्रम धारण करना चाहिए, और इस प्रकार कर्मोंका बल घटाते हुए अन्तके आश्रम द्वारा उन्हें सर्वथा निर्मूल करके बन्धनसे छूट जाना चाहिए। यही मुक्तिकी सुसरल युक्ति है। और इसके उपर्युक्त दिग्दर्शनसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि गृहस्थाश्रम अथवा गृहस्थधर्मका यह प्रणयन कितना अधिक युक्ति और चतुराईको लिये हुए है[1]। और उस पर पूरा पूरा अमल होनेसे मुक्ति कितनी सन्निकट हो जाती है।

परन्तु इन समस्त आश्रमोंके धर्मका पूरी तौरसे पालन तब ही हो सकता है जब 'समाजका संगठन अच्छा हो'। बिना समाज-संगठनके कोई भी काम यथेष्ट रीतिसे नहीं हो सकता। बाह्यसाधन न होनेसे सब विचार हृदयके हृदयमें ही विलीन हो जाते हैं, बन्ध-मोक्षकी सारी कथनी ग्रन्थोंमें ही रक्खी रह जाती है और अमली सूरत कुछ भी बन नहीं पड़ती। जैनियोंका सामाजिक संगठन बिगड़ जानेसे ही अफसोस ! आज वस्तुतः मुनिधर्म उठ गया !! और इसीसे जैनियोंकी प्रगति रुक गई। मुनियोंका धर्म प्रायः गृहस्थोंके आश्रय होता है। इसीलिए श्रीपद्मनन्दी आदि आचार्योंने "गृहस्था धर्महे-

---

१ विवाह-पद्धतिमें भी, भगवान् 'वृषभ' देवका स्तवन करते हुए, यह बतलाया गया है कि 'उन्होंने युगकी आदिमे कल्याणकारी गृहस्थधर्मको प्रवर्तित करके उसके द्वारा युक्तिके साथ निर्वाण-मार्गको प्रवर्तित किया था'। यथा :—

प्रावर्तयज्जन-हितं खलु कर्मभूमौ षट्कर्मणा गृहिवृषं परिवर्त्य युक्त्या।
निर्वाण-मार्गमनवद्यमजःस्वयम्भू श्रीनाभिसूनुजिनपो जयतात्स पूज्यः॥

जो लोग विवाहको सर्वथा संसारका कारण मानकर निवृत्तिप्रधान धर्मोंके साथ उसको असम्बद्ध समझते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। उन्होंने विवाहके वास्तविक उद्देश्यको नहीं समझा और न धर्मका रहस्य ही मालूम किया है।

तव:" "श्रावका मूलकारणम्" इत्यादि वाक्योंके द्वारा गृहस्थोंको 'धर्मका हेतु' और 'मुनिधर्मका मूल कारण' बतलाया है[1]। परन्तु गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था ठीक न होनेसे—समाजके अव्यवस्थित और निर्बल होनेसे—यह सब कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए अन्तरंग और बहिरंग दोनों दृष्टियोंसे समाज-संगठनकी बहुत बड़ी जरूरत है। इसी खास उद्देश्यको लेकर विवाह होना चाहिए और उसको पूरा करनेके लिये प्रत्येक स्त्री-पुरुषको उन दस कर्त्तव्योंका पूरी तौर-से पालन करना चाहिये जो कुटुम्बोंको सुव्यवस्थित बनानेके लिए बतलाये गये हैं और जिन पर समाजका संगठन अवलम्बित है। धर्मशास्त्रोंकीदृष्टिसे विवाहके ये ही सब उद्देश्य हैं। अन्य सब छोटी-मोटी बातें इन्हींमें समाजाती हैं[2]।

उद्देश्यसिद्धिके लिये जरूरत

विवाहके इन सब उद्देश्योंको पूरा करने अथवा सिद्ध करनेके

---

१ 'मनु' आदिने भी गृहस्थाश्रमको प्रधानता दी है और लिखा है कि 'शेष तीनों आश्रमोंका उसीके द्वारा भरण-पोषण होता हैं और वें उसके आश्रित है'। यथा:—

सर्वेषामपि चैतेषां वेद-स्मृति-विधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि॥
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ —मनुस्मृतिः

२ श्रीसोमदेवसूरिने, नीतिवाक्यामृतके निम्न वाक्यमें, दारकर्म (विवाह) के जो पाँच फल बतलाये हैं उनमेंसे कोई भी फल ऐसा नही है जो इन उद्देश्योंसे भिन्न हो अथवा इनके द्वारा साध्य न हो:—

धर्मसंततिरनुपहतारतिर्गृहवार्तानुविहितत्वमाभि-
जात्याचारविशुद्धिर्देव-द्विजाऽतिथि-बान्धव-सत्कारा-
नवद्यत्वं दारकर्मणः फलम्।

लिये और गृहस्थाश्रमका भार समुचित-रीतिसे उठानेके लिये इस बातकी बहुत बड़ी ज़रूरत है कि 'स्त्री और पुरुष दोनों योग्य हों, समर्थ हों, युवावस्थाको प्राप्त हों और विवाहके उद्देश्योंको भले प्रकार समझते हों। बाल्यावस्थासे ही उनके शरीरका संगठन अच्छी रीतिसे हुआ हो, वे खोटे संस्कारोंसे दूर रक्खे गये हों और उनकी शिक्षा-दीक्षाका योग्य प्रबन्ध किया गया हो। साथ ही, विवाह-संस्कार होने तक उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य-का पालन किया हो और लौकिक तथा पारमार्थिक ग्रन्थोंका अध्ययन करके उनमें दक्षता प्राप्त की हो— अच्छी लियाक़त हासिल की हो।' बिना इन सब बातोंकी पूर्ति हुए विवाहके उद्देश्योंका पूरे तौरसे पालन नहीं हो सकता, न गृहस्थाश्रम-का भार समुचित-रीतिसे उठाया जा सकता है और न वह गृहस्थाश्रम सुखाश्रम ही बन सकता है[१]। इसीलिए गृहस्थाश्रमसे पहले आचार्योंने एक दूसरे आश्रमका विधान किया है, जिसका नाम है 'ब्रह्मचारी आश्रम'—अर्थात्, ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करते हुए शारीरिक और मानसिक शक्तियोंको केन्द्रित करना। इस आश्रम

---

१ मुनि रत्नचंदजीने भी 'कर्त्तव्य-कौमुदी' में लिखा है :—

यावन्नार्जयते धनं सुविपुलं दारादिरक्षाकरं
यावन्नैव समाप्यते दृढतरा विद्या कला वाऽश्रिता।
यावन्नो वपुषो धियश्च रचना प्राप्नोति दार्ढ्यं परं
तावन्नो सुखदं वदन्ति विबुधा ग्राह्यं गृहस्थाश्रमं॥

अर्थात्-जब तक इतना प्रचुर धन पैदा न करलिया जाय अथवा पासमें न हो जिससे अपनी तथा स्त्री-पुत्रादिककी यथेष्ट रक्षा होसके— घरका खर्च चल सके, जब तक विद्या और कलाका अभ्यास अच्छी तरहसे पूरा न हो जाय और शरीरके अंगोंकी रचना तथा बुद्धिका विकास अच्छी तरहसे होकर उनमें पूर्ण दृढता न आ जाय तब तक गृहस्थाश्रम-का ग्रहण करना सुखदायी नहीं हो सकता, ऐसा बुद्धिमानोंका मत है।

का खास उद्देश्य इन्हीं सब बातोंकी पूर्ति करना है जो विवाहके उद्देश्योंकी पूर्ति तथा गृहस्थाश्रमके पालनके लिये जरूरी हैं। भगवज्जिनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, इन सब आश्रमोंका क्रम इस प्रकारसे वर्णन किया है—

> ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
> इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥३९-१५२॥

अर्थात्--ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ, और भिक्षुक ये जैनियों[1] के चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धिको लिये हुए हैं।

इससे प्रकट है कि सब आश्रमोंसे पहला आश्रम 'ब्रह्मचारी आश्रम' रक्खा गया है। यह आश्रम, वास्तवमें, सब आश्रमोंकी नीव जमानेवाला है। जब तक इस आश्रमके द्वारा एक खास अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए किसी योग्य गुरुके पास विद्याभ्यास नहीं किया जाता है, तब तक किसी भी आश्रमका ठीक तौरसे पालन नहीं हो सकता। इसके बिना वे सब आश्रम बिना नीवके मकानके समान अस्थिर और हानि पहुँचानेवाले होते हैं। इसलिये सबसे पहले बालक बालिकाओंको एक योग्य अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्यके साथ रखकर उनकी शिक्षा और शरीरसंगठनका पूरा प्रबन्ध करना चाहिए, और इसके बाद कहीं उनके विवाहका नाम लिया जाना चाहिए। यही माता-पिताका मुख्य कर्त्तव्य है।

वह 'योग्य अवस्था' बालकोंके लिये २० वर्ष और बालिकाओंके लिये १६ वर्षसे कम न होनी चाहिए। इससे पहले न वीर्य ही परिपक्व होता है और न विद्याभ्यास ही यथेष्ट बन पाता है। सारा ढाँचा कच्चा ही रह जाता है, जिससे आगे गृहस्थाश्रम-धर्म तथा समाज-

---

१ हिन्दुओंके यहाँ भी ये ही चार आश्रम इसी क्रमसे माने गये हैं:—

> ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
> एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥ —मनुस्मृतिः

संगठनको बहुत बड़ी हानि पहुँचती है और स्त्री-पुरुषोंका जीवन भी नीरस तथा दुःखमय बन जाता है। शरीर-शास्त्रके वेत्ता आचार्य वाग्भट्ट लिखते हैं कि, 'पुरुषकी अवस्था पूरे २० वर्षकी और स्त्रीकी अवस्था पूरे १६ वर्षकी हो जाने पर गर्भाशय-मार्ग, रक्त, शुक्र (वीर्य), शरीरस्थ-वायु और हृदय शुद्ध हो जाते हैं—अपना कार्य यथेष्ट रीतिसे करने लगते हैं—उस समय परस्पर जो मैथुन किया जाता है उससे बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है; और इससे कम अवस्थाओंमें जो मैथुन किया जाता है उससे रोगी, अल्पायु या दीन-दुःखित और भाग्यहीन सन्तान पैदा होती है अथवा गर्भ ही नहीं रहता। यथाः—

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाऽब्दयोः पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा॥

इससे साफ़ जाहिर है कि 'पुरुषका २० वर्षसे और स्त्रीका १६ वर्षसे कम उम्रमें विवाह न होना चाहिए', ऐसा कम उम्रका विवाह बहुत ही हानिकारक होता है और समाजके संगठनको बिगाड़ता है। छोटी उम्रमें विवाह करके बादको जो 'गौना' या 'द्विरागमन' की प्रथा है वह बिल्कुल विवाहके उद्देश्यको घात करनेवाली प्रथा है। सोते हुए सिंहको जगाकर उसे थपकी देनेके समान है। किसी भी माननीय प्राचीन जैनशास्त्रमें उसका उल्लेख या विधान नहीं है। उसके द्वारा व्यर्थ ही दो व्यक्तियोंका जीवन खतरेमें (जोखममें) डाला जाता है। इसलिए बुद्धिमानोंके द्वारा यह प्रथा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।

उपसंहार

जो लोग विवाहके इन सब उद्देश्योंको न समझकर, शरीरशास्त्रके वचनोंको न मानकर अपने बच्चोंका विवाह छोटी उम्रमें

करते हैं वे सिर्फ़ अपने बच्चोंका ही बुरा नहीं करते—उन्हींके जीवन-को नहीं बिगाड़ते—; बल्कि समाजभरका अनिष्ट करते हैं, जगतमें अनेक आपत्तियोंको जन्म देते हैं, और इसलिये उन्हें 'जगतका शान्तिभंग-कर्ता' समझना चाहिए। और इसीलिये सच्चे माता पिताओंका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी संतानके विवाहका नाम उस वक्त लेवें जबकि उसमें विवाहकी संपूर्ण योग्यताएँ आजायें, जिससे वह विवाहके उद्देश्योंको पूरा करती हुई अपने जीवनको सरस और आनंदमय बना सके। इससे पहले उन्हें बराबर उसकी योग्यताओंको पूरा करनेकी—उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों-को बढ़ानेकी—पूरी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिए कि विवाह-जैसे महत्वके कार्यको एक 'खेल' या 'तमाशा' बनाना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

जो लोग विवाहकी संपूर्ण योग्यताओंको प्राप्त किये बिना ही विवाहित हो चुके हैं उनका, अपने लिये, इस समय यही खास कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे प्रस्तुत 'विवाह-समुद्देश्य'को अच्छी तरह-से अध्ययन और मनन करके अपनी प्रवृत्तियोंको जहाँ तक बने, बिल्कुल इसके अनुकूल बना लेवें, अपना लक्ष्य ऊँचा रक्खें और उन दश कर्त्तव्योंका यथाशक्ति ज़रूर पालन करते रहें—उसमें कोई बात उठा न रक्खें—जो कुटुम्बोंको सुव्यवस्थित और बलाढ्य बनानेके लिये बतलाये गये हैं।

समाजके शुभ-चिन्तकोंको चाहिये, कि वे प्रत्येक गृहस्थी और गृहस्थाश्रममें प्रवेशके इच्छुक व्यक्तियों—उसके उम्मीदवारों—तक इस विवाह-समुद्देश्यको पहुँचाएँ शिक्षा-संस्थाओंमें भरती कराएँ और समाजकी प्रवृत्तिको इसके अनुकूल बनानेका जी-जानसे यत्न करें। इसीमें समाजका हित संनिहित है और उसी हितको लक्ष्यमें लेकर यह निबन्ध लिखा गया है।

११

नौकरोंसे पूजन कराना

जैनियोंमें दिन पर दिन यह बात बढ़ती जाती है कि मंदिरोंमें पूजाके लिए नौकर रक्खे जाते हैं—श्वेतांबर मंदिरोंमें तो आमतौर पर अजैन ब्राह्मण इस कामके लिए नियुक्त किये जाते हैं और उन्हीं-से जिनेन्द्र भगवान्का पूजन कराया जाता है। पुजारियोंके लिए अब समाचारपत्रोंमें खुले नोटिस भी आने लगे हैं। समझमें नहीं आता कि जो लोग मंदिर बनवाने, प्रतिष्ठा कराने, रथयात्रा निकालने और मंदिरोंमें अनेक प्रकारकी सजावट आदिके सामान इकट्ठा करने में हजारों और लाखों रुपये खर्च करते हैं वे फिर इतने भक्तिशून्य और अनुरागरहित क्यों हो जाते हैं, जो अपने पूज्यकी उपासना अर्थात् अपने करनेका काम नौकरोंसे कराते हैं? क्या उनमें वस्तुतः अपने पूज्यके प्रति भक्तिका भाव ही नही होता और वे जो कुछ करते हैं वह सब लोकदिखावा, नुमायश, रूढिपालन और बाहरी वाहवाही लूटने तथा यशप्राप्तिके लिए ही होता है। कुछ भी हो, सच्चे जैनियोंके लिए यह एक बड़े ही कलंक और लज्जाकी बात है! लोकमें अपने अतिथियों तथा इष्टजनोंकी सेवाके लिए नौकर जरूर नियुक्त किये जाते हैं, जिसका अभिप्राय और उद्देश्य होता है—अतिथियों तथा इष्टजनोंको आराम और सुख पहुँचाना, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना और उन्हें अप्रसन्नचित्त न होने देना।

परन्तु यहाँ मामला इससे बिल्कुल ही विलक्षण है । जिनेन्द्रदेवकी पूजासे जिनेंद्र भगवान्‌को कुछ सुख या आराम पहुँचाना अभीष्ट नहीं होता--वे स्वतः अनंतसुखस्वरूप हैं- और न इससे भगवानकी प्रसन्नता या अप्रसन्नताका ही कोई सम्बन्ध है । क्योंकि जिनेंद्रदेव पूर्ण वीतरागी हैं–उनके आत्मामें राग या द्वेषका अंश भी विद्यमान नहीं है–वे किसीकी स्तुति, पूजा तथा भक्तिसे प्रसन्न नहीं होते और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटुशब्दों पर अप्रसन्नता लाते हैं। उन्हें किसीकी पूजाकी जरूरत नहीं और न निन्दासे कोई प्रयोजन है । जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रगट है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्यः ॥

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

ऐसी हालतमें कोई वजह मालूम नहीं होती कि जब हमारा स्वयं पूजन करनेके लिए उत्साह नहीं होता तब वह पूजन क्यों किरायेके आदमियों-द्वारा संपादन कराया जाता है । क्या इस विषय-में हमारे ऊपर किसीका दबाव और जब्र है ? अथवा हमें किसीके कुपित हो जानेकी कोई आशंका है ? यदि ऐसा कुछ भी नहीं है तो फिर यह व्यर्थका स्वांग क्यों रचा जाता है ? और यदि सचमुच ही पूजन न होनेसे जैनियोंको परमात्माके कुपित हो जानेका कोई भय लगा हुआ है और इसलिए जिस तिस प्रकारके पूजन-द्वारा खुशामद करके हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह परमात्माको राज़ी और प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते हैं तो समझना चाहिए कि वे वास्तवमें जैनी नहीं है; जैनियोंके वेषमें हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हैं । उन्होंने परमात्माके स्वरूपको नहीं समझा और न वास्तवमें जैनधर्मके सिद्धांतोंको ही पहचाना है । ऐसे लोगोंको पिछले निबन्ध 'जिनपूजाधिकारमीमांसा' में 'पूजनसिद्धान्त' को पढ़ना और उसे अच्छी तरहसे समझना चाहिए । इसके सिवाय, यदि इस प्रकारके

(किरायेके) आदमियों-द्वारा पूजनकी गरज़ पुण्य-संपादन करना कही जाय तो वह भी निरी भूल है और उससे भी जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी अनभिज्ञता पाई जाती है। जैन सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे प्रत्येक प्राणी अपने शुभाऽशुभ भावोंके अनुसार पुण्य और पापका संचय करता है। ऐसा अंधेर नहीं है कि शुभ भाव तो कोई करे और उसके फलस्वरूप पुण्यका सम्बन्ध किसी दूसरे ही व्यक्तिके साथ हो जाय। पूजनमें परमात्माके पुण्य-गुणोंके स्मरणसे आत्मामें जो पवित्रता आती और पापोंसे जो कुछ रक्षा होती है उसका लाभ उसी मनुष्यको हो सकता है जो पूजन-द्वारा परमात्माके पुण्य-गुणोंका स्मरण करता है। इसी बातको स्वामी समंतभद्रने अपने उपर्युक्त पद्यके उत्तरार्धमें भले प्रकारसे सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि सेवक-द्वारा किये हुए पूजनका फल कभी उसके स्वामीको प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह उस पूजनमें परमात्माके पुण्यगुणोंका स्मरणकर्त्ता नहीं है। ऐसी हालतमें नौकरोंसे पूजन कराना बिलकुल व्यर्थ है और वह अपने पूज्यके प्रति एक प्रकारसे अनादरका भाव भी प्रगट करता है। तब क्या होना चाहिए ? जैनियोंको स्वयं पूजन करना और पूजनके स्वरूपको समझना चाहिए। अपने पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनेका नाम पूजन है। उसके लिए अधिक आडम्बरकी ज़रूरत नहीं है। वह पूज्यके गुणोंमें अनुरागपूर्वक बहुत सीधा सादा और प्राकृतिक होना चाहिए। पूजनमें जितना ही अधिक बनावट, दिखावट और आडम्बरसे काम लिया जायगा उतना ही अधिक वह पूजनके सिद्धान्तसे गिर जायगा। जबसे जैनियोंमें बहुआडम्बरयुक्त पूजन प्रचलित हुआ है तभीसे उन्हें पूजा के लिये नौकर रखनेकी जरूरत पड़ी है। अन्यथा जिनेन्द्र भगवानकी सच्ची और प्राकृतिक पूजाके लिए किरायेके आदमियोंकी कुछ भी जरूरत नहीं है। जैनियोंके प्राचीन साहित्यकी जहाँतक खोज की जाती है, उससे भी यही मालूम होता है, कि पुराने जमानेमें जैनियोंमें वर्तमान-जैसा बहुआड-

म्बरयुक्त पूजन प्रचलित नहीं था। उस समय अर्हंतभक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति और प्रवचनभक्ति आदि अनेक प्रकारकी भक्तियों-द्वारा, जिनके संस्कृत और प्राकृतके कुछ प्राचीन पाठ अब भी पाये जाते हैं, पूज्यकी पूजा और उपासना की जाती थी। श्रावक लोग मंदिरोंमें जाकर प्रायः जिनेन्द्रप्रतिमाके सम्मुख, खड़े होकर अथवा बैठकर, अनेक प्रकारके समझमें आने योग्य स्तोत्र पढ़ते तथा भक्तिपाठोंका उच्चारण करते थे और परमात्माके गुणोंका स्मरण करते हुए उनमें तल्लीन हो जाते थे। कभी कभी वे ध्यानमुद्रासे बैठकर परमात्माकी मूर्तिको अपने हृदयमन्दिरमें विराजमान करके निःशब्द-रूपसे गुणोंका चिन्तवन करते हुए परमात्माकी उपासना किया करते थे। प्रायः यही सब उनका द्रव्य-पूजन था और यही भावपूजन। उस समयके जैनाचार्य वचन और शरीरको अन्य व्यापारोंसे हटाकर उन्हें अपने पूज्यके प्रति, स्तुतिपाठ करने और अंजुलि जोड़ने आदि रूपसे, एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और उसी प्रकारसे मनके एकाग्र करनेको 'भावपूजा' मानते थे, जैसा कि श्रीअमितगति आचार्यके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है :—

वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥ १२-१२॥

—उपासकाचार

जबसे हिन्दुओंके प्राबल्यद्वारा जैनियों पर हिन्दूधर्मका प्रभाव पड़ा है और उन्होंने हिन्दुओंकी देखादेखी उनकी बहुतसी ऐसी बातोंको अपनेमें स्थान दिया है, जिनका जैनसिद्धान्तोंसे प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तभीसे जैनसमाजमें बहुआडम्बरयुक्त पूजनका प्रवेश प्रारम्भ हुआ है और उसने बढ़ते बढ़ते वर्तमानका रूप धारण किया है, जिसमें बिना पुजारियोंके नौकर रक्खे नहीं बीतती। आजकल इस पूजनमें मुक्तिको प्राप्त हुए जिनेन्द्र भगवानका आवाहन और विसर्जन भी किया जाता है। उन्हें कुछ मंत्र पढ़कर बुलाया, बिठलाया,

ठहराया और फिर नैवेद्यादिक अर्पण करनेके बाद रुखसत किया जाता है—कहा जाता है कि महाराज! अब आप अपने स्थान पर तशरीफ़ ले जाइए और हमारा अपराध क्षमा कीजिए; क्योंकि हम लोग ठीक तौरसे आवाहन, पूजन और विसर्जन करना नहीं जानते। ज़रा सोचनेकी बात है कि, जैनधर्मसे इन सब क्रियाओंका क्या सम्बन्ध है? जिनसिद्धान्तके अनुसार मुक्त तीर्थंकर अथवा जिनेन्द्र भगवान किसीके बुलानेसे नहीं आते; न किसीके कहनेसे कहीं बैठते, ठहरते या नैवेद्यादिक ग्रहण करते हैं; और न किसीके रुख़सती (विसर्जनात्मक) शब्द उच्चारण करने पर वापिस ही चले जाते हैं। ऐसी हालतमें जैन-धर्मसे इन आवाहन और विसर्जनसम्बन्धी क्रियाओंका कोई मेल नहीं है। वास्तवमें ये सब क्रियायें हिन्दूधर्मकी क्रियायें हैं। हिन्दुओंके यहाँ वेदोंतकमें देवताओंका आवाहन और विसर्जन पाया जाता है। वे लोग ऐसा मानते हैं कि देवता लोग बुलानेसे आते, बैठते, ठहरते और अपना यज्ञभाग ग्रहण करके, रुखसत करने पर, वापिस चले जाते हैं। इससे हिन्दुओंके यहाँ आवाहन और विसर्जनका यह सब कथन ठीक बन जाता है। परन्तु जैनियोंकी ऐसी मान्यता नहीं है। इसी-लिए जैनधर्मसे इनका मेल नही मिलता और ये सब क्रियाये बिल्कुल बेजोड़ मालूम होती हैं;इसी प्रकारकी,पूजन सम्बंधमें और भी बहुतसी क्रियायें हैं जो हिन्दुओंसे उधार लेकर रक्खी गईं अथवा उनके सं-स्कारोंसे संस्कारित होकर पीछेसे बना ली गई हैं और जिन सबका जैनसिद्धान्तोंसे प्रायः कुछ भी मेल नहीं है। यहाँ इस छोटेसे लेख में उन सब पर विचार नहीं किया जा सकता और न इस समय उनके विचारका अवसर ही प्राप्त है। अवसर मिलने पर उन पर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा। परन्तु इतना जरूर कहना होगा कि वर्तमान-का पूजन इन्हीं सब क्रियाओंके कारण बिल्कुल अप्राकृतिक तथा आडम्बरयुक्त बन गया है और उससे जैनियोंकी आत्मीय प्रगति, एक प्रकारसे, रुक गई है। यदि सचमुच ही हमारे जैनी भाई अपने परमा-

त्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना चाहते हैं तो उन्हें सब आडम्बरोंको छोड़कर पूजनकी अपनी वही पुरानी, प्राकृतिक और सीधी-सादी पद्धति जारी करनी चाहिए; जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। ऐसा करनेपर पुजारियोंको नौकर रखनेकी भी फिर कुछ ज़रूरत नहीं रहेगी और आत्मोन्नति-सम्बन्धी वह सब लाभ अपनेको प्राप्त होने लगेगा, जिसको लक्ष्य करके ही मूर्तिपूजाका विधान किया गया है और जिसका परिचय पाठकोंको, 'जिनपूजाधिकारमीमांसा'के 'पूजन-सिद्धान्त' प्रकरणको पढ़नेसे भले प्रकार मिल सकता है। विपरीत इसके यदि जैनी लोग अपनी वर्तमान पूजनपद्धतिको न बदलनेके कारण नौकरोंसे पूजन कराना जारी रक्खेंगे तो इसमें संदेह नहीं कि वह समय भी शीघ्र निकट आ जायगा जब उन्हें दर्शन, सामायिक, स्वाध्याय, तप, जप, शील, संयम, व्रत, नियम और उपवासादिक सभी धार्मिक कामोंके लिये नौकर रखने या उन्हें सर्वथा छोड़ देनेकी जरूरत पड़ने लगेगी। और तब उनका धर्मसे बिल्कुल ही पतन हो जायगा। इसलिए जैनियोंको शीघ्र ही सावधान होकर अपनी वर्त्तमान पूजनपद्धतिमें आवश्यक सुधार करके उसे सिद्धान्तसम्मत बना लेना चाहिए। और नौकरोंके-द्वारा पूजनकी प्रथाको एकदम उठा देना चाहिए। आशा है कि, समाजके नेता और विद्वान् लोग इस विषयकी ओर खास तौरसे ध्यान देंगे।

१२

चारुदत्त सेठ का शिक्षाप्रद उदाहरण

हरिवंशपुराणादि जैनकथा-ग्रन्थोमें चारुदत्त सेठकी एक प्रसिद्ध कथा है। यह सेठ जिस वेश्यापर आसक्त होकर वर्षों तक उसके घर पर, बिना किसी भोजनपानादि संबंधी भेदके, एकत्र रहा था और जिसके कारण वह एक बार अपनी संपूर्ण धन संपत्तिको भी गँवा बैठा था उसका नाम 'वसंतसेना' था। इस वेश्याकी माताने, जिससमय धनाभावके कारण चारुदत्त सेठको अपने घरसे निकाल दिया और वह धनोपार्जन के लिये विदेश चला गया उस समय वसंतसेनाने, अपनी माताके बहुत कुछ कहने पर भी, दूसरे किसी धनिक पुरुषसे अपना संबंध जोड़ना उचित नहीं समझा और तब वह अपनी माताके घरका ही परित्याग कर चारुदत्तके पीछे उसके घर पर चली गई। चारुदत्तके कुटुम्बियोंने भी वसंतसेनाको आश्रय देनेमें कोई आनाकानी नहीं की। वसंतसेनाने उनके समुदार आश्रयमें रहकर एक आर्यिकाके पाससे श्रावकके १२ व्रत ग्रहण किये, जिससे उसकी पूर्व परिणति पलटकर उच्च तथा धार्मिक बन गई; और वह बराबर चारुदत्तकी माता तथा स्त्रीकी सेवा करती हुई निःसंकोच-भावसे उनके घर पर रहने लगी। जब चारुदत्त विपुल धनसम्पत्तिका स्वामी बनकर विदेशसे अपने घर पर वापिस आया और उसे वसंतसेनाके स्वगृह पर रहने आदिका हाल मालूम हुआ तब उसने बड़े हर्षके साथ वसंतसेना को अपनाया अर्थात्, उसे अपनी स्त्री रूपसे स्वीकृत किया। चारुदत्तके इस कृत्यपर-अर्थात्, एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको

खुल्लम खुल्ला घरमें डाल लेनेके अपराध पर उस समयकी जाति बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज नहीं किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया। वह श्रीनेमिनाथ भगवानके चचा वसुदेवजी जैसे प्रतिष्ठित पुरुषोंसे भी प्रशंसित और सम्मानित रहा। और उसकी शुद्धता यहाँ तक बनी रही कि वह अन्तको उसके दिगम्बर मुनितक होनेमें भी कुछ बाधक न हो सकी। इस तरह पर एक कुटुम्ब तथा जाति-बिरादरीके सद्व्यवहारके कारण दो व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपने उद्धारका अवसर मिला।

इस पुराने शास्त्रीय उदाहरणसे वे लोग कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो अपने अनुदार विचारोंके कारण ज़रा ज़रासी बात पर अपने जाति-भाइयोंको जातिसे च्युत करके—उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके—उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं और इस तरह अपनी जातीय तथा संघशक्तिको निर्बल एवं निःसत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको बुलानेके लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसे लोगोंको संघशक्तिका रहस्य जानना चाहिए और यह मालूम करना चाहिये कि धार्मिक और लौकिक प्रगति किस प्रकारसे हो सकती है। यदि उस समयकी जाति-विरादरी उक्त दोनों व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपनेमें आश्रय न देकर उन्हें अपनेसे पृथक् कर देती, घृणाकी दृष्टिसे देखती और इस प्रकार उन्हें सुधरने का कोई अवसर न देती तो अन्तमें उक्त दोनों व्यक्तियोंका जो धार्मिक जीवन बना है वह कभी न बन सकता। अतः ऐसे अवसरोंपर जाति-बिरादरीके लोगोंको बहुत सोच समझकर, बड़ी दूरदृष्टिताके साथ काम करना चाहिए। यदि वे पतितोंका स्वयं उद्धार नहीं कर सकते तो उन्हें कमसे कम पतितोंके उद्धारमें बाधक न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतित जन और भी अधिकताके साथ पतित हो जायँ।

१३

वसुदेवका शिक्षाप्रद उदाहरण

श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरके चचा और श्रीकृष्ण महाराजके पिता वसुदेवजी जैनसमाजमें एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। हरिवंश-पुराणादि जैनकथाग्रन्थोंमें आपका विस्तारके साथ वर्णन दिया है। यहाँपर मैं आपके जीवनकी सिर्फ चार घटनाओंका उल्लेख करता हूँ; एक 'देवकीसे विवाह', दूसरी 'जरा नामकी म्लेच्छ कन्यासे विवाह', तीसरी 'प्रियंगुसुन्दरीसे विवाह, और चौथी घटना है 'रोहिणी का स्वयंवर'।

देवकीसे विवाह

देवकी राजा उग्रसेनके भाई देवसेन (देवक) की पुत्री, नृप भोज-कवृष्टिकी पौत्री और महाराजा सुवीरकी प्रपौत्री थी। वसुदेव राजा अन्धकवृष्टिके पुत्र और नृप-शूरके पौत्र थे। ये नृप 'शूर' और देवकी-के प्रपितामह 'सुवीर' दोनों सगे भाई थे। दोनोंके पिताका नाम 'नर-पति' और पितामह (बाबा) का नाम 'यदु' था। ऐसा श्रीजिनसेना-चार्यने अपने हरिवंशपुराणमें सूचित किया है और इससे यह प्रगट है कि राजा उग्रसेन, देवसेन और वसुदेवजी तीनों आपसमें चचा-ताऊ-ज़ाद भाई लगते थे और इसलिये देवसेनकी लड़की 'देवकी' रिश्तेमें उग्रसेन तथा वसुदेवकी भतीजी (भ्रातृजा) हुई। इस देवकीसे वसुदेवका

विवाह हुआ, जिससे स्पष्ट है कि इस विवाहमें गोत्र तथा गोत्रकी शाखाओंका टालना तो दूर रहा, एक वंश और एक कुटुम्बका भी कुछ ख़याल नहीं रक्खा गया। वसुदेवजीने गोत्रादि-सम्बन्धी इन सब बातोंको कुछ भी महत्व न देकर, बिना किसी संकोचके अपनी भतीजीके साथ विवाह कर लिया और उनका यह विवाह उस समय कुछ भी अनुचित नहीं समझा गया। इस विवाहसे अनेक सुप्रतिष्ठित और बहुमान्य पुत्ररत्नोंका उद्भव हुआ — देवकीने श्रीकृष्णके अतिरिक्त छह तद्भवमोक्षगामी पुत्रोंको भी जन्म दिया। यह तो हुई देवकीसे विवाहकी बात, अब जराकी विवाह-वार्ताको लीजिये।

जरासे विवाह

जरा किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या थी, जिसने गङ्गा तट पर वसुदेवजीको परिभ्रमण करते हुए देखकर उनके साथ अपनी इस कन्याका पाणिग्रहण कर दिया था। पं० दौलतरामजीने, अपने हरिवंशपुराणमें, इस राजाको 'म्लेच्छखण्डका राजा' बतलाया है और पं०गजाधरलालजी उसे 'भीलोंका राजा' सूचित करते हैं। वह राजा म्लेच्छखण्डका राजा हो या आर्य्यखण्डोद्भव म्लेच्छ राजा, और चाहे उसे भीलोंका राजा कहिये, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह आर्य्य तथा उच्चजातिका मनुष्य नहीं था। और इसलिये उसे अनार्य्य या म्लेच्छ कहना भी अनुचित नहीं होगा। म्लेच्छोंका आचार आमतौरपर 'हिंसामें रति, मांसभक्षणमें प्रीति और ज़बरदस्ती दूसरोंकी धन-सम्पत्तिका हरना इत्यादिक' होता है; जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्य-प्रणीत आदिपुराणके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है:—

म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च।
बलात्परस्वहरणं निर्द्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥ ४२-१८४ ॥

वसुदेवजीने, यह सब कुछ जानते हुए भी, बिना किसी झिझक और रुकावटके बड़ी खुशीके साथ इस म्लेच्छ-राजाकी उक्त कन्यासे

विवाह किया और उनका यह विवाह भी उस समय कुछ अनुचित नहीं समझा गया। बल्कि उस समय और उससे पहले भी इस प्रकारके विवाहोंका आम दस्तूर था। अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोंने म्लेच्छराजाओंकी कन्याओंसे विवाह किया, जिनके उदाहरणोंसे जैनसाहित्य परिपूर्ण है। अस्तु; इस विवाहसे वसुदेवजीके 'जरतकुमार' नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो बड़ा ही प्रतापी, नीतिवान और प्रजाप्रिय राजा हो गया है और जिसने अन्तको, राज-पाट छोड़कर, जैनमुनिदीक्षा तक धारण की थी। इसी राजाके वंशमें 'जितशत्रु' नामका राजा हुआ, जिससे भगवान महावीरके पिताकी छोटी बहिन ब्याही गई। अब प्रियंगुसुन्दरीके विवाहको लीजिये।

प्रियंगुसुन्दरीसे विवाह

प्रियंगुसुन्दरीके पिताका नाम 'एणीपुत्र' था। यह एणीपुत्र ऋषिदत्ता नामकी एक अविवाहिता तापसकन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रसवसमय उक्त ऋषिदत्ताका देहान्त हो गया और वह मरकर देवी हुई, जिसने एणी अर्थात् हरिणीका रूप धारण करके जङ्गलमें अपने इस नवजात शिशुको स्तन्यपानादिसे पाला और पालपोषकर अन्तको शीलायुध राजाके सुपुर्द कर दिया। इस प्रियंगुसुन्दरीका पिता एणीपुत्र 'व्यभिचारजात' था, जिसको आजकलकी भाषामें 'दस्सा' या 'गाटा' भी कहना चाहिए। वसुदेवजीने विवाहके समय यह सब हाल जानकर भी इस विवाहको किसी प्रकारसे दूषित, अनुचित अथवा अशास्त्र-सम्मत[1] नहीं समझा और इसलिये उन्होंने बड़ी खुशीके साथ प्रियंगुसुन्दरीका भी पाणिग्रहण किया।

---

१. शास्त्रोंमें तो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यके लिये 'शूद्र' तककी कन्यासे विवाह करना भी उचित ठहराया है, यथा:—

यद्यपि ये तीनों विवाह आजकलकी हवाके बहुत कुछ प्रतिकूल पाये जाते हैं तो भी, उस समय इन विवाहोंको करके वसुदेवजी ज़रा भी पतित नहीं हुए।

पतित होना अथवा जातिसे च्युत किया जाना तो दूर रहा, तत्कालीन समाजने उन्हें घृणाकी दृष्टिसे भी नहीं देखा। इनकी कीर्ति और प्रतिष्ठामें इन विवाहोंसे ज़रा भी बट्टा या कलङ्क नहीं लगा; बल्कि वह उल्टी वृद्धिगत हुई और यहाँ तक बनी रही कि उसके कारण आज तक भी अनेक ऋषि-मुनियों तथा विद्वानोंके द्वारा वसुदेवजीके पुण्य-चरित्रका चित्रण और यशोगान होता रहा। श्रीजिनसेनाचार्य्यने हरिवंशपुराणमें, वसुदेवजीकी कीर्तिका अनेक प्रकारसे कीर्तन कर उन्हें यदुवंशमें श्रेष्ठ, उदारचरित्र, शुद्धात्मा, स्वभावसे ही निर्मल-चित्तके धारक, अनन्य साधारण (जो औरोंमें न पाया जाय) विवेकसे युक्त और ऐसे महान धर्मज्ञ तथा तत्त्ववेत्ता प्रकट किया है कि जिनके मुनि और श्रावकधर्मसम्बन्धी उपदेशको सुनकर बहुतसे मिथ्यामती तापसियोंने भी तत्काल ही अपना वह मिथ्यामत छोड़ दिया था और जैनधर्मका शरण लेकर उसके व्रतोंको ग्रहण किया था। श्रीजिनदास ब्रह्मचारी भी, अपने हरिवंशपुराणमें, वसुदेवजीका ऐसा ही यशोगान करते हैं और उन्हें 'महामति' आदिक लिखते हैं। साथ ही, उन्होंने बलभद्रके मुखसे श्रीकृष्णके प्रति जो वाक्य कहलाया है उससे मालूम होता है कि वसुदेवजीका सौभाग्य जगतमें विख्यात था और उनकी सत्कीर्तिका खेचर और भूचर

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥ १६-४७
—आदिपुराणे, जिनसेनः

'आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रियविशः।'
—नीतिवाक्यामृते, सोमदेवः

सभी जन गान किया करते थे। वह वाक्य इस प्रकार है:—

जगद्विख्यातसौभाग्यो वसुदेवः पिता तव।
गायते यस्य सत्कीर्त्तिः खेचरीभूचरीजनैः॥
— १४-१४३

इन दोनों ग्रन्थोंके अवतरणोंसे ही इस बातका भले प्रकार पता चल जाता है कि वसुदेवजी कितने यशस्वी, विवेकी, प्रखर विद्वान् और धार्मिक पुरुष थे। ऐसी हालतमें उनके ये तीनों विवाह उस समयकी दृष्टिसे जरा भी हीन अथवा जघन्य नहीं समझे जा सकते। उन्हें अनुचित समझना ही अनुचित होगा। अस्तु; अब रोहिणीके स्वयंवरकी ओर चलिये।

रोहिणीका स्वयंवर

रोहिणी अरिष्टपुरके राजाकी लड़की और एक सुप्रतिष्ठित घरानेकी कन्या थी। इसके विवाहका स्वयंवर रचाया गया था, जिसमें जरासन्धादिक बड़े बड़े प्रतापी राजा दूर देशांतरोंसे एकत्र हुए थे। स्वयंवरमंडपमें वसुदेवजी, किसी कारण-विशेषसे अपना वेष बदल कर, पणव' नामका वादित्र हाथमें लिए हुए एक ऐसे रङ्क तथा अकुलीन वाजन्त्री (बाजा बजानेवाला) के रूपमें उपस्थित थे कि जिससे किसीको उस वक्त वहाँ उनके वास्तविक कुल जाति आदिका कुछ भी पता मालूम नहीं था। रोहिणीने सम्पूर्ण उपस्थित राजाओं तथा राजकुमारोंको प्रत्यक्ष देखकर और उनके वंश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमेंसे किसीको भी अपने योग्य वर पसंद नहीं किया तब उसने, सब लोगोंको आश्चर्य्यमें डालते हुए, बड़े ही निःसंकोच भावसे उक्त बाजन्त्री रूपके धारक एक अपरिचित और अज्ञातकुल-जाति-नामा व्यक्ति (वसुदेव)के गलेमें ही अपनी वरमाला डाल दी। रोहिणीके इस कृत्य पर कुछ ईर्षालु, मानी और मदान्ध राजा, अपना अपमान समझकर, कुपित हुए और रोहिणीके

पिता तथा वसुदेवसे लड़नेके लिये तैयार हो गये । उस समय विवाहनीतिका उल्लंघन करनेके लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओंको सम्बोधन करके, वसुदेवजीने बड़ी तेजस्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेंसे स्वयंवर-विवाहके नियमसूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं: —

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं ।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे ॥
—हरिवंश० ११—७१

अर्थात् स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसंद होता है, चाहे वर कुलीन हो या अकुलीन। क्योंकि स्वयंवरमें इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होने-का —कोई नियम नहीं होता। ये वाक्य सकलकीर्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवंशपुराणमें उद्धृत किये हैं और श्रीजिनसेनाचार्य्यकृत हरिवंशपुराणमें भी प्रायः इसी आशयके वाक्य पाये जाते हैं। वसुदेवजीके इन वचनोंसे उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयंवर-विवाहकी नीतिका भी बहुत कुछ अनुभव हो जाता है। वह स्वयं-वर-विवाह, जिसमें वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नहीं होता, वह विवाह है जिसे आदिपुराणमें श्रीजिनसेनाचार्य्यने 'सनातनमार्ग' लिखा है और सम्पूर्ण विवाह-विधानोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है[1]। युगकी आदिमें सबसे पहले जब राजा अकम्पनके द्वारा इस (स्वयंवर) विवाहका अनुष्ठान हुआ था तब भरत चक्रवर्तीने भी इसका बहुत कुछ अभिनंदन किया था। साथ ही, उन्होंने ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धारकर्त्ताओंको

१. सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥ ४४-३२ ॥

सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था[1]। अस्तु; विवाहकी यह **सनातन** विधि भी आजकलकी हवाके प्रतिकूल पाई जाती है। आजकल इस प्रकारके विवाहोंका प्रायः अभाव ही देखनेमें आता है; परंतु आजकल कुछ ही होता रहे, उस समय वसुदेवजीका रोहिणी-के साथ इस स्वयंवर-विधि से बड़े आनंदपूर्वक विवाह होगया और रोहिणीका एक बाजंत्रीके गलेमें वरमाला डालना भी कुछ अनुचित नहीं समझा गया। इस विवाहसे वसुदेवजीको बलभद्र जैसे पुत्ररत्न-की प्राप्ति हुई।

इन चारों घटनाओंको लिये हुए वसुदेवजीके इस एक पुराने बहुमान्य शास्त्रीय उदाहरणसे, और साथ ही वसुदेवजीके उक्त वचनोंको आदिपुराणके उपर्युक्त लिखित वाक्योंके साथ मिलाकर पढ़नेसे विवाह-विषय पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और उसकी अनेक समस्याएँ खुद बखुद (स्वयमेव) हल हो जाती हैं। इस उदा-हरणसे वे सब लोग बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो प्रच-लित रीति-रिवाजोंको ब्रह्म-वाक्य तथा आप्त-वचन समझे हुए हैं, अथवा जो रूढ़ियोंके इतने भक्त हैं कि उन्हें गणितशास्त्रके नियमोंकी तरह अटल सिद्धान्त समझते हैं और इसलिए उनमें ज़रा भी फेर-फार करना जिन्हें रुचिकर नहीं होता; जो ऐसा करनेको धर्मके विरुद्ध चलना और जिनेंद्र भगवानकी आज्ञाका उल्लंघन करना मान बैठे हैं, जिन्हें विवाहमें कुछ संख्याप्रमाण गोत्रोंके न बचाने तथा अपने वर्णसे भिन्न वर्णके साथ शादी करनेसे धर्मके डूब जाने-

---

१. तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः।
कः प्रवर्त्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः॥ ५४॥
मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि॥ ५५॥
—आदिपु० पर्व ४५

का भय लगा हुआ है; इससे भी अधिक, जो एक ही धर्म और एक ही आचारके मानने तथा पालनेवाली अग्रवाल, खंडेलवाल आदि समान जातियोंमें भी परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार एक करनेको अनुचित समझते हैं; पातक अथवा पतनकी शंकासे जिनका हृदय संतप्त है और जो अपनी एक जातिमें भी आठ-आठ गोत्रों तकको टालनेके चक्करमें पड़े हुए हैं। ऐसे लोगोको वसुदेवजीका उक्त उदाहरण और उसके साथ विवाहसम्बंधी वर्तमान रीति-रिवाजोंका मिलान बतलायगा कि रीति-रिवाज कभी एक हालतमें नहीं रहा करते, वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ और अटल सिद्धान्त नहीं होते, उनमें समयानुसार बराबर फेरफार और परिवर्तनकी ज़रूरत हुआ करती है । इसी ज़रूरतने वसुदेवजीके समय और वर्तमान समयमें ज़मीन-आसमानकासा अंतर डाल दिया है । यदि ऐसा न होता तो वसुदेवजीके समयके विवाहसम्बंधी नियम-उपनियम इस समय भी स्थिर रहते और उसी उत्तम तथा पूज्य-दृष्टिसे देखे जाते जैसे कि वे उस समय देखे जाते थे। परन्तु ऐसा नहीं है और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नहीं थे और न हो सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि यदि वर्तमान वैवाहिक रीतिरिवाजोंको सर्वज्ञ-प्रणीत-सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त माना जाय तो यह कहना पड़ेगा कि वसुदेवजीने प्रतिकूल-आचरणद्वारा बहुत स्पष्टरूपसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लंघन किया। ऐसी हालतमें आचार्यों-द्वारा उनका यशोगान नहीं होना चाहिये था, वे पातकी समझे जाकर कलंकित किये जानेके योग्य थे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और न होना चाहिये था; क्योंकि शास्त्रों-द्वारा उस समयके मनुष्योंकी प्राय: ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे वसुदेवजी पर कोई कलंक नहीं आसकता। तब क्या यह कहना होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज सर्वज्ञप्रणीत थे और आजकलके सर्वज्ञप्रणीत अथवा जिनभाषित नहीं हैं? ऐसा कहने पर आजकल-

के रीति-रिवाजोंको एकदम उठाकर उनके स्थानमें वही वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाज कायम कर देना ही समुचित न होगा बल्कि साथ ही अपने उन सभी पूर्वजोंको कलंकित और दोषी भी ठहराना होगा जिनके कारण वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमें वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए और फिर हम तक पहुँचे। परन्तु ऐसा कहना और ठहराना दुःसाहस-मात्र होगा। वह कभी इष्ट नहीं हो सकता और न युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। इसलिये यही कहना समुचित होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज भी सर्वज्ञ-भाषित नहीं थे।

वास्तवमें गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका वर्णन किया गया है, एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रय और पारलौकिक आगमाश्रय होता है[१]। 'विवाहकर्म गृहस्थोंके लिये एक लौकिक धर्म है और इसलिये वह लोकाश्रित है'—लौकिक जनोंकी देशकालानुसार जो प्रवृत्ति होती है उसके आधीन है—लौकिक जनोंकी प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमें नहीं रहा करती। वह देशकालकी आवश्यकताओंके अनुसार, कभी पंचायतियोंके निर्णय द्वारा और कभी प्रगतिशील व्यक्तियोंके उदाहरणोंको लेकर, बराबर बदला करती है और इसलिये वह पूर्णरूपमें प्रायः कुछ समयके लिये ही स्थिर रहा करती है। यही वजह है कि भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियोंके विवाहविधानोंमें बहुत बड़ा अंतर पाया जाता है। एक समय था जब इसी भारतभूमि पर सगे भाई-बहन भी परस्पर स्त्री-पुरुष होकर रहा करते थे और इतने पुण्याधिकारी समझे जाते थे कि मरने पर उनके लिये नियमसे देवगतिका विधान किया गया है[२]। 'फिर वह

---

१. द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥ —सोमदेवः।

२. यह कथन उस समयका है जब कि यहाँ भोगभूमि प्रचलित थी।

समय भी आया जब उक्त प्रवृत्तिका निषेध किया गया और उसे अनुचित ठहराया गया। परन्तु उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्बमें विवाह होना, अपनेसे भिन्न वर्णके साथ शादीका किया जाना और शूद्र ही नहीं किन्तु म्लेच्छों तककी कन्याओंसे विवाह करना भी अनुचित नहीं माना गया। साथ ही मामा-फूफीकी कन्याओंसे विवाह करनेका तो आम दस्तूर रहा और वह एक प्रशस्त विधान समझा गया। इसके बाद समयके हेरफेरसे उक्त प्रवृत्तियोंका भी निषेध प्रारंभ हुआ, उनमें भी दोष निकलने लगे-पापोंकी कल्पनायें होने लगीं—और वे सब बदलते बदलते वर्तमानके ढाँचेमें ढल गईं। इस अर्सेमें सैकड़ों नवीन जातियों, उपजातियों और गोत्रोंकी कल्पना होकर विवाहक्षेत्र इतना संकीर्ण बन गया कि उसके कारण आजकलकी जनता बहुत कुछ हानि तथा कष्ट उठा रही है और क्षतिका अनुभव कर रही है-उसे यह मालूम होने लगा है कि कैसी कैसी समृद्धिशालिनी जातियाँ इन वर्तमान रीति-रिवाजोंके चंगुलमें फंसकर संसारसे अपना अस्तित्व उठा चुकी हैं और कितनी मृत्युशय्यापर पड़ी हुई हैं-इसीसे अब वर्तमान रीति-रिवाजोंके विरुद्ध भी आवाज उठनी शुरू हो गई है, समय उनका भी परिवर्तन चाहता है।

संक्षेपमें, यदि सम्पूर्ण जगतके भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियोंके कुछ थोड़े थोड़ेसे ही उदाहरण एकत्र किये जायँ तो विवाहविधानोंमें हजारों प्रकारके भेद उपभेद और परिवर्तन दृष्टिगोचर होंगे और इस लिये कहना होगा कि यह सब समय-समयकी जरूरतों, देश-देशकी आवश्यकताओं और जातिके पारस्परिक व्यवहारोंका नतीजा है; अथवा इसे कालचक्रका प्रभाव कहना चाहिए। जो लोग कालचक्रकी गतिको न समझकर एक ही स्थान पर खड़े रहते हैं और अपनी पोज़ीशन (Position)को नहीं बदलते, स्थितिको नहीं सुधारते, वे निःसन्देह कालचक्रके आघातसे पीड़ित होते और कुचले जाते हैं। अथवा संसारसे उनकी सत्ता उठ जाती है। इस सब

कथनसे अथवा इतने ही संकेतसे लोकाश्रित (लौकिक) धर्मोंका बहुत कुछ रहस्य समझमें आ जाता है। साथ ही यह मालूम हो जाता है कि वे कितने परिवर्तनशील हुआ करते हैं। ऐसी हालतमें विवाह-जैसे लौकिक धर्मों और सांसारिक व्यवहारोंके लिये किसी आगमका आश्रय लेना, अर्थात् यह ढूँढ-खोज लगाना कि आगममें किस प्रकारसे विवाह करना लिखा है, बिल्कुल व्यर्थ है। कहा भी है-"संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः[1]।" अर्थात्,संसार-व्यवहारके स्वतः सिद्ध होनेसे उसके लिये आगमकी जरूरत नहीं। वस्तुतः आगम ग्रन्थोंमें इस प्रकारके लौकिक धर्मों और लोकाश्रित विधानोंका कोई क्रम निर्धारित नहीं होता। वे सब लोक प्रवृत्ति पर अवलम्बित रहते हैं। हाँ, कुछ त्रिवर्णाचार-जैसे अनार्ष ग्रन्थोंमें विवाह-विधानोंका वर्णन जरूर पाया जाता है। परन्तु वे आगमग्रन्थ नहीं हैं। उन्हें आप्त भगवानके वचन नहीं कह सकते और न वे आप्त-वचनानुसार लिखे गये हैं,इतने पर भी कुछ ग्रन्थ तो उनमेंसे बिल्कुल ही जाली और बनावटी हैं; जैसा कि 'जिनसेनत्रिवर्णाचार' और 'भद्रबाहुसंहिता' के परीक्षालेखोंसे प्रगट है[2]। वास्तवमें ये सब ग्रन्थ एक प्रकारके लौकिक ग्रन्थ है। इनमें प्रकृत विषयके वर्णनको तात्कालिक और तद्देशीय रीति रिवाजोंका उल्लेखमात्र समझना चाहिये अथवा यों कहना चाहिये कि ग्रन्थकर्ताओंको समाजमें उस प्रकारके रीतिरिवाजोंको प्रचलित करना इष्ट था। इससे अधिक उन्हें और कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वे आजकल प्रायः इतने ही कामके हैं। एकदेशीय, लौकिक और सामयिक ग्रन्थ होने-

---

१. यह श्रीसोमदेव आचार्य्यका वचन है।

२. ये सब लेख 'ग्रन्थपरीक्षा' नामसे पहले 'जैनहितैषी' पत्रमें प्रकाशित हुए थे और अब कुछ समयसे अलग पुस्तकाकारमें भी छप गये हैं।

से उनका शासन सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हो सकता। अर्थात्—सर्व-देशों और सर्व-समयोंके मनुष्योंके लिये वे समान रूपसे उपयोगी नहीं हो सकते। और इसलिए केवल उनके आधार पर चलना कभी युक्ति-सङ्गत नहीं कहला सकता। विवाह-विषयमें आगम-का मूलबिधान सिर्फ़ इतना ही पाया जाता है कि वह गृहस्थधर्मका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिये आमतौर पर गृहिणीकी अर्थात् एक स्त्रीकी ज़रूरत प्रकट करता है। वह स्त्री कैसी, किस वर्णकी, किस जातिकी, किन किन सम्बन्धोंसे युक्त तथा रहित और किस गोत्रकी होनी चाहिए अथवा किस तरह पर और किस प्रकारके विधानोंके साथ विवाह कर लानी चाहिये इन सब बातोंमें आगम प्रायः कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता। ये सब विधान लोकाश्रित हैं आगमसे इनका प्रायः कोई सम्बन्ध-विशेष नहीं है। यह दूसरी बात है कि आगममें किसी घटना-विशेषका उल्लेख करते हुए उनका उल्लेख आ जाय और तात्कालिक दृष्टिसे उन्हें अच्छा या बुरा भी बतला दिया जाय; परन्तु इससे वे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त नहीं बन जाते—अर्थात् ऐसे कोई नियम नहीं हो जाते कि जिनके अनुसार चलना सर्व देशों और सर्व-समयोंके मनुष्योंके लिये बराबर ज़रूरी और हितकारी हो। हाँ, इतना ज़रूर है कि आगम-की दृष्टिमें सिर्फ वे ही लौकिक विधियाँ अच्छी और प्रामाणिक समझी जा सकती हैं जो जैन सिद्धान्तोंके विरुद्ध न हों, अथवा जिनके कारण जैनियोंकी श्रद्धा (सम्यक्त्व) में बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोंमें ही कोई दूषण लगता हो। इस दृष्टिको सुर-क्षित रखते हुए जैनी लोग प्रायः सभी लौकिक विधियोंको खुशीसे स्वीकार कर सकते हैं और अपने वर्त्तमान रीति-रिवाजोंमें देशकाला-नुसार यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं[1]। उनके लिये इसमें कोई

१. सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ —सोमदेवः

बाधक नहीं है। अस्तु; इस सम्पूर्ण विवेचनसे प्राचीन और अर्वाचीन-कालके विवाह-विधानोंकी विभिन्नता, उनका देश-कालानुसार परिवर्त्तन और लौकिक धर्मोंका रहस्य इन सब बातोंका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हो सकता है, और साथ ही यह भले प्रकार समझमें आ सकता है कि वर्त्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञभाषित ऐसे अटल सिद्धान्त नहीं हैं कि जिनका परिवर्त्तन न हो सके अथवा जिनमें कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूब जानेका कोई भय हो। हम अपने सिद्धान्तोंका विरोध न करते हुए, देश-काल और जातिकी आवश्यकताओंके अनुसार उन्हें हर वक्त बदल सकते हैं। वे सब हमारे ही कायम किये हुये नियम हैं और इसलिए हमें उनके बदलनेका स्वतः अधिकार प्राप्त है। इन्हीं सब बातोंको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमें यह निबन्ध लिखा गया है। आशा है कि हमारे जैनी भाई इससे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे और विवाहतत्त्वको समझ कर, जिसके समझनेके लिये 'विवाह-समुद्देश्य' नामक निबन्ध भी साथमें पढ़ना विशेष उपयोगी होगा, अपने वर्तमान रीति-रिवाजोंमें यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ होंगे। और इस तरह कालचक्रके आघातसे बचकर अपनी सत्ताको चिरकाल तक यथेष्ट रीतिसे बनाये रक्खेंगे।

१४

उपासना-तत्त्व

स्थिति और जरूरत

हमारी धार्मिक शिक्षा 'उपासना' से प्रारम्भ होती है। पूजा, भक्ति और आराधना ये सब उपासनाके ही नामान्तर हैं। यही धर्मकी पहली सीढ़ी है जिसका हमें बचपनसे ही अभ्यास कराया जाता है। बच्चा बोलना भी प्रारम्भ नहीं करता कि उसे जिनमंदिर आदिमें ले जाकर, मूर्ति आदिके सामने उसके हाथ जुड़वा कर तथा मस्तक नमवाकर उसे उपासनाका एक पाठ पढ़ाया जाता है; और ज्यों ही वह कुछ बोलने लगता है त्यों ही उससे इष्ट देवताओंके नामोंका उच्चारण—'ॐ' 'जय' आदि शब्दोंका उच्चारण - कराया जाता है, 'णमो अरहंताणं,' 'णमोत्थुणं' आदिके पाठ सिखलाए जाते हैं और, जितना शीघ्र बन सके उतना ही शीघ्र परमात्माकी कुछ स्तुतियाँ भी उसे याद कराई जाती हैं। बच्चा, अपनी अज्ञान दशामें, यदि मूर्तिको एक खिलौना समझकर उसके लेनेके लिये हाथ पसारता है, जिद्द करता है, उसे 'भाई' कहकर पुकारता है, उसको चढ़ा हुआ नैवेद्य उठाकर खाने लगता है अथवा उसके सामने पीठ देकर खड़ा हो जाता या बैठ जाता है तो उसकी इस प्रकारकी बातोंका निषेध किया जाता है और कुछ गम्भीर स्वरके साथ कहा जाता है

कि "नहीं, खबरदार ! ऐसा नहीं किया करते; ये भगवान हैं, इनके आगे हाथ जोड़ो ।" साथ ही, उसे प्रतिदिन भगवानके दर्शनादिकके लिये मंदिरमें जाने और किसी स्तुति-पाठादिकका उच्चारण करनेकी प्रेरणा भी की जाती है। इस तरह शुरूसे ही परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधनाके संस्कार हमारे अन्दर डाले जाते हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, समाजमें, ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति निकलेंगे जो उपासनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे जानते और समझते हों। उन्हें यह बात प्रायः सिखलाई ही नहीं जाती। अधिकांश माता-पिता स्वयं इस तत्त्वसे अनभिज्ञ हैं–वे खुद ही अपनी क्रियाओंका रहस्य नहीं जानते अथवा कुछका कुछ जानते हैं– और इसलिये उनकी समझमें जो बात जिस तरह पर कुलपरम्परासे चली आई होती है उसे वे अपने बच्चोंके गले उतार देते हैं—उन्हें रटा देते अथवा सिखला देते हैं। इससे अधिक शायद वे अपना और कुछ कर्तव्य नहीं समझते। नतीजा इसका यह होता है कि हमारे अधिकांश भाई नित्य मंदिरमें ज़रूर जाते हैं, भगवानका दर्शन और पूजन करते हैं, स्तुतियाँ पढ़ते हैं, संस्कृत-प्राकृतके भी अनेक स्तोत्रोंका पाठ किया करते हैं, तीर्थयात्राको निकलते हैं, और भक्ति तथा उपासनाके नामपर और भी बहुतसे काम तथा विधि-विधान करते हुए देखे जाते हैं; परन्तु उन्हें प्रायः यह खबर नहीं होती कि यह सब कुछ क्यों किया जाता है, किसके लिये किया जाता है, क्या जरूरत है, इसका मूल उद्देश्य क्या है, हमारी इन क्रियाओंसे वह उद्देश्य पूरा होता है या नहीं और यदि नहीं होता तो हमें फिर किस प्रकारसे वर्तना चाहिये, इत्यादि। हाँ, वे इतना ज़रूर जानते हैं कि ये सब धर्मके काम हैं, पहलेसे होते आए हैं और इनके द्वारा पुण्योपार्जन किया जाता है। परन्तु धर्मके काम क्योंकर हैं, किस तरह होते आए हैं और इनके द्वारा कैसे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, इन सब बातोंकी उन्हें जाँच नहीं होती और न वे इस जाँचकी कुछ ज़रूरत ही

समझते हैं। उनका सम्पूर्ण आचरण, इस विषयमें, प्रायः लोक-रीति-का (रूढ़ियोंका) अनुसरण करनेवाला, एक दूसरेकी देखादेखी और ज्यादातर लौकिक प्रयोजनोंको लिये हुए होता है। उपास्य और उपासनाके स्वरूपपर उनकी दृष्टि ही नहीं होती और न वे उपासना-के विधि-विधानोंमें कभी कोई भेद उपस्थित होने पर सहजमें उसका आपसी (पारस्परिक) समझौता कर सकते हैं। उन्हें अपनी चिरप्र-वृत्तिके विरुद्ध ज़रासा भी भेद असह्य हो उठता है और उसके कारण वे अपने भाइयोंसे ही लड़ने-मरने तकको तैयार हो जाते हैं। ऐसे स्त्री-पुरुषोंके द्वारा समाजमें सूखा क्रियाकांड बढ़ जाता है, यान्त्रिक चारित्रकी—जड़ मशीनों जैसे आचरणकी—वृद्धि हो जाती है और भावशून्य क्रियाएँ फैल जाती हैं। ऐसी हालतमें उपासना उपासना नहीं रहती और न भक्तिको भक्ति ही कह सकते हैं। ऐसी प्राणरहित उपासनासे यथेष्ट फलकी कुछ भी प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रीकुमु-दचन्द्राचार्यने अपने 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्रमें ठीक लिखा है:—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥

अर्थात्—हे लोकबन्धु जिनेन्द्रदेव! जन्मजन्मान्तरोंमें मैंने आपका चरित्र सुना है, पूजन किया है और दर्शन भी किया है; यह सब कुछ किया परन्तु भक्तिपूर्वक कभी आपको अपने हृदयमें धारण नहीं किया[1]। नतीजा जिसका यह हुआ कि मैं अब तक इस संसारमें

---

१ जिनेन्द्र भगवान्‌को भक्तिपूर्वक हृदयमें धारण करनेसे जीवोंके दृढ कर्मबंधन इस प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जिस प्रकार कि चन्दनके वृक्ष पर मोरके आनेसे उस वृक्षको लिपटे हुए साँप। अर्थात् मोरके सामीप्यसे जैसे सर्प घबराते हैं वैसे ही जिनेन्द्रके हृदयस्थ होने पर कर्म काँपते हैं;

दुःखोंका ही पात्र रहा—मुझे दुःखोंसे छुटकारा ही न मिला—क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ फलदायक नहीं होतीं।

एक दूसरे आचार्य लिखते हैं कि, बिना भावके पूजा आदिका करना, तप तपना, दान देना, जाप्य जपना,—माला फेरना—और यहाँ तक कि दीक्षादिक धारण करना भी ऐसा निरर्थक होता है जैसा कि बकरीके गलेका स्तन। अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तन देखनेमें स्तनाकार होते हैं परन्तु वे स्तनोंका कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना भावकी पूजनादि क्रियाएँ भी देखने-ही-की क्रियाएँ होती हैं, पूजादिका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। यथा:—

> भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम् ।
> व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव ॥

इससे स्पष्ट है कि हमारी उपासनासम्बंधी क्रियाओंमें भावकी बड़ी जरूरत है—भाव ही उनका जीवन और भाव ही उनका प्राण है बिना भावके उन्हें निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये। परंतु यह भाव उपासना-तत्त्वको समझे बिना कैसे पैदा हो सकता है? अतः अपनेमें इस भावको उत्पन्न करके अपनी क्रियाओंको सार्थक बनानेके लिये जैनियोंको, आमतौर पर, अपना उपासना-तत्त्व समझने और समझकर तदनुकूल वर्तनेकी बहुत बड़ी जरूरत है। इसी

क्योंकि जिनेन्द्र कर्मोंका नाश करनेवाले है। उन्होंने अपने आत्मासे कर्मोंको निर्मूल कर दिया है। इसी आशयको आचार्य कुमुदचन्द्रने निम्नलिखित पद्यमें प्रगट किया है:—

> हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति,
> जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः।
> सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
> मभ्यागते वनशिखंडिनि चंदनस्य ॥ —कल्याणमंदिर

ज़रूरतको ध्यानमें रखकर आज इस निबंध द्वारा, संक्षेपमें, उपासना-तत्त्वको समझानेका यत्न किया जाता है। इससे हमारे वे अजैन बन्धु भी ज़रूर कुछ लाभ उठा सकेंगे जिन्हें जैनियोंके उपासना-तत्त्वको जाननेकी आकांक्षा रहती है, अथवा जैनसिद्धान्तोंकी अनभिज्ञताके कारण जिनके हृदयमें कभी कभी यह प्रश्न उपस्थित हुआ करता है कि, जब जैन लोग किसी ईश्वर या परमात्माको जगत्का कर्ता-हर्ता नहीं मानते और न उसकी प्रसन्नता या अप्रसन्नतासे किसी लाभ तथा हानिका होना स्वीकार करते हैं तो फिर वे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना क्यों करते हैं और उन्होंने उससे क्या लाभ समझ रक्खा है ? इस प्रश्नका समाधान भी स्वतः नीचेकी पंक्तियों-से हो जायगा:—

सिद्धान्त और उद्देश्य

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है—अपने स्वरूपको भुलाकर विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है—वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है। आत्मासे भिन्न कोई एक ईश्वर या परमात्मा नहीं है— आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है। अर्हंत, जिनेन्द्र, जिनदेव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठी, परंज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर, परब्रह्म इत्यादि सब उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर हैं अथवा दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि, परमात्मा आत्मीय अनंत गुणों-का समुदाय है; अनंत गुणोंकी अपेक्षा उसके अनंत नाम हैं; वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसका किसीसे राग या द्वेष नहीं है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नहीं होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोंपर अप्रसन्नता लाता है; धनिक श्रीमानों, विद्वानों और उच्च श्रेणी या वर्णके मनु-

क्योंकि वह प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता और न निर्धन-कंगालों, मूर्खों तथा निम्नश्रेणीके मनुष्योंको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है; न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन; वह परमानंदमय और कृतकृत्य है, सांसारिक झगड़ोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये जैनियोंकी उपासना, भक्ति और पूजा, हिन्दुओं, मुसलमानों तथा ईसाइयोंकी तरह, परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं होती। उसका कुछ दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे (समझदार जैनी) ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह संक्षिप्तरूपसे यों है कि:—

यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनंतसुख, और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है। परन्तु अनादि कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं—कर्मोंके पटलसे वेष्टित हैं—और यह आत्मा संसारमें इतना लिप्त और मोहजालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियोंका विकास होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नहीं होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि-लाभ होता है, यह जीव उतनेहीमें संतुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप मानने लगता है। इन्हीं संसारी जीवोंमेंसे जो जीव, अपनी आत्मनिधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाग्निके बलसे समस्त कर्ममलको दूर कर देता है उससे आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ तथा निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है और परमात्मा कहलाता है[1]। केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जब तक देहका

---

१. ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,

सम्बन्ध बाकी रहता है तब तक परमात्माको सकलपरमात्मा, जीवन्मुक्त तथा अर्हंत कहते हैं और जब देहका सम्बंध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकलपरमात्मा निष्कल-परमात्मा, विदेहमुक्त और सिद्ध नामोंसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। यह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्थामें अपनी दिव्य-वाणीके द्वारा,संसारी जीवोंको उनके आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है—अर्थात्, उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोंसे आच्छादित है, कैसे कैसे उपायोंसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदे हो सकते हैं,संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या संबंध है, दुःखका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है, कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि समस्त बातोंका विस्तारके साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है—जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित-साधन करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है[1]। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगत्का निःसीम (बेहद) उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी और निर्निमित्तबन्धु इत्यादि भी नाम कहे जाते हैं। इस महोपकारके बदलेमें हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता बतलाएँ वह सब तुच्छ है। जो सज्जन अथवा साधुजन होते हैं वे अपने उपकारीके उपकारको कभी नहीं भूलते, बराबर उसका स्मरण रखते हैं और इस उपकार-

---

चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः।—कल्याणमंदिर।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।

वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥—समाधितंत्र।

१ श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।—आप्तपरीक्षा।

स्मृतिके चिन्हस्वरूप अनेक प्रकारसे अपने उपकारीके प्रति अपना आदर सत्कार व्यक्त किया करते हैं; जैसा कि श्लोकवार्तिकमें, श्रीमद्विद्यानंदस्वामी द्वारा, परमात्माकी उपासनाके समर्थनमें, उद्धृत किये हुए निम्नलिखित एक प्राचीन पद्यसे प्रकट है:—

> अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
> प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
> इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धे-
> र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि,'मनोवांछित फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि शास्त्रके द्वारा होती है और शास्त्रकी उत्पत्ति आप्त भगवान्से है, इसलिये वे आप्तभगवान् (परमात्मा) जिनके प्रसादसे प्रबुद्धताकी प्राप्ति होकर अभिमत फलकी सिद्धि होती है, संतजनोंके द्वारा पूज्य ठहरते हैं। सच है, साधुजन किसीके किये हुए उपकारको कभी भूलते नहीं हैं।'

इससे जो लोग दूसरोंके किये हुए उपकारको भुला देते हैं उन्हें असाधु तथा असज्जन समझना चाहिये। लोकमें भी उन्हें कृतघ्नी, अहसानफ़रामोश और गुणमेट आदि बुरे नामोंसे पुकारा जाता है। ऐसे लोग, जबतक उनकी यह दशा कायम रहती है, कभी उन्नति नहीं कर सकते और न आत्मलाभके सम्मुख हो सकते हैं। इसलिये अपने महोपकारी परमात्माके प्रति आदर-सत्कार रूपसे प्रवर्तित होना हमारा खास कर्तव्य है।

दूसरे, जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना—अर्थात्, परमात्मा बनना—सब आत्माओंका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे शब्दोंमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिक चरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका

चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है—उसीसे आत्माको यह मालूम पड़ता है कि मैं कौन हूँ (को वाऽहं) और मेरी आत्मशक्ति क्या है (का च मे शक्तिः)। परमात्मस्वरूपकी भावना ही आत्मस्वरूपकी उपलब्धि तथा स्थितिका कारण है[१]। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपने आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्नतिमें अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं। अपने आदर्श पुरुषके गुणोंमें भक्ति तथा अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उदाहरणके लिये, यदि कोई मनुष्य संस्कृत भाषाका विद्वान् होना चाहे तो उसके लिये यह ज़रूरी है कि वह संस्कृत भाषाके विद्वानोका संसर्ग करे, उनसे प्रेम रक्खे और उनकी सेवामें रहकर कुछ सीखे, संस्कृतकी पुस्तकोंका प्रेमपूर्वक संग्रह करे और उनके अध्ययनमें चित्त लगाए। यह नहीं हो सकता कि, संस्कृतके विद्वानोंसे तो घृणा करे, उनकी शकल तक भी देखना न चाहे, उनसे कोसों दूर भागे, संस्कृतकी पुस्तकोंको छुए अथवा देखे तक नहीं, न संस्कृतका कोई शब्द अपने कानोंमें पड़ने दे, और फिर संस्कृतका विद्वान बन जाय। इसलिये प्रत्येक गुणकी प्राप्तिके लिये उसमें सब ओरसे अनुरागकी बड़ी ज़रूरत है। जो मनुष्य जिस गुणका आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदर-सत्कार करता है। क्योंकि गुणीके आश्रय बिना कही भी गुण नही होता। आदर-सत्काररूप इस प्रवृत्तिका नाम ही

---

१ सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनः स्थितिम्।
—समाधितन्त्र

पूजा और उपासना है। इसलिये परमात्मा[1] इन्ही समस्त कारणों-से हमारा परम पूज्य और उपास्य देव है। उसकी इस उपासनाका मुख्य उद्देश्य, वास्तवमें, परमात्म गुणोंकी प्राप्ति अथवा अपने आत्मीय गुणोंको प्राप्तिकी भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ और विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही अधिक निकट होती जायगी। इसीसे अच्छे अच्छे योगीजन भी निरंतर परमात्माके गुणोंका चिंतन किया करते हैं। कभी कभी वे परमात्माका स्तवन करते हुए उसमें उन खास खास गुणोंका उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं जिनको प्राप्त करनेकी उनकी उत्कट इच्छा होती है और उनके सम्बन्धमें यह साफ़ तौरसे लिख भी दिया करते हैं कि हम ऐसे परमात्मगुणों-की प्राप्तिके लिये परमात्माकी वन्दना करते है, जैसा कि सर्वार्थ-सिद्धिमें श्रीपूज्यपादाचार्यके दिये हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माकी उपासना मुख्यतया उनके गुणोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है, उसमें पर-मात्माकी कोई ग़रज़ नहीं होती बल्कि वह अपनी ही ग़रज़को लिये हुए होती है और वह ग़रज़ 'आत्मलाभ' है जिसे परमात्माका आदर्श सामने रखकर प्राप्त किया जाता है। और इसलिये, जो लोग उपासनाके इस मुख्योद्देश्यको अपने लक्ष्यमें नहीं रखते और न उप-कारके स्मरण पर ही जिनकी दृष्टि रहती है उनकी उपासना वास्तवमें उपासना कहलाए जानेके योग्य नहीं हो सकती। ऐसी

---

१ इन्ही कारणोंसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी, जिनमें आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई है और जिन्होने अपने उपदेश, आचरण तथा शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है वे सब, हमारे पूज्य हैं।

उपासनाको बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनोंसे अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। उसके द्वारा वर्षों क्या कोटि जन्ममें भी उपासनाके मूल उद्देश्यको सिद्धि नहीं हो सकती। और इसलिये, यह जीव संसारमें दुःखोंका ही पात्र बना रहता है। दुःखोंसे समुचित छुटकारा तभी हो सकता है जब कि परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाया जाय। परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़नेसे पापपरिणति सहजमें छूट जाती है और पुण्यपरिणति उसका स्थान ले लेती है। इसी आशयको स्वामी समन्तभद्राचार्यने, निम्न वाक्य द्वारा, बड़े ही अच्छे ढंगसे प्रतिपादित किया है:—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्यः॥
—स्वयंभूस्तोत्र

इसमें स्वामी समन्तभद्र, परमात्माको लक्ष्य करके उनके प्रति, अपना यह आशय व्यक्त करते हैं कि 'हे भगवान्, पूजा-भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि आप वीतरागी हैं-रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है जिसके कारण किसी पूजा-भक्तिसे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोइ प्रयोजन नहीं है कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नही आ सकता; क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव, द्वेषांश, बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान हैं—उनसे आपका कुछ बनता या बिगड़ता नहीं है—तो भी आपके पुण्य गुणोंके स्मरणसे हमारा चित्त पापोंसे पवित्र होता है—हमारी पापपरिणति छूटती है—इसलिये हम भक्तिके साथ आपका गुणानुवाद गाते हैं—आपकी उपासना करते हैं।'

जब परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाने, उनके गुणोंका प्रेमपूर्वक

स्मरण और चिन्तन करनेसे शुभ भावोंकी उत्पत्ति-द्वारा पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है तो नतीजा इसका यही होता है कि हमारी पापप्रकृतियोंका रस सूखता और पुण्यप्रकृतियोंका रस बढ़ता है। पाप-प्रकृतियोंका रस (अनुभाग) सूखने और पुण्य-प्रकृतियोंमें रस बढ़नेसे अन्तराय कर्म नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पाप-प्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोगोपभोग आदिमें विघ्नस्वरूप रहा करती है—उन्हें होने नहीं देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्टको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं और उनका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। जैसा कि एक आचार्य महोदयके निम्नवाक्यसे प्रगट है:—

नेष्टं विहन्तुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥

ऐसी हालतमें यह कहना कि परमात्माकी सच्ची पूजा, भक्ति और उपासनासे हमारे लौकिक प्रयोजनोंकी भी सिद्धि होती है, कुछ भी अनुचित न होगा। यह ठीक है कि, परमात्मा स्वयं अपनी इच्छापूर्वक किसीको कुछ देता दिलाता नहीं है और न स्वयं आकर अथवा अपने किसी सेवकको भेजकर भक्तजनोंका कोई काम ही सुधारता है तो भी उसकी भक्तिका निमित्त पाकर हमारी कर्मप्रकृतियोंमें जो कुछ उलट-फेर होता है उससे हमें बहुत कुछ प्राप्त हो जाता है और हमारे अनेक बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं। इसलिये परमात्माके प्रसादसे हमारे लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं इस कहनेमें, सिद्धान्तकी दृष्टिसे, कोई विरोध नहीं आता। परन्तु फलप्राप्तिका यह सारा खेल उपासनाकी प्रशस्तता, अप्रशस्तता और उसके द्वारा उत्पन्न हुए भावोंकी तरतमता पर निर्भर है। अतः हमें अपने भावोंकी उज्ज्वलता, निर्मलता और उनके उत्कर्षसाधन पर खास तौरसे ध्यान रखना चाहिये और वह तभी बन सकता है जब

कि परमात्माकी उपासना उपासनाके ठीक उद्देश्यको समझकर की जाय और उसमें प्रायः लौकिक प्रयोजनोंपर दृष्टि न रक्खी जाय। जो लोग केवल लौकिक प्रयोजनकी दृष्टिसे— सांसारिक विषयकषायोंको पुष्ट करनेकी ग़रज़से - परमात्माकी उपासना करते हैं, उसके नाम पर तरह तरहकी बोल-कबूलत बोलते हैं और फलप्राप्तिकी शर्तपर पूजा-उपासनाका वचन निकालते हैं उनके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता है कि वे परमात्माके गुणोंमें वास्तविक अनुराग रखते हैं, बल्कि यदि यह कहा जाय कि वे परमात्माके स्वरूपसे ही अनभिज्ञ हैं तो शायद कुछ ज्यादा अनुचित न होगा। ऐसे लोगोंकी इस प्रवृत्ति-से कभी कभी बड़ी हानि होती है। वे सांसारिक किसी फल-विशेष-की आशासे – उसकी प्राप्तिके लिये — परमात्माकी पूजा करते हैं;परंतु फलकी प्राप्ति अपने अधीन नहीं होती, वह कर्मप्रकृतियोंके उलट-फेरके अधीन है। दैवयोगसे यदि कर्म-प्रकृतियोंका उलट-फेर, योग्य भावोंको न पाकर, अपने अनुकूल नहीं होता और इसलिये अभीष्ट फलकी सिद्धिको अवसर नहीं मिलता तो ऐसे लोगोंकी श्रद्धा डगमगा जाती है अथवा यों कहिये कि उस वृक्षकी तरह उखड़ जाती है जिसका मूल कुछ भी गहरा नहीं होता। उन्हें यह तो खबर नहीं पड़ती कि हमारी उपासना भावशून्य थी, उसमें प्राण नहीं था और इसलिये हमें सच्ची उपासना करनी चाहिये; उलटा वे परमात्माकी पूजा-भक्तिमें हतोत्साह होकर उससे उपेक्षित हो बैठते हैं। साथ ही, अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये दूसरे देवी-देवताओंकी तलाशमें भटकते हैं, अनेक रागी-द्वेषी देवताओंकी शरणमें प्राप्त होकर उनकी तरह तरहकी उपासना किया करते हैं और इस तरहपर अपने जैनत्वको भी कलंकित करके जैनशासनकी अप्रभावनाके कारण बन जाते हैं।

ऐसी कच्ची प्रकृति और ढीली श्रद्धाके मनुष्योंकी दशा, निःसंदेह, बड़ी ही करुणाजनक होती है। ऐसे लोगोंको खास तौरसे उपासना-तत्त्वको जानने और समझनेकी ज़रूरत है। उन्हें ऊपरके इस संपूर्ण

कथनसे खूब समझ लेना चाहिये कि जैनदृष्टिसे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना परमात्माको प्रसन्न करने–खुशामद-द्वारा उससे कुछ काम निकालनेके लिये नहीं होती और न सांसारिक विषय-कषायोंका पुष्ट करना ही उसके द्वारा अभीष्ट होता है। बल्कि, वह खास तौरसे परमात्माके उपकारका स्मरण करने और परमात्माके गुणोंकी–आत्मस्वरूपकी–प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है। परमात्माका भजन और चिन्तन करनेसे–उसके गुणोंमें अनुराग बढ़ानेसे–पापोंसे निवृत्ति होती है और साथ ही महत्पुण्योपार्जन भी होता है, जो कि स्वतः अनेक लौकिक प्रयोजनोंका साधक है। इसलिये जो लोग परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करते वे अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने आत्मलाभसे वंचित रहते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु कृतघ्नताके महान् दोषसे भी दूषित होते है। अतः ठीक उद्देश्योंके साथ परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना करना सबके लिये उपादेय और जरूरी है।

मूर्ति-पूजा

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था—अर्थात्, अर्हन्त-अवस्थामें सदा और सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्तनेके अवलम्बनस्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोंका प्रतिबिम्ब होती है। उसमें स्थापना-निक्षेपसे परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है जो ऊपर वर्णन किया गया है; क्योंकि मूर्तिकी पूजासे किसी धातुपाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है। ऐसा होता तो गृहस्थोंके घरोंमें सैकड़ों बाट बटेहड़े घड़े पसेरे आदि चीजें इसी किस्मकी पड़ी रहती हैं; वे उनसे ही अपना मस्तक रगड़ा करते और उन्हें प्रणामादिक किया करते।

पर ऐसा नहीं है। मूर्तिके सहारेसे परमात्माकी ही पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना की जाती है। मूर्तिके द्वारा मूर्तिमानकी उपासनाका नाम ही मूर्तिपूजा है। इसीलिये इस मूर्तिपूजाके देवपूजा, देवाराधना, जिनपूजन, देवार्चन, भगवत्पर्युपासन, जिनार्चा इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा :—

भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥ ९–४२ ॥

—धर्मसंग्रहश्रावकाचार

उर्दू के एक कवि शेख़ साहबने भी इस संबंधमें अच्छा कहा है: —

उसमें है एक .ख़ुदाई का जलवा वगर ना शेख़।
सिजदा करेसे फ़ायदा पत्थरके सामने ?

अर्थात्—परमात्माकी उस मूर्तिमें खुदाईका जलवा—परमात्माका प्रकाश और ईश्वरका भाव—मौजूद है जिसकी वजहसे उसे सिजदा—प्रणामादिक—किया जाता है; अन्यथा, पत्थरके सामने सिजदा करनेसे कोई लाभ नहीं था। भावार्थ, परमात्माकी मूर्तिको जो प्रणामादिक किया जाता है वह वास्तवमें परमात्माको—परमात्माके गुणोंको ही प्रणामादिक करना है, धातु-पाषाणको प्रणामादिक करना नहीं है। और इसलिए उसमें लाभ ज़रूर है। जैन-दृष्टिसे खुदाईका वह जलवा परमात्माके परम वीतरागता और शान्ततादि गुणोंका भाव है जो जैनियोंकी मूर्तियोंमें साफ़ तौरसे झलकता और सर्वत्र पाया जाता है। परमात्माके उन गुणोंको लक्ष्य करके ही जैनियोंके यहाँ मूर्तिकी उपासना की जाती है।

परमात्माकी इस परम शान्त और वीतराग मूर्तिके पूजनेमें एक बड़ी भारी खूबी और महत्त्वकी बात यह है कि, जो संसारी जीव संसारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपंचमें अधिक फँसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चंचल हैं और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि

जो केवल शास्त्रोंमें परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नक़शेके परमात्मस्वरूपका नक़शा (चित्र) अपने हृदय पर खींच सकें या परमात्म-स्वरूपका ध्यान कर सकें, वे भी उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमें समर्थ हो जाते हैं और उसीसे आगामी दुःखों तथा पापोंकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें अग्रसर होते हैं।

जब कोई चित्रकार चित्र खींचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादे चित्रोंपरसे, उनको देख देखकर, अपना चित्र खींचनेका अभ्यास बढ़ाता है; एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको वह नहीं बना सकता। जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है, तब कठिन, गहन और रंगीन चित्रोंको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है। और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्रविद्यामें पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती-फिरती, दौड़ती-भागती वस्तुओंका भी चित्र बड़ी सफ़ाईके साथ बातकी बातमें खींचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके, उसका साक्षात् जीता-जागता चित्र भी अंकित कर देता है! उसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता—अर्थात् परमात्माका फोटो अपने हृदय पर नहीं खींच सकता; वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढ़ाता है। मूर्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतराग छबि और ध्यानमुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनैः शनैः एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फोटो अपने हृदयमें खींचने लगता है और फिर कुछ देर तक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करनेपर उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है और फिर वह इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्तिके मूर्तिमान श्रीअर्हन्तदेवका

समवसरणादि-विभूतिसहित साक्षात् चित्र भी अपने हृदयमें खींचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम 'रूपस्थ ध्यान' है और यह ध्यान प्रायः मुनि-अवस्था ही में बनता है।

आत्मीय बलके इतना उन्नत हो जानेकी अवस्थामें फिर उसको धातुपाषाणकी मूर्तिके पूजनादिकी या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिए मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी ज़रूरत बाकी नहीं रहती, बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमें परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोंका चित्र भी खींचने लगता है, जिसको 'रूपातीत ध्यान' कहते हैं। इस प्रकार ध्यानके बलसे वह अपने आत्मासे कर्ममलको छाँटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोंको क्षय कर देता है और इस तरह अपने आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय इसका यह है कि, मूर्तिपूजा आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्रायः प्रथमावस्था (गृहस्थावस्था) ही में होती है। बल्कि, दूसरे शब्दोंमें, यों कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमें है, उतना उतना ही ज्यादा उसको मूर्तिपूजाकी या मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी ज़रूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी खास जरूरत रक्खी है और नित्य पूजन करना गृहस्थका मुख्य धर्म वर्णन किया है[1]।

यह तो हुई मूर्तिविशेष और जैनियोंके मूर्तिपूजा-विषयक खास सिद्धान्तकी बात। अब यदि आमतौरसे मूर्तिपूजाके सिद्धान्त पर नज़र डाली जाय, मूर्तिके स्वरूप पर सूक्ष्मताके साथ विचार किया जाय

---

१ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सोवि॥ —रयणसार
देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥ —पद्मनन्दिपंचवि॰

और उसके अर्थसम्बन्धमें कुछ गहरा उतरा जाय,तो मालूम होगा कि संसारकी कोई भी उपासना बिना मूर्तिके नही बन सकती—मूर्तिका अवलम्बन ज़रूर लेना पड़ता है, चाहे वह मूर्ति सूक्ष्म हो या स्थूल। आप किसीकी प्रशंसा नहीं कर सकते जब तक कि मूर्तियोंका सहारा न ले लेवें। शब्द, जिनके द्वारा परमात्माकी या किसीकी भी स्तुति की जाती है, नाम लिया जाता है और गुणानुवाद गाया जाता है, वे सब मूर्तिक हैं, मूर्तिकसे उत्पन्न होते हैं, मूर्तिक पदार्थोंसे रोके जाते हैं, फोनोग्राफमें भरे जाते हैं और इसलिये एक प्रकारकी सूक्ष्म मूर्तियाँ हैं। इसी तरह शब्दोंके द्योतक जो अक्षर हैं वे भी शब्दोंकी नाना-प्रकारकी आकृतियाँ हैं मूर्तियाँ हैं—जिन्हें भिन्न भिन्न देशों अथवा जातियोंने अपने अपने व्यवहारके लिये कल्पित कर रक्खा है। हाथी-को संस्कृतमें 'गज', प्राकृतमें 'गय', फारसीमे 'फ़ील', अरबीमें 'पील', और अंग्रेजीमें 'एलिफेंट' (Elephant) कहते है। अन्यान्य भाषा-ओंमें उसके दूसरे नाम हैं और एक एक भाषामे कई कई नाम भी हैं—जैसे संस्कृतमें इभ, करी इत्यादिक—और ये सब नाम अनेक लिपियोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे लिखे जाते हैं। इन शब्दरूप मूर्ति-योंके कानोंसे टकराने पर या अक्षररूप मूर्तियोंके नेत्रोंके सामने आने पर जब हाथी नामके एक विशाल जन्तु (जानवर) का बोध होता है तो वह हाथीकी साक्षात् (तदाकार) मूर्तिको देखनेपर उससे कहीं अधिक हो सकता है और होता है। हाथीके नामसे हाथीका सामान्य ज्ञान ही होता है, परन्तु उसकी तदाकार मूर्तिके देखनेसे रङ्ग-रूप और आकार-प्रकारादिका बहुत कुछ हाल मालूम हो जाता है। यही दोनोंमें विशेष है, और इसी विशेषकी वजहसे आजकल विद्वान् लोग शिक्षालयोंमें भी चित्रों और मूर्तियोंके द्वारा बालकोंको शिक्षा देना ज़्यादा पसन्द करने लगे हैं।

परमात्माके सम्बन्धमें भी यही सब बातें समझ लेनी चाहिएँ। परमात्माके ईश्वर, परब्रह्म, अल्ला, ख़ुदा, गौड (God) आदि

नामोंके उच्चारण करनेसे अथवा इन नामोंको किसी लिपिविशेषमें लिखकर सामने रखनेसे इन उभय प्रकारकी (शब्द-अक्षर-रूपवाली) मूर्तियोंके द्वारा यदि परमात्माका बोध होता है तो परमात्माकी तदाकार मूर्ति उसकी जीवन्मुक्तावस्थाकी आकृति—के देखनेसे वह बोध और भी ज्यादा स्पष्ट होता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसी मूर्तिके द्वारा परमात्माका कुछ बोध ही नहीं होता तो वह शब्दों और अक्षरोंके द्वारा बिल्कुल नहीं होता, यह कहना चाहिए; क्योंकि वे भी मूर्तियाँ हैं और अतदाकार मूर्तियाँ हैं। जब तदाकार मूर्तियोंसे ही, जो कि ज्यादा विशद होती हैं, अर्थावबोध नहीं होता तो फिर अतदाकार मूर्तियोंसे वह कैसे हो सकता है ? अतः उक्त कथन ठीक नहीं है । इसी तरह यह समझना चाहिए कि परमात्माका नाम लेनेसे, शब्दों-द्वारा परमात्माकी स्तुति करनेसे—परमात्मने नमः, ईश्वराय नमः, परब्रह्मणे नमो नमः, ॐ नमः, णमो अरहंताणं, अल्हम्दोलिल्ला[1] इत्यादि मन्त्रोंके उच्चारण करनेसे—या ॐ आदि अक्षरोंकी आकृति सामने रखकर ध्यान करनेसे यदि किसी पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है तो वह तदाकार मूर्तिपरसे परमात्माका चिन्तन करनेसे भी जरूर होती है और ज्यादा हो सकती है। ऐसी हालतमें जो लोग परमात्माकी शब्दों और अक्षरोंमें स्थापना करके उन अतदाकार मूर्तियोंके द्वारा उसकी उपासना करते हैं उन्हें परमात्माकी तदाकार मूर्तियाँ बनाकर उपासना करनेवालोंपर आक्षेप करनेकी जरूरत नहीं है और न वैसा करनेका कोई हक ही है, क्योंकि वे स्वयं ही मूर्तियों द्वारा—बल्कि अस्पष्ट मूर्तियों द्वारा - परमात्माकी उपासना करते हैं और उससे शुभ फलका होना मानते हैं। वास्तवमें यदि देखा जाय तो कोई भी चिन्तन अथवा ध्यान बिना मूर्तिका सहारा लिये नहीं बन सकता और न निराकारका ध्यान ही हुआ करता है।

---

१ यह अरबी भाषाका मुसलमानी मंत्र है।

प्रत्येक ध्यान अथवा चिन्तनके लिये किसी न किसी मूर्ति या आकार-विशेषको अपने सामने रखना होता है, चाहे वह नेत्रोंके सामने हो अथवा मानसप्रत्यक्ष। इसी अभिप्रायको हृदयमें रखकर पं० मंगतरायजीने ठीक कहा है—

अबस यह जैनियों पर इत्तहामे बुतपरस्ती है।
बिना तसवीरके हरगिज़ तसव्वर हो नहीं सकता॥

अर्थात्—जैनियों पर बुतपरस्तीका—मूर्तिपूजाविषयक—जो इलज़ाम लगाया जाता है—यह कहा जाता है कि वे धातुपाषाणके पूजनेवाले हैं—वह बिल्कुल व्यर्थ और निःसार है; क्योंकि कोई भी तसव्वर—कोई भी ध्यान अथवा चिन्तन—विना तसवीरके—बिना मूर्ति या चित्रका सहारा लिये—नहीं बन सकता। भावार्थ, ध्यान तथा चिन्तनकी सभीको निरन्तर ज़रूरत हुआ करती है, इसलिए सभीको मूर्तियोंका आश्रय लेना पड़ता है और इस दृष्टिसे सभी मूर्तिपूजक हैं। तब, जैनियोंपर ही कैसे उसका दोष मढ़ा जा सकता है? उन्हें, इस विषयमें दोष देना बिल्कुल फ़जूल और निर्मूल है। वे अपनी मूर्तियोंके द्वारा परमात्माका ही ध्यान तथा चिन्तन किया करते हैं।

इसलिए जो लोग मूर्तिपूजाका निषेध करते है, मूर्तिको जड, अचेतन,कृत्रिम बतलाकर और यह कहकर कि वह हमारा कुछ भला नहीं कर सकती उससे घृणा उत्पन्न कराते हैं, यह सब उनकी बड़ी भारी भूल है। वे खुद बात बातमें मूर्तिका सहारा लिया करते है, मूर्तियोंका आदर-सत्कार करते हुए देखे जाते हैं[1] जड पदार्थोंके पीछे भटकते हैं, उनके लिए अनेक प्रकारकी दीनताएँ करते हैं,संसार-

---

१ वेदादि शास्त्रोंका विनय और अपने महात्माओंके चित्रोंकी इज्जत करते है तथा परमात्माके नामादिकोंको बड़ी भक्तिके साथ उच्चारण करते हैं।

में उनका कोई भी काम जड पदार्थोंकी सहायताके बिना नहीं होता, वे अपने चारों ओर जड तथा कृत्रिम पदार्थोंसे घिरे रहते हैं और उनसे नाना प्रकारके काम निकाला करते हैं जड तथा कृत्रिम गाली-को सुनकर उन्हें रोष हो आता है, और वे यह भी खूब जानते हैं कि इस जगत्का सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार प्रायः जड तथा कृत्रिम मूर्तियोंकी सहायतासे ही चल रहा है; इतनेपर भी उनका मूर्तिको जड तथा कृत्रिम बतलाकर उससे घृणा उत्पन्न करना कहाँ तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते है। वास्तवमें यह सब साम्प्रदायिक मोह, आपसकी खींचातानी तथा पक्षपातका नतीजा है और तात्त्विक दृष्टिसे इसे कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अथवा यों कहना चाहिए कि ऐसे लोगोंको मूर्तिका रहस्य मालूम नहीं है; उन्हें यह खबर ही नहीं कि ऐसा कोई भी मनुष्य संसारमें नहीं हो सकता जो मूर्तिका उपासक न हो अथवा परमात्माकी उपासनामें मूर्तिकी सहा-यता न लेता हो; और इसलिये उन्हें ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे मूर्तिका रहस्य खूब समझ लेना चाहिये और यह जान लेना चाहिए कि इन स्थूल मूर्तियोंकी पूजाका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है, इनके द्वारा परमात्माकी ही उपासना की जाती है। ये परमात्माके प्रतिरूप हैं, प्रतिबिम्ब हैं और इसीलिये इन्हें प्रतिमा भी कहते हैं। बुद्धिमान् लोग इनमें परमात्माका दर्शन अथवा इनके सहारेसे अपनी आत्माका अनुभवन किया करते हैं; जैसा कि इस निबंधके शुरूमें प्रकट किया गया है। नीचेके एक पद्यसे भी पाठकोंको ऐसा ही मालूम होगा, जिसमें कवि मैथिलीशरणजीने उन भावोंको चित्रित किया है जो इस विषयमें एक सामंतके हृदयमें उस समय उदित हुए थे जब कि उसके देशके किलेकी मूर्ति बनाकर एक राणाके द्वारा, अपनी प्रतिज्ञा[१]

---

१ प्रतिज्ञा, जो सहसा क्रोधके आवेशमे बिना सोचे समझे की गई थी यह थी कि जब तक उस देशके किलेको नहीं तोड़ डालूंगा तब तक

पूरी करनेके अभिप्रायसे, तोड़ी जा रही थी और जिसे उस सामन्तने अपने उन भावोंके अनुसार तोड़ने नहीं दिया था बल्कि उसके लिये राणासे युद्ध किया था। वह पद्य इस प्रकार है :—

तोडने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मानके ?
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्तिको जड जानके ?
अज्ञ जन उसको भले ही जड कहें अज्ञानसे।
देखते भगवानको धीमान उसमें ध्यानसे ॥

—रङ्गमें भंग

इससे पाठक मूर्तिपूजाके भावोंको और भी स्पष्टताके साथ अनुभव कर सकते हैं, और यह समझ सकते हैं कि इन मूर्तियोंके द्वारा परमात्माका ही पूजना अभीष्ट होता है—धातुपाषाणका नहीं। मूर्तिका विनय-अविनय, वास्तवमें मूर्तिमानका ही विनय-अविनय है। और यही वजह है कि जो कोई किसी महात्मा, परमात्मा, राजा या महाराजाकी लोकमें सम्प्रतिष्ठित मूर्तिका अविनय करता है वह दंडका पात्र समझा जाता है और उसे, प्रमाणित होने पर, दंड दिया भी जाता है।

यह ठीक है कि, धातुपाषाणकी ये मूर्तियाँ हमें कुछ देती-दिलाती नहीं हैं और इनसे ऐसी आशा रखना इनके स्वरूपकी अनभिज्ञता प्रकट करना है, तो भी परमात्माकी स्तुति आदिके द्वारा शुभ भावोंको उत्पन्न करके हम जिस प्रकार अपना बहुत कुछ हित साधन कर लेते हैं उसी प्रकार इन मूर्तियोंकी सहायतासे भी हमारा बहुत कुछ काम निकल जाता है। मूर्तियोंके देखनेसे हमें परमात्माका स्मरण होता है

अन्न जल नही ग्रहण करूंगा। परन्तु सेना सजाकर वहाँ तक पहुँचने आदिके लिये कितने ही दिनोकी जरूरत थी और उस वक्त तक भूखा नही रहा जा सकता था, इसलिये प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मन्त्रियों द्वारा मूर्तिको तोडनेकी योजना कीगई थी।

और उससे फिर आत्मसुधारकी ओर हमारी प्रवृत्ति होने लगती है। यह सब कैसे होता है, इसे एक उदाहरणके द्वारा नीचे स्पष्ट किया जाता है :—

कल्पना कीजिये, एक मनुष्य किसी स्थानपर अपनी छतरी भूल आया। वह जिस समय मार्गमें चला जा रहा था, उसे सामनेसे एक दूसरा आदमी आता हुआ नज़र पड़ा, जिसके हाथमें छतरी थी। छतरीको देखकर उस मनुष्यको झटसे अपनी छतरी याद आ गई और यह मालूम हो गया कि मै अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया हूँ और इसलिये वह तुरन्त उसके लानेके लिये वहाँ चला गया और ले आया। अब यहाँपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस मनुष्यको किसने बताया कि तू अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया है। वह दूसरा आदमी तो कुछ बोला नहीं, और भी किसी तीसरे व्यक्तिने उस मनुष्यके कानमें आकर कुछ कहा नहीं। तब क्या वह जड छतरी ही उस मनुष्यसे बोल उठी कि तू अपनी छतरी भूल आया है ? परन्तु ऐसा भी कुछ नहीं है; फिर भी यह जरूर कहना होगा कि उस मनुष्यको अपनी छतरीके भूलनेकी जो कुछ खबर पड़ी है और वहाँसे लानेमें उसकी जो कुछ प्रवृत्ति हुई है उन सबका निमित्त कारण वह छतरी है, उस छतरीसे ही उसे यह सब उपदेश मिला है और ऐसे उपदेशको 'नैमित्तिक उपदेश' कहते है। यही उपदेश हमें परमात्माकी मूर्तियोंपरसे मिलता है। जैनियोंकी ऐसी मूर्तियाँ ध्यानमुद्राको लिये हुए परमवीतराग और शान्त-स्वरूप होती हैं। उन्हें देखनेसे बड़ी शान्ति मिलती है, आत्मस्वरूपकी स्मृति होती है—यह ख़याल उत्पन्न होता है कि हे आत्मन् ! तेरा स्वरूप तो यह है तू इसे भुलाकर संसारके मायाजालमें और कषायोंके फन्देमें क्यों फँसा हुआ है ? नतीजा जिसका यह होता है कि (यदि बीचमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती तो) वह व्यक्ति यमनियमादिके द्वारा अपने आत्मसुधारके मार्गपर लग जाता है। यह दूसरी बात है कि कोई

मनुष्य नेत्रहीन (विवेकरहित) हो और उसे मूर्तिरूपी दर्पणमें परमात्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह दिखलाई ही न देता हो, अथवा उसका हृदय दर्पणके समान स्वच्छ न होकर मिट्टीके उस ढेलेके सदृश हो जो प्रतिबिम्ब (उपदेश) को ग्रहण ही नहीं करता और या इतना निर्बल हो कि उसे ग्रहण करके फिर शीघ्र छोड़ देता हो, और इस तरह अपने आत्माके सुधारकी ओर न लग सकता हो; परन्तु इसमें मूर्तिका कोई दोष नहीं, न इन बातोंसे मूर्तिकी उपयोगिता नष्ट होती है और न उसकी हितोपदेशकतामें ही कोई बाधा आती है। ऐसी परम हितोपदेशक मूर्तियाँ, निःसन्देह, अभिवन्दनीय ही होती हैं। इसीसे एक आचार्यमहोदय उनका निम्नप्रकारसे अभिवादन करते हैं:

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शांततया भवान्तकानाम्।
प्रणमामि विशुद्धये जिनानां प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमंति॥
— क्रियाकलाप

अर्थात्—संसारसे मुक्त श्रीजिनेन्द्रदेवकी उन तदाकार सुन्दर प्रतिमाओंको मैं, अपनी आत्मशुद्धिके लिये, प्रणाम करता हूँ, जो कि अपनी परम शान्तताके द्वारा संसारी जीवोंको कषायोंकी मुक्तिका उपदेश देती हैं।

इससे स्पष्ट है कि जिनेन्द्र-प्रतिमाओंकी यह पूजा आत्मविशुद्धिके लिये की जाती है और जो काम आत्माकी शुद्धिके लिये—आत्माकी विभाव-परिणतिको दूर कर उसे स्वभावमें स्थित करनेके उद्देश्यसे—किया जाता हो वह कितना अधिक उपयोगी है इस बातको बतलानेकी जरूरत नहीं, विज्ञ पाठक उसे स्वयं समझ सकते हैं और ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे मूर्तिपूजाकी उपयोगिताको बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं।

विरोधका रहस्य

हाँ, जब मूर्तिपूजा इतनी अधिक उपयोगी चीज़ है तब कभी कभी

समाजके साक्षर व्यक्तियोंके द्वारा – ऐसे विद्वानोंके द्वारा भी जो अनेक बार बड़ी प्रबल युक्तियों और जोरोंके साथ मूर्तिपूजाका मंडन कर चुके हों—इस समूची उपासना या इसके किसी एक अंगका विरोध क्यों होने लगता है ? यह एक प्रश्न है जो निःसन्देह विचारणीय है। हमारी रायमें इसका सीधा सादा उत्तर यही हो सकता है कि, जब उपासना अपने उद्देश्योंसे गिर जाती है, अथवा लक्ष्यसे भ्रष्ट और आदर्शसे च्युत होकर कोरी बुतपरस्ती रह जाती है, उसमें भाव नहीं रहता वह प्रायः प्राणरहित हो जाती है - उसके लिये किरायेके आदमी रखनेकी नौबत आ जाती है, उपासनाके नामपर समाजमें मूखा क्रियाकाड फैल जाता है, उसकी तहमें अनेक प्रकारके अत्याचारोंकी वृद्धि होने लगती है, उसमें व्यर्थके आडम्बर बढ़ जाते हैं और समाजकी शक्तिका दुरुपयोग होने लगता है, तब वह उपासना तात्त्विक दृष्टिसे उपयोगी होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टिसे उपयोगी नहीं रहती और इसलिये उसका विरोध प्रारम्भ हो जाता है। विरोध करनेवालोंका मुख्य उद्देश्य उस समय प्रायः यही होता है कि, यदि समाजकी इस उपासनामें कुछ भी प्राण अवशिष्ट है तो उसे संजीवित किया जाय,–अनेक प्रकारके उपायों द्वारा–उपासना-तत्त्वकी पुटें देकर–उसमें अधिक प्राणका संचार किया जाय, और यदि प्राण बिल्कुल नहीं रहा है और न फिरसे उसका संचार हो सकता है तो उसके साथ उस मृतकशरीर-जैसा व्यवहार किया जाय जो अत्यन्त प्यारा और उपयोगी होते हुए भी प्राणरहित हो जानेपर घरमें नहीं रक्खा जा सकता। अथवा यों कहिये कि अपने विरोधके द्वारा वे यही सूचित करते हैं कि, उपासनाके शरीरमें अमुक अमुक खराबियाँ उत्पन्न हो गई हैं - उसके ढंग बिगड़ गये हैं—उन्हें शीघ्र दूर किया जाय—सुधारा जाय–नहीं तो समूचे शरीरके नष्ट हो जानेका भय है; या शरीरका अमुक अङ्ग गल गया है उसका यदि प्रतिकार नहीं हो सकता तो उसे अलग कर दिया जाय, नहीं तो उसके संसर्गसे दूसरा

अङ्ग भी खराब हो जायगा, इत्यादिक। जब समाजकी तरफ़से इस विरोधकी कुछ सुनाई नही होती बल्कि उलटी खींचातानी बढ़ जाती है—समाज अपने दोषोंपर विचार नही करता और न अपनी उपासनामें जीवन-सचार करनेका कोई उपाय करता है, बल्कि उसे ज्योंका त्यो अस्वस्थ दशामें ही रखना चाहता है और इस तरह उसकी हालत खराबसे खराबतर (ज्यादा खराब) होने लगती है—तब विरोध अपना उग्ररूप धारण कर लेता है और उसके कारण हेयादेयका विचार नष्ट होकर, उपासनाके उन अच्छे अच्छे स्वस्थ अंगोंको भी धक्का पहुँच जाता है जिनको धक्का पहुँचाना विरोधकारियोंको कभी इष्ट नही होता, और इस तरह एक अच्छी और उपयोगी संस्था समाजके दोषसे बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और भावी संतति उसके समुचित लाभोंसे वंचित ही रह जाती है[१]।

उपसंहार

इसलिये, समाजके व्यक्तियोंका यह खास कर्तव्य है कि वे उपासनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे समझकर अपनी उपासनाके प्रत्येक अङ्ग और ढंगकी जाँच करे, और रूढियोंके मोहको जलाञ्जलि देकर, उन्हें बिल्कुल उपासना-तत्त्वके अनुकूल बना लेवें। ऐसा हो जानेपर समाजके फिर किसी भी समझदार व्यक्तिको उनकी इस उपासना पर आपत्ति करनेकी कोई वजह नही रह सकती।

समाज-हितैषियोंको समाजमें इस उपासना-तत्त्वके फैलाने, शिक्षा-संस्थाओंमें पढ़ाए जाने और इसके अनुकूल समाजकी प्रवृत्ति करानेका खास तौरसे यत्न करना चाहिए। इसीमें समाजका हित और इसीमें समाजका कल्याण है और इसी हितसाधनाकी दृष्टिसे यह निबन्ध लिखा गया है।

---

१. जैनियोंमें स्थानकवासी और तारनपन्थी जैसे सम्प्रदाय ऐसे ही विरोधके परिणाम है।

१५

उपासनाका ढंग

आजकल हमारी उपासना बहुत कुछ विकृत तथा सदोष हो रही है और इसलिये समाजमें उपासनाके जितने अंग और ढंग प्रचलित हैं उनके गुण-दोषों पर विचार करनेकी बड़ी ज़रूरत है। उन पर स्वतंत्रताके साथ अनेक लेख लिखे जा सकते हैं। एक बार 'नौकरोंसे पूजन कराना' नामका लेख अपने-द्वारा लिखा भी गया था। इस समय उपासनाके ढंग-सम्बन्धमें संकेतरूपसे इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि, उपासनाका वही सब ढग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमें—उसके मूल उद्देश्योंमें – कुछ बाधा न पड़ती हो। उसका कोई एक निर्दिष्टरूप नहीं हो सकता। भगवान जिनेंद्रदेवने भी, अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा उसका कोई एक रूप निर्दिष्ट नहीं किया। बल्कि, उन्होंने यह भी नहीं कहा कि तुम मेरी उपासना करना, मेरी मूर्ति बनाना और मेरे लिये मंदिर खड़ा करना। यह सब मंदिर-मूर्तिका निर्माण और उपासनाके लिये तरह तरहके विधि-विधानोंका अनुष्ठान स्वयं भक्तजनों—श्रावकोंके द्वारा अपनी अपनी भक्ति तथा शक्ति आदिके अनुसार कल्पित किया गया है, और जो समय पाकर रूढ होता गया; जैसा कि श्रीमत्पात्रकेसरी स्वामीके निम्न वाक्यसे ध्वनित है—

विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रियाः बहुविधा सुभृन्मरण-पीडना-हेतवः।

त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किन्तु ता-
स्त्वयि प्रसन्नभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः[१] ॥
- पात्रकेसरिस्तोत्र

और इसलिये उपासनाके जो विधिविधान आज प्रचलित हैं वे बहुत पहले प्राचीन समयमें भी प्रचलित थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनमें देश-कालानुसार बराबर परिवर्तन होता रहा है। आज भी संपूर्ण देशोंमें और संपूर्ण सम्प्रदायोंमें एक ही प्रकारकी उपासना-विधि नहीं पाई जाती। जैनियोंमें तेरह और बीसपंथका भेद बहुत ही स्पष्ट है और वह बहुत कुछ आधुनिक है। एक समय था जब कि जैनाचार्य वचन और शरीरको अन्य व्यापारोंसे हटाकर उन्हें अपने पूज्यके प्रति, स्तुति-पाठ करने और अंजलि जोड़ने आदि रूपमें, एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और उसी प्रकारसे मनके एकाग्र करनेको 'भावपूजा' मानते थे; जैसा कि श्रीअमितगति आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥ (उपासकाचार)

इसके बाद वह समय भी आया जब कि देशमें नैवेद्य, दीप, धूप और फल-पुष्पादिकके द्वारा देवताओंकी पूजाने जोर पकड़ा और वही द्रव्यपूजा कहलाई जाने लगी। हिन्दू देवताओंके सदृश जिनेंद्र-देवोंका भी आवाहन और विसर्जनादिक होने लगा और (जैनसि-

---

१. इसमे बतलाया है कि 'विमोक्ष-सुखके लिये चैत्य-चैत्यालयादिकका निर्माण, दानका देना, पूजनका करना, इत्यादि रूपसे जितनी क्रियाएँ हैं और जो अनेक प्रकारसे त्रस-स्थावर प्राणियोंके मरण तथा पीडनकी कारणीभूत हैं उन सब क्रियाओंका हे केवलज्ञानी भगवान! आपने उपदेश नहीं दिया, बल्कि आपके भक्तजन श्रावकोंने स्वयं ही (आपकी भक्ति आदिके वश) उनका अनुष्ठान किया है।'

द्धांतोंके प्रतिकूल भी) यह समझा जाने लगा कि वे भी बुलानेसे आते, बिठलानेसे बैठते, ठहरानेसे ठहरते और पूजनके बाद रुखसत करने पर अपना यज्ञ-भाग लेकर चले जाते हैं, जैसा कि पूजनके 'अत्र अवतर अवतर तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः' इत्यादि पाठों और विसर्जनके निम्न पाठसे प्रगट है—

[1]'आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रम।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥'

ऊपरकी यह बात जैनसिद्धान्तोंके अनुकूल न होते हुए भी समाजमें प्रचलित हो गई और किसी प्रकारसे उपासनाका एक अंग बन गई। अस्तु; अब मंदिरोंको लीजिये। मंदिरोंके निर्माण करनेमें मूर्तिकी रक्षा आदिके सिवाय 'लोकसंग्रह' का गहरा तत्व छिपा हुआ था, जिसे बादको लोगोंने भुला दिया और अपनी अपनी मान-कषाय, नामवरीकी इच्छा या कुछ सुभीते आदिके खयालसे विना ज़रूरत भी एक स्थानपर बहुतसे मंदिरोंके निर्माण-द्वारा संघशक्तिको बाँटकर—उसके टुकड़े टुकड़े करके—उक्त तत्त्वकी उपयोगिताको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसी तरह मंदिरोंमें छोटी छोटी मूर्तियोंकी समूह-वृद्धिने उपासकोंके हृदयमें यह खलबली उत्पन्न कर दी कि वे कितने समयमें किस किस मूर्तिकी उपासना करें, किसका ध्यान लगावें और किस परसे परमात्माका चिन्तन करें। अतः ऐसे स्थानों पर दो एक शब्दोंको बुड़बुड़ाने और आगे सरकनेका ही काम रह गया, मूर्ति परसे परमात्माके ध्यान और चिन्तनकी बात प्रायः जाती रही। साथ

---

१. इस पद्यमें विसर्जन करते हुए कहा गया है कि 'जिन जिन देवोंको मैंने पहले बुलाया है वे सब भक्तिपूर्वक मेरे द्वारा पूजे जाने पर अब अपने अपने यज्ञ-भागको लेकर क्रमसे अपने अपने स्थान जाओ'।

यह पद्य भी जैनेतर-हिन्दू-पूजापद्धतिका पद्य है, जो किसी तरह अपनी पूजापद्धतिमें शामिल होगया है।

ही मूर्तियोंकी माँग बढ़नेसे उनकी निर्माण-विधिमें शिथिलता आगई। पहले मूर्ति बनानेवाला और बनवानेवाला दोनों मूर्तिके तैयार होने तक जिस यम-नियमादिके साथ रहते थे और जिस विधिविधानके साथ पाषाणको उसकी खानसे जाकर लाते थे वह सब बात उठ गई, शिल्पियोंकी दुकानें खुल गई जिनमें हर समय मूर्तियाँ तैयार मिलने लगीं और लोभी प्रतिष्ठाचार्य कुछ दक्षिणा लेकर या वैसे ही अपने अज्ञानादि भावोंसे प्रेरित होकर उन्हें पास करने लगे। नतीजा जिसका यह हुआ कि उपासनामें वह भाव नहीं रहा जो होना चाहिये था और कितने ही स्थानोंपर ऐसी बेडौल, भद्दी तथा अशास्त्रसम्मत मूर्तियाँ भी पाई जाने लगी जिन्हें देखकर ध्यान जमनेके बजाय उलटा उखड़ जाता है।

जैनियोंके मंदिर, पहले आमतौर पर, बहुत कुछ सादा और आडम्बररहित होते थे और उनमें उपासनाके उद्देश्योंकी सहायक तथा साम्य-भावकी पोषक सामग्री ही विशेष रहा करती थी। परंतु जब देशके दूसरे समाजोंके मंदिरोंमें आडम्बरोंकी वृद्धि हुई, शान-शौकत अथवा राजसी ठाठ-बाटोंने अपना रंग जमाया, उनमें अनेक प्रकारके रास, नाटक, खेल, तमाशे होने लगे और उन्हें देखनेके लिये जैनी भी खिच-खिच कर वहाँ जाने लगे; तब जैनियोंके मंदिरोंका भी नक़शा बदल गया, उनमें भी गाने बजाने और नाचनेका सामान जोड़ा गया, आपसमें एक दूसरेसे मुकाबला होने लगा और प्रतिस्पर्धा बढ़ गई। साथमें, कुछ अदूरदृष्टता भी शामिल हो गई। नतीजा इस सबका यह हुआ कि उपासनाका भाव दिन पर दिन कम होता गया; कोरी नुमायश, लोक-दिखावा और रूढिका पालन रह गया और उसने वीतराग भगवानकी उपासनाके लिये भी नौकरोंकी ज़रूरत उपस्थित करदी !! मंदिरोंकी सजावट उस वक़्तसे आज तक इतनी बढ गई है कि उसके कारण दर्शकोंका मन मूर्तिके वीतराग-भावको ग्रहण करनेकी ओर बहुत ही कम प्रवृत्त होता है, उसे अवसर ही

नहीं मिलता, वह इधर उधरके सुनहरे कामों और रागवर्धक चित्रों-में ही उलझा रहता है।

पूजन-साहित्यका भी ऐसा ही हाल है। वह भी इसी चक्करमें पड़कर बहुत कुछ बदल गया है। पुराने ग्रन्थ इस विषयमें आजकल बहुत ही कम उपलब्ध हैं और जो मिलते हैं उनके और आधुनिक पूजा-ग्रन्थोंके भावोंमें बहुत बड़ा अन्तर है। प्राचीन भक्ति-पाठोंका प्रचार भी अब बहुत ही कम देखनेमें आता है। आजकल वे ही पूजा-पुस्तक ज्यादा पसंद की जाती हैं जो अपनी छन्द-सृष्टिकी दृष्टिसे गाने-बजानेमें अधिक उपयोगी होती हैं। चाहे उनका साहित्य और उसमें उपासनाका भाव कितना ही घटिया क्यों न हो, लोगोंका ध्यान प्रायः स्वर, ताल और लयकी ओर ही विशेष रहता है, अर्थावबोधके द्वारा परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ानेकी ओर नहीं। और भी कितनी ही बातें हैं जो स्वतंत्र लेखों-द्वारा ही प्रगट की जा सकती हैं। विज्ञपाठक इतने परसे ही समझ सकते हैं कि हमारी उपासनाका ढंग समय-समयकी हवाके झकोरोंसे कितना बदल गया है। उसके बदलनेमें कोई हानि न थी, यदि वह उपासना-तत्त्वके अनुकूल बना रहता। परंतु ऐसा नहीं है, वह कितने ही अंशोंमें उपासनाके मूल सिद्धान्तों तथा उद्देश्योंसे गिर गया है, और इसलिये इस समय उसको संभालने उठाने तथा उद्देश्यानुकूल बनाकर उसमें फिरसे नव-जीवनका संचार करनेकी बड़ी जरूरत है। समाजहितैषियोंको चाहिए कि वे इस विषयमें अपना मौन भंग करें अपनी लेखनी उठाएं, जनता-को उपासना-तत्त्वका अच्छा बोध कराते हुए उसकी उपासनाविधिके गुण-दोषोंको बतलाएँ—सम्यक् आलोचना-द्वारा उन्हें अच्छी तरहसे व्यक्त और स्पष्ट करें—और इस तरह उपासनाके वर्तमान ढंगमें समुचित सुधारको प्रतिष्ठित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करें। ऐसा होनेपर समाजके उत्थानमें बहुत कुछ प्रगति हो सकेगी।

१६

देशकी वर्त्तमान परिस्थिति और हमारा कर्त्तव्य

(अंग्रेजी राज्यकालसे सम्बद्ध)

आजकल देशकी हालत बहुत ही नाजुक हो रही है। वह चारों ओर अनेक प्रकारकी आपत्तियोंसे घिरा हुआ है। जिधर देखो उधर-से ही बड़े बड़े नेताओं और राष्ट्रके सच्चे शुभचिन्तकोंकी गिरफ्तारी तथा जेल-यात्राके समाचार आ रहे हैं। एक विकट संग्राम उपस्थित है। सरकार (नौकरशाही) पूरे तौरसे दमन पर उतर आई है और लक्षणोंसे ऐसा पाया जाता है कि वह भारतीयोंकी इस बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा (स्वराज्यप्राप्तिकी इच्छा) को दबाने और उनके संपूर्ण न्याय्य विचारोंको कुचल डालनेके लिये सब प्रकारके अत्याचारोंको करने कराने पर तुली हुई है। वह देशके इस महाव्रत (अहिंसा-शांति) को भंग कराकर उसे और भी ज्यादा पददलित करना और गुलामीकी जंजीरोंसे जकड़ना चाहती है और इसके लिये बुरी तरह-से उन्मत्त जान पड़ती है। इस समय सरकारका असली 'नग्न' रूप बहुत कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगा है और यह मालूम होने लगा है कि वह भारतकी कहाँ तक भलाई चाहनेवाली है। जो लोग पहले ऊपरके मायामय रूपको देखकर या बुरकेके भीतर रूपराशिकी कल्पना करके ही उस पर मोहित थे, वे भी अब पर्दा (नक़ाब) उठ जाने तथा आच्छादनोंके दूर हो जानेसे नग्न रूपके दर्शन करके,

अपनी भूलको समझने लगे हैं और यह देशके लिये बड़ा ही शुभ चिन्ह है।

यह देशकी अग्नि-परीक्षाका अथवा उससे भी अधिक किसी दूसरी कठिन परीक्षाका समय है। और इसी अन्तिम परीक्षा पर भारतका भविष्य निर्भर है। यदि हम इस परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये—सब कुछ कष्ट सहन करके भी हमने शांति बनाये रक्खी और किसी प्रकारका कोई उपद्रव या उत्पात न किया तो स्वराज्य फिर हाथमें ही समझिये, उसके लिये एक क़दम भी आगे बढ़ानेकी ज़रूरत न होगी। और यदि दुर्भाग्यसे हम इस परीक्षामें पास न हो सके—हमने हिम्मत हार दी—तो फिर हमारी वह दुर्गति बनेगी और हमारे साथ वह बुरा सलूक किया जायगा कि जिसकी कल्पना मात्रसे शरीरके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस समय हम गुलामोंसे भी बदतर गुलाम ही नहीं होंगे बल्कि 'जिन्दा दरगोर'[1] होंगे और पशुओंसे भी बुरा जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य किये जायँगे। और इस आपत्तिके स्थायी पहाड़का संपूर्ण बोझ उन लोगोंकी गर्दन पर होगा और वे देशके द्रोही समझे जायँगे जो इस समय देशका साथ न देकर ऐसी परिस्थितिको लानेमें किसी न किसी प्रकारसे सहायक बनेंगे।

देशकी किश्ती (नौका) इस समय भँवरमें फँसी हुई है और पार होनेके लिये संयुक्त बलके सिर्फ़ एक ही धक्केकी प्रतीक्षा कर रही है। ऐसी हालतमें वह भँवरमें क्यों फँसी, गहरे जलमें क्यों उतारी गई और क्यों भँवरकी ओर खेई गई, इस प्रकारके तर्क-वितर्कका या किसीके शिकवे-शिकायत सुननेका अवसर नहीं है। पार होनेके लिये उसे गहरे जलमें उतरना ही था, दूसरा मार्ग न होनेसे भँवरकी ओर उसका खेया जाना अनिवार्य था और इसलिये भँवरमें फँसना भी उसका अवश्यम्भावी था, यही सब सोच समझकर अब हमें अपने

---

१. जीते ही कब्रमे दफन जैसी अवस्थामे

संयुक्त बलके द्वारा उसे भँवरसे निकाल कर पार लगाना चाहिए। और इसलिये प्रत्येक भारतवासीका इस समय यह मुख्य कर्तव्य है कि वह देशकी वर्त्तमान परिस्थितिको समझकर उससे देशको उबारने और ऊँचा उठानेका जी-जानसे यत्न करे। उसे अपने क्षणिक सुखोंपर लात मारकर भारतमाताकी सेवामें लग जाना चाहिए और माताको पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करानेके लिए उस महामंत्रका आराधन करना चाहिए जिसे महात्मा गांधीजीने अपने दिव्य-ज्ञानके द्वारा मालूम करके एक अमोघ शस्त्रके रूपमें प्रगट किया है और जिसे भारतकी जातीय महासभा (कांग्रेस) ने अपनाया ही नहीं बल्कि भारतके उद्धारका एकमात्र उपाय स्वीकृत किया है। और वह महामंत्र है 'असहयोग'।

हम अनेक तरीकों अथवा मार्गोंसे सरकारको उसके शासन-कार्यमें जो मदद पहुँचा रहे हैं, उस मददसे हाथ खींच लेना और उसे बंद कर देना ही 'असहयोग' है। और यह ऐसा गुरुमंत्र है कि इस पर पूरे तौरसे अमल होते ही कोई भी अन्यायी सरकार एक दिनके लिये भी नहीं टिक सकती। प्रजाहित-विरोधी सरकारको ठीक मार्गपर लानेके लिये इससे अच्छा दूसरा उपाय नही हो सकता। परन्तु इस पर अमल करनेवालोंको स्वयं अहिंसक, अत्याचार-रहित, निष्पाप और प्रेमकी मूर्ति बन जाना होगा; तभी उन्हें सफलता मिल सकेगी। यह नहीं हो सकता कि हम स्वयं तो अन्याय, अत्याचार और पापकी मूर्ति बने रहें और दूसरोंके इन दोषोंको छुड़ानेका दावा करें। यदि हम खुद दूसरोंपर अन्याय और अत्याचार करते हैं तो हमें इस बातकी शिकायत करनेका कोई अधिकार नहीं है कि हमारे ऊपर क्यों अन्याय और अत्याचार किये जाते हैं। यदि हमारा आत्मा स्वयं पापोंसे मलिन है तो हम दूसरोंके पाप-मलको दूर करानेके पात्र नहीं हो सकते। इसीसे असहयोगका यह संग्राम आत्मशुद्धिका एक यज्ञ माना गया है, जिसमें हमें अपने उन संपूर्ण दोषों, त्रुटियों और कमज़ोरियोंकी आहुतियाँ देनी होंगी जिनसे लाभ उठाकर ही सरकार

हम पर शासन कर रही है और हमें काठकी पुतलियोंकी तरहसे नचा रही है। और यही वजह है कि काँग्रे सने इस महामंत्रकी साधनाके लिये, साधनोपायके तौरपर, चार मुख्य शर्तें रक्खी हैं, जिन्हें चार प्रकारके व्रत अथवा तप कहना चाहिए और जिनका पालन करना प्रत्येक असहयोगी तथा देशप्रेमीका प्रथम कर्तव्य है। वे चार शर्तें हैं १ अहिंसा-शांति, २ स्वदेशी, ३ हिन्दू-मुसलिम-एकता और ४ अछूतोद्धार। इनमें भी अहिंसा तथा शांति सबसे प्रधान हैं और वही इस समय खसूसियतके साथ कसौटी पर चढ़ी हुई है।

हमें कसौटीपर सच्चा उतरने और वर्तमान परीक्षामें पास होनेके लिये इस वक्त देशके सर्वप्रधान नेता महात्मा गांधीकी उन उदार और महत्वपूर्ण शिक्षाओंपर पूरी तौरसे ध्यान देनेकी खास ज़रूरत है जो बराबर उनके पत्रों-यंग इंडिया, नवजीवन और हिन्दी नवजीवनमें प्रकाशित हो रही हैं। हमारा इस समय यही खास एक व्रत हो जाना चाहिए कि हम जैसे भी बनेगा, सब कुछ सहन करके शांतिकी रक्षा करेंगे, सरकारकी ओरसे शांति भंग करानेकी चाहे जितनी भी उत्तेजना क्यों न दी जाय और चेष्टाएँ क्यों न की जायँ, परन्तु हम शांतिको ज़रा भी भँग न होने देंगे—अपनी तरफसे कोई भी ऐसा कार्य न करेंगे जिसका लाज़िमी नतीजा शांति-भँग होता हो—और बराबर अपने निर्दिष्ट मार्गमें आगेकी ओर कदम बढ़ाते हुए अमन कायम रक्खेंगे। इसीमें सफलताका सारा रहस्य छिपा हुआ है।

संकटकी जो घटाएँ इस समय देश पर छाई हुई हैं वे सब क्षणिक हैं और हमारी जाँचके लिये ही एकत्र हुई जान पड़ती हैं। उनसे हमें ज़रा भी घबराना और विचलित होना नहीं चाहिए। मंत्रों तथा विद्याओंके सिद्ध करनेमें उपसर्ग आते ही हैं। जो लोग उन्हें धैर्य और शांतिके साथ झेल लेते हैं वे ही सिद्धि-सुखका अनुभव करते हैं। असहयोग-मंत्र और स्वराज्य-निधिकी सिद्धिके लिये हमें भी कुछ उपसर्गों तथा संकटोंको धैर्य और शांतिके साथ सहन करना होगा,

तभी हम स्वराज्य-सिद्धिके द्वारा होनेवाले अगणित लाभोंसे अपनेको भूषित कर सकेंगे। बिना कष्ट-सहनके कभी कोई सिद्धि नहीं होती।

सरकारको पहले असहयोगकी साधनामें विश्वास नहीं था। वह उसकी चर्चाको महज़ एक प्रकारकी बकवाद और बच्चोंकासा खेल समझती थी। परंतु अबतक इस दिशामें जो कुछ काम हुआ है, उससे जान पड़ता है कि सरकारका आसन डोल गया है और वह उसे थामनेके लिये अब बिल्कुल ही आपेसे बाहर हो गई है। उसने इस बातको भुला दिया है कि प्रजा पर ही राज्यका सारा दारोमदार (आधार) है। प्रजाको असंतुष्ट रखकर उसपर शासन नहीं किया जा सकता और न डरा-धमकाकर किसीको सत्यकी सेवासे बाज़ रक्खा जा सकता है। उसकी हालत बहुत ही घबराई[1] हुई पाई जाती है और ऐसा मालूम होता है कि वह इस समय 'मरता क्या न करता' की नीतिका अनुसरण कर रही है। यही वजह है कि उसने अपनी उस घबराहटकी हालतमें मनमाने कानून बनाकर, कानूनोंका मनमाना अर्थ लगाकर और मनमानी आज्ञाएँ जारी करके, देशके प्रायः सभी सेवकों, शुभचिन्तकों, सहायकों और बड़े बड़े पूज्य नेताओं तकको बड़ी तेज़ीके साथ गिरफ्तार करना और मनमानी सज़ा देकर जेलमें भेज देना प्रारंभ कर दिया है। इस कार्रवाईसे सरकारकी बड़ी ही कमज़ोरी पाई जाती है और इससे उसने अपनी रही सही श्रद्धाको भी प्रजाके हृदयोंसे चलायमान कर दिया है। शायद सरकारने यह समझा था और अब भी समझ रक्खा है कि इस प्रकारकी पकड़-धकड़के द्वारा वह प्रजाको भयकम्पित बनाकर और उसपर अपना अनुचित रौब जमाकर उसे अपने पथसे भ्रष्ट कर देगी, और इस तरहपर देशमें स्वराज्य तथा स्वाधीनताकी जो आग सुलग

---

१ लार्ड रीडिंगने स्वयं अपनी घबराहटको स्वीकार किया है। देखो, 'वन्देमातरम्' ता० १६–१२–१९२१

रही है वह या तो एकदम बुझ जायगी और या जनता उत्तेजित होकर अशांति धारण करेगी, कुछ उपद्रव तथा उत्पात मचावेगी और तब उसे पशु-बलके द्वारा कुचल डाला जायगा। परन्तु परिणाम इन दोनोंमेंसे एक भी निकलता हुआ मालूम नहीं होता। सरकारके निष्ठुर व्यवहार और निरपराधियोंकी इस पकड़-धकड़ने उन लोगोंके वज्र-हृदयको भी द्रवीभूत कर दिया है और वे भी सरकारकी इस घातक पालिसीकी निन्दा करने लगे हैं, जो अभी तक इस आन्दोलनमें शरीक नहीं थे और बिल्कुल ही तटस्थ रहते थे अथवा सरकारके सहायक बने हुए थे। स्वराज्यकी आग बुझने अथवा दबनेके बजाए (स्थानमें) और अधिकाधिक प्रज्वलित हो रही है और सरकारके इस दमनने उस पर मिट्टीका तेल छिड़कनेका काम किया है। लोगोंका उत्साह बराबर बढ़ रहा है और वे स्वराज्य-सेनामें भरती होकर खुशी खुशी हजारोंकी संख्यामें झुंडके झुंड जेल जा रहे हैं और ऐसी जेल-यात्राको अपना अहोभाग्य समझ रहे हैं, जो देशके उद्धार और उसे गुलामीसे छुड़ानेके उद्देश्यसे कीजाती है। यह सब कुछ होते हुए भी अशांतिका कहीं पता नहीं। ला० लाजपतराय, पं० मोतीलाल नेहरू, मौ० अबुलकलाम आज़ाद और देशबन्धु सी० आर० दास जैसे बड़े-बड़े नेताओं तथा कुछ प्रतिष्ठित महिलाओंके पकड़े जाने और जेल भेजे जानेपर भी लोग शांत रहे। लार्ड रीडिंगने, शांतिके इस यज्ञके समय, तलवारसे स्वराज्य मिलना बतलाया! और इस तरह पर, प्रकारांतरसे हिंसाको उत्तेजना दी। परन्तु फिर भी किसीने तलवार उठाकर हिंसा करना नही चाहा और न शांतिको भंग करना पसंद किया। यह सब, अधिकांशमें महात्मा गांधीजीके उस महान् उपवासका फल है जो उन्होंने बम्बईकी अशांतिके समय धारण किया था। इस उपवासने देशवासियोंके हृदयमें शांति और अहिंसाकी उस ज्योतिको, जो पहले कुछ दुर्बल और कम्पित अवस्थामें थी, बहुत कुछ दृढ और बलाढ्य बना दिया है। ऐसी हालतमें यदि यह कहा

जाय कि सरकारने, इस कृत्यके द्वारा, अपने पैरमें आप ही कुल्हाडी मारी है, तो शायद कुछ अनुचित न होगा। यह इस अनुचित दमनका अथवा इन बेजा और बेमौका सख्तियोंका ही नतीजा है जो भारतमें प्रिन्स आफ़ वेल्सका उतना भी स्वागत नहीं हो रहा है जो कि दूसरी हालतमें ज़रूर होता। उच्चाधिकारियोंने शायद यह सोचा था कि बड़े बड़े लीडरोंको जेलमें भेज देनेसे हम जनताके द्वारा शाहजादे साहबका अच्छा स्वागत करा सकेंगे। परन्तु मामला उससे बिल्कुल उलटा निकला और वे पहली खट्टी छाछसे भी गये।

हमारी रायमें यदि सरकार सचमुच ही भारतका हित चाहनेवाली है, तो उसका यह कार्य बहुत ही अदूरदर्शिता और नासमझीका हुआ है। इस समय सरकार अधिकार-मदसे उन्मत्त है। वह किसीकी कुछ सुनती नही और न स्वयं उसे कुछ सूझ पड़ता है। तो भी प्रजाकी ओरसे बराबर शांति-जल छिड़का जानेपर जब उसका नशा उतरकर उसे होश आवेगा तो वह ज़रूर अपनी भूल मालूम करेगी और उसे अपनी वर्त्तमान कृति (कर्तूत) पर घोर पश्चात्ताप होगा।

परन्तु सरकारके इस चक्करमें पड़कर कही हमें भी भूल न कर बैठना चाहिए। हमें समझना चाहिए कि जिसका आसन डोलता है, वह उसके थामनेकी सभी कुछ चेष्टाएँ किया करता है। घबराया हुआ मनुष्य क्या कुछ नहीं कर बैठता ? और यही सब सोच समझ कर हमें अपने कर्तव्यके पालनमें बहुत ही सतर्क और सावधान रहने की ज़रूरत है। ऐसा न हो कि सरकारके किसी घृणितसे घृणित कार्य पर उत्तेजित होकर, कष्टोंको सहन करनेमें कायर बनकर और इष्ट-मित्रादिकोंके वियोगमें पागल होकर, हम अशांति कर बैठें और हिंसा पर उतर आवें। यदि ऐसा हुआ तो सर्वनाश हो जायगा। सारी करी कराई पर पानी फिर जायगा और सरकारका काम बन जायगा; क्योंकि सरकार इस आन्दोलनको बन्द करके हमारे चुप

न बैठनेकी हालतमें, ऐसा चाहती ही है और इसीमें अपना कल्याण समझती है। परंतु हमारे लिये यह बिल्कुल ही अकल्याणकी बात होगी। हम पशुबलके द्वारा सरकारको जीत नहीं सकते—इस विषयके साधन उसके पास हमसे बहुत ही ज्यादा हैं—औरन इस प्रकारकी जीत हमें इष्ट ही है; क्योंकि वास्तवमें ऐसी जीत कोई जीत नही हो सकती। उसमें हृदयका काँटा बराबर बना रहता है। हाँ, आत्मबलके द्वारा हम उसपर ज़रूर विजय पा सकते हैं, और यही सच्ची तथा स्थायी जीत होगी। सरकार यदि पशुबलका प्रयोग करती है तो उसे करने दीजिए। हमारी नीति उसके साथ 'शठं प्रति शाठ्यं' की न होनी चाहिए—हमें पशुबलका उत्तर आत्मबलके द्वारा सहनशीलतामें देना होगा और इसीमें हमारी विजय है। हमें क्रोधको क्षमासे, अन्यायको न्यायसे, अशांतिको शांतिसे और द्वेषको प्रेमसे जीतना चाहिए, तभी स्वराज्य-रसायन सिद्ध हो सकेगी। हमारा यह स्वतंत्रताका युद्ध एक धार्मिक युद्ध है और वह किसी खास व्यक्ति अथवा जातिके साथ नही बल्कि उस शासन-पद्धतिके साथ है जिसे हम अपने लिये घातक और अपमान-मूलक समझते हैं। हम इस शासन-पद्धतिको उलट देना अथवा उसमें उचित सुधार करना ज़रूर चाहते हैं; परंतु ऐसा करनेमें किसी जाति अथवा शासन-विभागके किसी व्यक्तिसे घृणा (नफ़रत) करना या उसके साथ द्वेष रखना हमारा काम नहीं है। हमें बुरे कामोंसे ज़रूर नफरत होनी चाहिए परंतु बुरे कामोंके करनेवालोंसे नहीं। उन्हें तो प्रेमपूर्वक हमें सन्मार्ग पर लाना है। नफ़रत करनेसे वह बात नहीं बन सकेगी।

यदि हम किसी व्यक्तिको प्रेमके साथ समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर नहीं ला सकते हैं तो समझना चाहिए कि इसमें हमारा ही कुछ खोट है, अभी हम अयोग्य हैं; और इसलिये हमें अपने उस खोट तथा अयोग्यताको मालूम करके उसके दूर करनेका सबसे पहले यत्न करना चाहिए। उसके दूर होते ही आप देखेंगे कि वह कैसे सन्मार्ग

पर नहीं आता है। जरूर आवेगा। सच्चे भावों, सच्चे हृदयसे निकले हुए वचनों और सच्चे आचरणोंका असर हुए बिना नहीं रह सकता। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें यों समझना चाहिए कि यदि हम देखते हैं कि हमारा एक भाई विदेशी कपड़ा पहनना और विदेशी कपड़ोंका व्यापार करना नहीं छोड़ता—उस पर आग्रह रखता है–अथवा सरकारको उसके अन्याय और अत्याचारोंमें किसी न किसी तौरपर (सेवामें रहकर या दूसरे तरीकोंसे) मदद दे रहा है तो, हमें उसको एक प्रकारसे पतित अथवा अनभिज्ञ समझना चाहिए—मार्ग भूला हुआ मानना चाहिए—और उसके उद्धारके लिये, उसे यथार्थ वस्तुस्थितिका ज्ञान कराने और ठीक मार्गपर लानेके वास्ते हर एक 'जायज़ (समुचित) तरीकेसे समझानेका यत्न करना चाहिए। और जब तक वह न समझे तब तक अपने भावों और आचरणोंमें त्रुटि समझकर—अपने ज्ञानको उस कामके लिये अपर्याप्त मानकर—आत्मशुद्धि और स्वज्ञान-वृद्धि आदिके द्वारा अपनी त्रुटियोंको दूर करते हुए बराबर उसको प्रेमके साथ समझाने और उसपर अपना असर डालनेकी कोशिश करते रहना चाहिए। एक दिन आवेगा जब वह जरूर समझ जायगा और सन्मार्गको ग्रहण करेगा। चुनाँचे ऐसा बराबर देखनेमें आ रहा है। जो भाई पहले विदेशी कपड़ेको नही छोड़ते थे वे आज खुशी-खुशी उसका त्याग कर रहे हैं।

परंतु जो लोग अपनी बात न माननेवाले भाइयों पर कुपित होते हैं, नाराज़गी ज़ाहिर करते हैं, उन्हें कठोर शब्द कहते हैं, धमकी देते हैं, उनके साथ बुरा सलूक करते हैं, उनका मज़ाक उड़ाते हैं, अपमान करते हैं बायकाट करके अथवा धरना देकर उन पर अनुचित दबाव डालते हैं, अनेक प्रकारकी ज़बरदस्ती और जब्रसे काम लेते हैं, और इस तरह दूसरोंकी स्वतंत्रताको हरण करके उन्हें उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करने या न करनेके लिये मजबूर करते

हैं, वे सख्त ग़लतीमें हैं और बहुत बड़ी भूल करते हैं। उनका यह सब व्यवहार (तर्ज़-तरीक़ा) स्वतंत्रताके इस संग्रामकी नीतिके बिल्कुल विरुद्ध है और हिंसाके रंगमें रंगा हुआ है। जान पड़ता है.ऐसे लोगोंने स्वतंत्रताके इस धर्म-युद्धका रहस्य नहीं समझा। वे अभी क्रोधादिक अन्तरंग-शत्रुओंसे पीड़ित हैं, उन्होंने अपने कषायोंको (जज़बातको) दमन नहीं किया, अपनी कमज़ोरियों पर काबू नहीं पाया, और इसलिये उन्हें निर्बल समझना चाहिए। ऐसे निर्बल और गुमराह (मार्ग भूले हुए) सैनिकोंसे स्वतंत्रताका यह मैदान नहीं लिया जा सकता। ऐसे लोग बहुधा कार्य-सिद्धिमें उलटे विघ्नस्वरूप हो जाते है। बम्बईका हंगामा (दंगा) और मोपलोंका उपद्रव ऐसे ही लोगोंकी कर्तूतोंके फल हैं। इसलिये यदि हम स्वराज्य चाहते हैं तो हमें अपनी और अपने भाइयोंकी इन त्रुटियों और कमजोरियोंको भी दूर करना चाहिए। इनके दूर हुए बिना हम बलवान नहीं हो सकते, न साधारण जनताकी सहानुभूतिको अपनी ओर खींच सकते हैं और न आगे ही बढ़ सकते हैं।

हमारा मुख्य कर्तव्य इस समय यही होना चाहिए कि हम विश्वप्रेमको अपनाएँ, उसे अपना मूल-मंत्र बनाएँ, सर्वत्र प्रेमकी ज्योति जगाएँ, जो कुछ काम करे उसमें ढोंग या पक्षपात न हो और जो काम दूसरोंसे कराएँ वह भी उसी प्रेमके आधार पर कराएँ— उसमें ज़रा भी जब्र, सख्ती या जबरदस्तीका नाम न हो। साथ ही, हमें स्वराज्यकी नीतिको, स्वराज्यसे होनेवाले लाभोंको, वर्तमान असहयोग आन्दोलनके असली मंशा व मानी (आशय तथा अर्थ) को और अहिंसाके गहरे तत्त्वको बहुत खुले शब्दोंमें समझाकर साधारण जनता पर प्रगट करना चाहिए, जिससे कोई भी शख्स किसी प्रकारके धोखेमें न रह सके। और अपने आचार-व्यवहारके द्वारा हमें पबलिकको इस बातका पूरा विश्वास दिलाना चाहिए कि उनकी वजहसे कोई भी भारतवासी—चाहें वह हिन्दू, मुसलमान'

अंगरेज, पारसी, ईसाई और यहूदी आदि कोई भी क्यों न हो—अपने जानमालको ज़रा भी खतरे (जोखों) में न समझे। हमें गुंडों बदमाशों तथा उपद्रवी लोगोंसे नफ़रत करके उन्हें बिल्कुल ही स्वतंत्र न छोड़ देना चाहिए, बल्कि उनसे मिलकर उन्हें सेवा-सुश्रूषा और सद्व्यवहारादिकके द्वारा अपने बनाकर काबूमें रखना चाहिए। और अपने असरमे उनके दुष्कर्मों तथा बुरी आदतोंको छुड़ा कर शांति-स्थापनके कार्यको और भी ज्यादा दृढ बनाना चाहिए, प्रत्येक नगर और ग्राममें ऐसा सुप्रबंध करना चाहिए जिससे कहीं कोई चोरी, डकैती अथवा लूटमार न हो सके, कोई बलवान किसी निर्बल-को न सता सके, आपसके झगड़े-टंटे सब पचायतों द्वारा तै (फ़ैसल) हुआ करे, सबका जान-माल सुरक्षित रहे और इस तरह पर लोगों-को स्वराज्यके आनंदका कुछ अनुभव होने लगे और वे यह समझने लगें कि, सरकारकी सहायताके बिना भी हम अपनी रक्षा आदिका प्रबंध स्वयं कर सकते हैं और उससे अच्छा कर सकते हैं।

लोकमतके इतना शुद्ध और कर्तव्यनिष्ठ होनेपर स्वतंत्रता-देवी अवश्य ही भारतके गलेमें वरमाला डालेगी इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है। अतः हम सबको मिलकर सच्चे हृदयसे इसके लिये प्रयत्न करना चाहिए। इस समय आपसके झगडे टंटों, मतभेदों और धार्मिक-विसं-वादोंका अवसर नहीं है। उन्हें भुलाकर प्रत्येक भारतवासीको देशके मामलेमें एक हो जाना चाहिए और देशके उद्धार-विषयक कामोंमें यथाशक्ति भाग लेना चाहिए। जो लोग अपनी किसी कमज़ोरीकी वजहसे ऐसे कामोंमें कुछ हिस्सा नहीं ले सकते और न अपनी कोई खास सेवा देशको अर्पण कर सकते है, उन्हें कमसे कम इस ओर अपनी सहानुभूति ही रखनी चाहिए और बिगाड़का तो ऐसा कोई भी काम उनकी तरफ़से न होना चाहिए जिससे देशके चलते हुए काममें रोड़ा अटक जाय। यदि उनका कोई इष्ट-मित्रादिक अथवा देशका प्यारा नेता देशके लिये, बिना कोई अपराध किये, जेल जाता

है तो उसे खुशीसे जाने दिया जाय। हाँ, यदि वे उससे सच्चा प्रेम रखते हैं तो उसके उस शुभ कामको संभाले और खुद उसको करना प्रारंभ करे, जिसको करते हुए वह महामना जेल गया है। और यदि करनेके लिये असमर्थ हैं तो कृपया उसके नाम पर हुल्लड़ मचाकर अथवा दंगा फ़िसाद करके व्यर्थ ही संसारकी शांतिको भंग न करें। उनकी इतनी भी सेवा स्वराज्य-प्राप्तिके इस महायज्ञके लिये काफ़ी होगी।

हालके समाचारोंसे हमें यह मालूम करके बहुत ही आनंद होता है कि देशने इस वक्त, जब कि गिरफ्तारियों और जेल-यात्राओंका समुद्र चारो ओरसे बेहद मौजे मारता हुआ उमड़ रहा है, बहुत ही धैर्य और शांतिसे काम लेकर अपनी साबितक़दमीका परिचय दिया है। और यह उसके लिये बहुत बड़े गौरवकी बात है और उसकी कामयाबीका एक अच्छा खासा सबूत है। यदि हमारे भाई कुछ दिनों तक और इसी तरह शांतिके साथ कष्टोंको सहन करते हुए निर्भय होकर अपने कार्यक्रमको बराबर आगे बढाते रहे तो सरकार-को निःसन्देह देशके सामने शीघ्र ही नतमस्तक होना पड़ेगा। प्यारे वीरो! और भारत-माताके सच्चे सपूतो!! घबराने की कोई बात नही है। महात्मा गाँधी जैसे सातिशय योगीका हाथ आपके सिर पर है। हिम्मत न हारना, कदम बराबर आगेको बढ़ता रहे; समझ लो 'यह शरीर नश्वर है, हमारी इच्छासे यह हमें प्राप्त नहीं हुआ और न हमारे रक्खे रह सकेगा। कुटुम्ब, परिवार और धनादिककी भी ऐसीही हालत है,उनका संयोग हमारी इच्छानुसार बना नही रहेगा। इसलिये इन सबके मोहमें पड़ कर आपको अपने कर्तव्यसे ज़रा भी विचलित न होना चाहिए। इस समय स्वराज्यका योग आ रहा है, स्वतंत्रतादेवी वरमाला हाथम लिये हुए खड़ी है, सिर्फ़ आपकी कुछ कठिन परीक्षा और बाकी है, उसके पूरा उतरते ही भारतके गलेमें वरमाला पड़ जायगी। आशा है, आप सब इस परीक्षाम जरूर पूरे उतरेंगे और अब भारतको पूर्ण स्वाधीन बनाकर ही छोडेंगे। इसीमें सब कुछ श्रेय और इसीमें देशका सारा कल्याण है।

१७

अपमान या अत्याचार ?

कल शुक्रवारको, कोई पहर रात गये खुली छतके मध्यमें शय्या पर लेटा हुआ, मैं स्त्रियोंकी पराधीनता और उनके साथ पुरुषजाति-ने जो अब तक सलूक किया है उसका गहरा विचार कर रहा था। एकाएक शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनके झोकोंने मुझे निद्रादेवीकी गोद-में पहुँचा दिया और इस तरह मेरा वह सूक्ष्म विचारचक्र कुछ देरके लिये बंद हो गया।

निद्रादेवीके आश्रयमें पहुँचते ही अच्छे अच्छे सुन्दर और सु-मनोहर स्वप्नोंने मुझे आ घेरा। उस स्वप्नावस्थामें मैं क्या देखता हूँ कि, एक प्रौढा स्त्री, जिसके चेहरेसे तेज छिटक रहा है और जो अपने रंग-रूप, वेष-भूषा तथा बोल-चालसे यह प्रकट कर रही है कि वह 'अखिल भारतीय महिला महासभा' के सभापतिके आसन पर आसीन होकर आ रही है, अपनी कुछ सखियोंके साथ मुझसे मिलनेके लिये आई। अभी कुशलप्रश्न भी पूरी तौरसे समाप्त नहीं हो पाया था कि उस महिलारत्नने एकदम बड़ी ही सतर्क-भाषामें मुझसे यह प्रश्न किया कि आप लोग स्त्रियोंसे घूँघट निकलवाते हो—उन्हें पर्दा करनेके लिये मजबूर करते हो—इसका क्या कारण है ?'

मैं इस विलक्षण प्रश्नको सुनकर कुछ चौंक उठा और उत्तर

सोचना ही चाहता था कि वह विदुषी स्त्री स्वतः ही बोल उठी—'या तो यह कहिये कि आप लोगोंका स्त्रियोंपर विश्वास नहीं है। आप यह समझते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषोंको देखकर कामबाणसे विकल हो जाती हैं, उनके मनमें विकार आजाता है और व्यभिचारकी ओर उनकी प्रवृत्ति होने लगती है। उसीकी रोकथामके लिये यह घूँघटकी प्रथा जारी की गई है। यदि ऐसा है तो यह स्त्री-जातिका घोर अपमान है। स्त्रियाँ स्वभावसे ही पापभीरु तथा लज्जाशील होती हैं, उनमें धार्मिक निष्ठा पुरुषोंसे प्रायः अधिक पाई जाती है। चित्त भी उनका सहज हीमें विकृत होनेवाला नहीं होता। उन्हें व्यभिचारादि कुमार्गोंकी ओर यदि कोई प्रवृत्त करता है तो वह प्रायः पुरुषोंकी स्वार्थपूर्ण चेष्टाएँ और उनकी विवेकशून्य क्रियाएँ तथा निरंकुश प्रवृत्तियाँ ही हैं, जिससे किसी भी विचारशील तथा न्यायप्रिय व्यक्तिको इनकार नहीं हो सकता। और अब तो प्रायः सभी विवेकी तथा निष्पक्ष विद्वान इस सत्यको स्वीकार करते जाते हैं। ऐसी हालतमें स्त्रियोंपर उपर्युक्त कलंकका लगाया जाना बिल्कुल ही निर्मूल प्रतीत होता है। और वह निर्मूलता और भी अधिकताके साथ सुदृढ तथा सुस्पष्ट हो जाती है जबकि भारत और भारतसे बाहरकी उन दक्षिणी.गुजराती, पारसी तथा जापानी आदि उच्च जातियोंके उदाहरणोंको सामने रक्खा जाता है जिनमें घूँघटकी प्रथा नहीं है और जिनकी स्त्रियोंके चरित्र बहुत कुछ उज्ज्वल तथा उदात्त पाये जाते हैं। आपका भी नित्य ही ऐसी कितनी ही स्त्रियोंसे साक्षात्कार होता है और वे खुले मुँह आपको देखती हैं। बतलाइये, उनमेंसे आज तक कितनी स्त्रियाँ आपपर अनुरक्त हुई और उन्होंने आपसे प्रेम-भिक्षाकी याचना की ? उत्तर 'कोई नहीं' के सिवाय और कुछ भी न होगा। आपने स्वतः ही दृष्टिपातके अवसर पर इस बातका अनुभव किया होगा कि उनमें कितना संकोच और कितनी लज्जाशीलता होती है। विकारकी रेखा तक उनके चेहरे पर नहीं आती। पर्दा उनकी आंखोंमें

ही समाया रहता है, जिस पर उन्हें स्वतंत्रताके साथ अधिकार होता है और वे यथेष्ट रीतिसे उक्त अधिकारका प्रयोग करती हैं। उन्हें कृत्रिम पर्देकी – उस बनावटी पर्देकी जिसमें लालसा भरी रहती है और जो चित्तको उद्विग्न तथा शंकातुर करनेवाला है-ज़रूरत ही नहीं रहती। और इसलिये यह कहना कि पुरुषोंको देखकर स्त्रियोंका मन स्वभाव से ही विकृत होजाता है-वे दुराचारकी ओर प्रवृत्ति करने लगती हैं-कोरी कल्पना और स्त्रीजातिकी अवहेलनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारकी बातोंसे स्त्रीजातिके शीलपर नितान्त मिथ्या आरोप होता है और उससे उसके अपमानकी सीमा नहीं रहती। साथ ही, इस बातकी भी कोई गारंटी नहीं है कि जो स्त्रियाँ पर्देमें रहती हैं वे सभी उज्ज्वल-चरित्रवाली होती हैं; ऐसी बहुतसी स्त्रियोंके बड़े ही काले चरित्र पाये गये हैं। अतः, घूँघटकी प्रथाको जारी रखनेके लिये उक्त हेतुमें कुछ भी सार अथवा दम नजर नहीं आता।'

जरासी देर रुककर और मेरे मुखकी ओर कुछ प्रतीक्षा-दृष्टिसे देखकर वह उदारचरिता फिर बोली—

'यदि आप ऐसा कहना नहीं चाहते और न उक्त हेतुका प्रयोग करना ही आपको इष्ट मालूम देता है तो क्या फिर आप यह कहना चाहते हैं कि—'पुरुषोंका मन स्त्रियोंको देखकर द्रवीभूत हो जाता है, पुरुष नवनीतके समान और स्त्रियाँ अंगारेके सदृश हैं—''अंगार-सदृशी नारी नवनीतसमा नराः''—अंगारोंके समीप जिस प्रकार घी पिघल जाता है उसी प्रकार स्त्रियोंके दर्शनसे पुरुषोंका मन चलायमान होजाता है विकृत हो उठता है। उसी मनोविकारको रोकनेके लिये—उसे उत्पन्न होनेका अवसर न देनेके लिये—ही यह घूँघट निकलवाया जाता है अथवा पर्दा कराया जाता है। यदि ऐसा है तो यह स्त्रियोंपर घोर अत्याचार है। स्त्रियोंको देखकर पुरुषोंकी यदि सचमुच ही लार टपक जाती है, उनमें इतना ही नैतिक बल है और वे इतनेही पुरुषार्थके धनी हैं कि अपनी प्रकृतिको स्थिर भी नहीं रख

सकते तो यह उन्हींका दोष है। उन्हें उसका परिमार्जन अपनेही मुँह पर बुर्का डालकर अथवा घूँघट निकालकर क्यों न करना चाहिये? यह कहाँका न्याय है कि अपराध तो करें पुरुष और सजा उसकी दी जाय स्त्रियोंको? यह तो 'अंधेर नगरी और चौपट राजा' वाली कहावत हुई – एक मोटा अपराधी यदि फाँसीकी रस्सीमें नहीं आता तो किसी पतले-दुबले निरपराधीको ही फाँसीपर लटका दिया जाय! कैसा विलक्षण न्याय है!! क्या स्त्रियोंको अबला और कमजोर समझकर ही उनके साथ यह सलूक (न्याय) किया गया है? और क्या न्यायसत्ता पानेका यही उपयोग है और यही मनुष्यका मनुष्यत्व है? मैं तो इसे मानव-जाति और उच्च संस्कृतिके लिये महान् कलंक समझती हूँ।'

'स्त्रियाँ पर्देमें रहनेकी वजहसे अपने स्वास्थ्य, अपनी, जानकारी अपनी संस्कृति और अपनी आत्मरक्षा वगैरहकी कितनी हानियाँ उठाती हैं, क्या इसका आपने कभी अनुभव नहीं किया? मैंने तो ऐसी सैकड़ों स्त्रियोंको देखा है जो घूँघट निकाले हुए अंधोंकी तरहसे चलती हैं, मार्गमें घोड़ा, गाड़ी, आदमी तथा दर-दीवार और वृक्षसे टकरा जाती हैं ईंट पत्थर लकड़ीसे ठोकर खाजाती हैं; मार्ग भूलकर इधर उधर भटकने लगती हैं; किसी आक्रमणकारीसे अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं; और इस तरह बहुत कुछ दु:ख उठाती हुई अपनी उस घूँघटकी प्रथा पर खेद प्रकट करती हैं। उन्हें यह भी मालूम नहीं होता कि संसारमें क्या हो रहा है और देश तथा राष्ट्रके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है। वे प्राय: मकानकी चारदीवारीमें बन्द रह कर उच्च संस्कारोंके विकासके अवसरसे वंचित रह जाती हैं, इतना ही नहीं बल्कि अपने स्वास्थ्यको भी खो बैठती हैं। ऐसी स्त्रियाँ अपनी संतानका यथेष्ट रीतिसे पालन-पोषण भी नहीं कर सकतीं और न उसे ठीक तौरसे शिक्षित ही बना सकती हैं। मैं तो जेलखानेके एक आजन्म कैदीकी और उनकी हालतमें कुछ भी अन्तर नहीं देखती।

'यह सब कितना अत्याचार है! विना अपराध ही स्त्रियाँ ये सब दुःख कष्ट तथा हानियाँ उठाती हैं और अपने मनुष्योचित अधिकारों तथा लाभोंसे वंचित रक्खी जाती हैं, इस अन्याय और अंधेरका भी कहीं कुछ ठिकाना है !! अब बतलाइये दोनोंमेंसे आप अपनी इस मनहूस प्रथाका कौनसा कारण ठहराते हैं ? पहला कारण बतलाकर व्यर्थ ही स्त्रीजातिका अपमान करना चाहते हैं या दूसरे कारणको मानकर स्त्रियोंपर अपने अत्याचारोंको स्वीकार करते हैं ? दोनोंमेंसे कोई एक कारण जरूर मानना और बतलाना पड़ेगा अथवा दोनोंको ही स्वीकार करना होगा। परंतु वह कारण चाहे कोई हो, पुरुषोंके लिये यह बात कलंककी, लज्जाकी और सभ्यसंसारमें उनके गौरवको घटानेवाली जरूर है कि उन्हें प्रकृति तथा न्याय-नियमोंके विरुद्ध अपनी स्त्रियोंको पर्देमें रखना पड़ता है।'

मैं उस वीरांगनाके इस दिव्यभाषणको सुनकर दंग रह गया और मुझसे उस वक्त यही कहते बना कि, जरा सोचकर आपके प्रश्न-का समुचित उत्तर फिर निवेदन करूँगा।

मेरा इतना कहना ही था कि, आकाशमें मेघोंकी गर्जना और वर्षाकी कुछ बूंदोंने मेरा वह स्वप्न भंग कर दिया और मैं अपनेको पूर्ववत् शय्या पर लेटा हुआ ही अनुभव करने लगा। परन्तु अभी कुछ मिनिट पहले जो अद्भुत दृश्य देखा था और जो दिव्य भाषण सुना था उसकी याद चित्तको बेचैन किये देती थी कि या तो इसे स्त्रीजातिका अपमान कहना चाहिये और या यह कहना चाहिये कि वह स्त्रियों पर पुरुषोंका अत्याचार है। अथवा यों कहना होगा कि उसमें दोनोंका ही अपमान और अत्याचारका—सम्मिश्रण है। विचारोंकी इसी उधेड़बुनमें सबेरा हो गया और मैं अपना स्वप्न-समाचार दूसरोंको सुनाने लगा।

संभव है कि पाठकोंमेंसे भी कुछ महानुभाव उस दिव्य-स्त्रीके प्रश्न पर अच्छा विचार कर सकें और उत्तरमें तीसरे ही किसी निर्दोष

हेतुका विधान कर सकें। इसीलिये स्वप्नकी यह संपूर्ण घटना आज पाठकोंके सामने रक्खी जाती है। विद्वानोंको चाहिये कि वे इस पर गहरा विचार करके अपने अपने विचार-फलको युक्तिके साथ प्रगट करें। यदि उन्हें भी उक्त प्रथाकी उपयुक्तता मालूम न दे और वे उसे जारी रखनेमें पुरुषोंका ही दोष अनुभव करें तो उनका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे पुरुषजातिको इस कलंक तथा पापसे मुक्त कराने-का भरसक प्रयत्न करें[१]।

१ यह स्वप्न मुझे आजसे कोई २८ वर्ष पहले नानौता (जि० सहारनपुर) में आया था और आनेके बाद ही १ मई सन् १९२४ को वर्तमान रूपमें लिख लिया गया था। एक-दो पत्रोंमे उस समय इसे प्रकाशित भी किया था; जैसे जुलाई सन् १९२४ के 'परवारबन्धु' में।

१८

जातिभेद पर अमितगति आचार्य

जैनसमाजमें 'अमितगति' नामके एक प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। इनके बनाये हुए उपासकाचार, सुभाषितरत्नसंदोह और धर्म-परीक्षा आदि कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं और वे सब आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। ये आचार्य आजसे कोई ६५० वर्ष पहले—विक्रमकी ११वीं शताब्दीमें—राजा मुंजके समयमें हुए हैं और इन्होंने धर्म-परीक्षा ग्रन्थको विक्रम संवत् १०७० में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रन्थके १७वें परिच्छेदमें आपने जातिभेद पर कुछ महत्वके विचार प्रकट किये हैं, जो सर्व साधारणके जानने योग्य हैं। अतः नीचे पाठकोंको उन्हींका कुछ परिचय कराया जाता है :—

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः।
सत्यशौचतपःशीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥ २३ ॥

'जो लोग सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्यायसे रहित हैं उन्हें जातिमात्रसे—महज़ किसी ऊँची जातिमें जन्म लेलेनेसे—धर्मका कोई लाभ नहीं हो सकता।'

भावार्थ—धर्मका किसी जातिके साथ कोई अविनाभावी संबंध नहीं है, किसी उच्च जातिमें जन्म लेलेनेसे ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता। अथवा यों कहिये कि सत्य-शौचादिकसे रहित व्यक्तियोंको उनकी उच्च जाति धर्मकी प्राप्ति नहीं करा सकती। प्रत्युत इसके,

जो सत्य, शौचादि गुणोंसे विशिष्ट हैं वे हीन जातिमें उत्पन्न होने पर भी धर्मका लाभ प्राप्त कर सकते हैं और इसलिये जो लोग किसी उच्च कहलानेवाली जातिमें उत्पन्न-होकर सत्य-शौचादि धर्मों-का अनुष्ठान न करते हुए भी अपनेको ऊँचा, धर्मात्मा, धर्माधिकारी या धर्मका ठेकेदार समझते हैं और अपनेसे भिन्न जातिवालोंका तिरस्कार करते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है।

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेद-कल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ।।२४।।

'जातियोंकी जो यह ब्राह्मण-क्षत्रियादि रूपसे भेदकल्पना है वह आचारमात्रके भेदसे है—वास्तविक नहीं। वास्तविक दृष्टिसे कहीं भी कोई नियता—शाश्वती—ब्राह्मण जाति नहीं है। (इसी तरह क्षत्रिय आदि जातियाँ भी तात्त्विक और शाश्वती नहीं हैं।)'

भावार्थ—ये मूल जातियां भी (अग्रवाल खंडेलवाल आदि उप-जातियोंकी तो बात ही क्या) गौ-अश्वादि जातियोंकी तरह वास्त-विक नहीं हैं; किन्तु काल्पनिक हैं और उनकी यह कल्पना आचार-मात्रके भेदसे की गई है। अतः जिस जातिका जो आचार है उसे जो नहीं पालता वह उस जातिका व्यक्ति नहीं—उसकी गणना उस जातिके व्यक्तियोंमें की जानी चाहिये जिसके आचारका वह पालन करता है। ऐसी दशामें ऊँची जातिवाले नीच और नीची जातिवाले उच्च हो जानेके अधिकारी हैं। इसीसे भीलों तथा म्लेच्छों आदिकी जो कन्याएँ उच्च जातिवालोंसे विवाही गईं वे आचारके बदल जाने-से उच्च जातिमें परिणत होकर उच्चत्वको प्राप्त हो गईं, और उनके कितने ही उदाहरण 'विवाहक्षेत्र-प्रकाश'में दिये गये हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते ।। २५ ।।

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारोंकी वास्तवमें एक ही मनुष्य जाति है, वही आचारके भेदसे भेदको प्राप्त हो गई हैं—जो

भेद अतात्त्विक है।

भावार्थ—सब मनुष्य मनुष्यजातिकी अपेक्षा समान हैं—एक ही तात्त्विक जातिके अंग हैं—और आचार अथवा वृत्तिके बदल जाने पर एक अतात्त्विक जातिका व्यक्ति दूसरी अतात्त्विक जातिका व्यक्ति बन सकता है। अतः एक जातिके व्यक्तिको दूसरी जातिके व्यक्तिसे कभी घृणा नहीं करनी चाहिये और न अपनेको ऊँचा तथा दूसरेको नीचा ही समझना चाहिये। ऊँच-नीचकी दृष्टिसे यह भेद-कल्पना ही नहीं है।

भेदे जायेत विप्रायां क्षत्रियो न कथंचन।
शालिजातौ मया दृष्टः कोद्रवस्य न संभवः ॥ २६ ॥

'यदि इन ब्राह्मणादि जातियोंके भेदको तात्त्विक भेद माना जाय तो एक ब्राह्मणीसे कभी क्षत्रिय-पुत्र पैदा नहीं हो सकता; क्योंकि चावलोंकी जातिमें मैंने कभी कोदोंको उत्पन्न होते हुए नहीं देखा।'

भावार्थ—इन जातियोंमें चावल और कोदों-जैसा तात्त्विक भेद मानने पर एक जातिकी स्त्रीसे दूसरी जातिका पुत्र कभी पैदा नहीं हो सकता—ब्राह्मणीके गर्भसे क्षत्रिय-पुत्रका और क्षत्रियाके गर्भसे वैश्य अथवा ब्राह्मण-पुत्रका उत्पाद नहीं बन सकता। परन्तु ऐसा नहीं है, ब्राह्मणोंमें अथवा ब्राह्मणियोंके गर्भसे कितने ही वीर-क्षत्रिय पैदा हुए हैं और क्षत्रियोंमें अथवा क्षत्राणियोंके गर्भसे अनेक वैश्य-पुत्रोंका उद्भव हुआ है जिनके उदाहरणोंसे शास्त्र भरे हुए हैं और प्रत्यक्षमें भी ऐसे दृष्टान्तोंकी कमी नहीं है। अग्रवाल जो किसी समय क्षत्रिय थे वे आज प्रायः वैश्य बने हुए हैं। ऐसी हालतमें यह सुनिश्चित है कि इन जातियोंमें कोई तात्त्विक अथवा प्राकृतिक भेद नहीं है—सबकी एक ही मनुष्य जाति है। उसीको प्रधानतः लक्ष्यमें रखना चाहिये।

ब्राह्मणोऽवाचि विप्रेण पवित्राचारधारिणा।
विप्रायां शुद्धशीलायां जनिता नेदमुत्तरम् ॥२७॥

न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता।
कालेनाऽनादिना गोत्रे स्खलनं क्व न जायते ॥ २८ ॥

'यदि यह कहा जाय कि पवित्राचारधारी ब्राह्मणके द्वारा शुद्ध-शीला ब्राह्मणीके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है उसे ब्राह्मण कहा गया है—तुम ब्राह्मणाचारके धरनेवालेको ही ब्राह्मण क्यों कहते हो ?—तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि यह मान लेनेके लिये कोई कारण नहीं है कि उन ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनोंमें सदा कालसे शुद्धशीलताका अस्तित्व (अक्षुण्णरूपसे) चला आता है। अनादि-कालसे चली आई हुई गोत्रसन्ततिमें कहाँ स्खलन नहीं होता ?—कहाँ दोष नहीं लगता ?—लगता ही है।

भावार्थ—इन दोनों श्लोकोंमें आचार्यमहोदयने जन्मसे जाति माननेवालोंकी बातको निःसार प्रतिपादन किया है—जन्मसे जाती-यताके एकांतपक्षपाती जिस रक्तशुद्धिके द्वारा जाति,कुल अथवा गोत्र-शुद्धिकी डुगडुगी पीटा करते हैं उसीकी निःसारताको घोषित किया है और यह बतलाया है कि वह अनादि प्रवाहमेंबन ही नहीं सकती—बिना किसी मिलावटके अक्षुण्ण रह ही नहीं सकती। इन पद्योंमें कामदेवकी दुर्निवारता और उससे उत्पन्न होनेवाली विकारताका वह सब आशय संनिहित जान पड़ता है जिसे पं०आशाधरजीने,कुल-जाति-विषयक अहंकृतिको मिथ्या, आत्मपतनका हेतु और नीच गोत्रके बन्धका कारण ठहराते हुए, अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञटीकामें प्रकट किया है[1] और जिसका उल्लेख लेखक-द्वारा 'विवाहक्षेत्र-प्रकाश'[2] के 'असवर्ण और अन्तर्जातीय

---

१. पं० आशाधरजीके उस कथनका एक वाक्य इस प्रकार है:—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे।
कुले च कामिनीमूले का जाति-परिकल्पना ॥

२. यह १७५ पृष्ठकी पुस्तक ला० जौहरीमलजी जैन सराफ़, दरीबा कलाँ देहली ने प्रकाशित की है।

विवाह' नामक प्रकरणमें किया गया है। गोत्रोंमें अन्य प्रकारसे कैसे स्खलन होता है, उनकी धारा कैसे पलट जाती है और वे कैसी विचित्र स्थितिको लिये हुए हैं, इस बातको सविशेष रूपसे जाननेके लिये विवाहक्षेत्रप्रकाशका 'गोत्रस्थिति और सगोत्रविवाह' नामका प्रकरण देखना चाहिये।

संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती सताम् ॥२६॥

'सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें वह जाति ही बड़ी अथवा ऊँची है जिसमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम (इन्द्रियादिनिग्रह) और दया ये गुण वास्तविक रूपसे विद्यमान होते हैं—बनावटी रूपसे नहीं।'

भावार्थ—इन गुणोंका यथार्थमें अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तियोंके समूहको ही ऊँची जाति कहते हैं। और इसलिये जो व्यक्ति सचाई-के साथ इन धर्मगुणोंका पालन करता है उसे ऊँची जातिका अंग समझना चाहिये—भले ही वह नीच कहलानेवाली जातिमें ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो। उपर्युक्त गुण ऐसे हैं जिन्हें सभी जातियोंके व्यक्ति धारण कर सकते हैं और वे धारण करनेवाले व्यक्ति ही उस महती जातिका निर्माण करते हैं जो आचार्यमहोदयकी कल्पनामें स्थित है।

दृष्टा योजनगन्धादि प्रसूतानां तपस्विनाम्।
व्यासादीनां महापूजा तपसि क्रियतां मतिः ॥३०॥

(धीवरादि नीच जातियोंकी) योजनगंधादि स्त्रियोंसे उत्पन्न व्यासादिक तपस्वियोंकी लोकमें महापूजा देखी जाती है—यह सब तप-संयमादि गुणोंका ही माहात्म्य है। अतः तप संयमादि गुणोंकी प्राप्तिका ही यत्न करना चाहिये—उससे जाति स्वयं ऊँची उठ जायगी।

भावार्थ—नीच जातिकी स्त्रियोंसे उत्पन्न व्यक्ति यदि नीच जातिके ही रहते और नीच ही समझे जाते तो व्यासजी जैसे तपस्वी,

जो कि एक धीवर-कन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुए थे, लोकमें कभी इतनी पूजा और प्रतिष्ठाको प्राप्त न कर सकते। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि नीच जातिके व्यक्ति भी सद्गुणोंके प्रभावसे ऊँच जाति-के हो जाते हैं। अथवा यों कहिये कि नीच जातियोंमें भी अच्छे-अच्छे रत्न उत्पन्न होते हैं और हो सकते हैं। इसलिये उनकी उपेक्षा की जानी योग्य नहीं—उन्हें ऊँचे उठानेका यत्न करना चाहिये।

शीलवन्तो गताः स्वर्गे नीचजातिभवा अपि।
कुलीना नरकं प्राप्ताः शील-संयम-नाशिनः ॥३१॥

'नीच जातियोंमें उत्पन्न होने पर भी सदाचारी व्यक्ति स्वर्गको प्राप्त हुए हैं और ऊँच जातियोंमें जन्म लेनेवाले असदाचारी—शीलसंयमादिसे रहित—कुलीन लोग भी नरकमें गये हैं।'

भावार्थ—ऊँच जातिवाले जब नीच गतिको और नीच जाति-वाले ऊँची गतिको प्राप्त हुए हैं—और हो सकते हैं—तब वास्तवमें इन ऊँच-नीच गिनी जानेवाली जातियोंका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। उच्चत्व और नीचत्वका अथवा अपने उत्कर्ष और अपकर्षका सारा खेल गुणोंके ऊपर अवलम्बित है। अतः सद्गुणोंकी प्राप्ति करने-करानेका ही यत्न होना चाहिये। उनकी प्राप्तिमें वस्तुतः कोई नीच कही जाने वाली जाति बाधक नहीं है।

गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः ॥३२॥
जातिमात्रमदः कार्यो न नीचत्वप्रवेशकः।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शीलसमादरः ॥३३॥

'उत्तम गुणोंसे ही उत्तम जाति बनती है और उत्तम गुणोंके नाशसे वह जाति नष्ट हो जाती है—नीचत्वको प्राप्त हो जाती है। इसलिये बुद्धिमानोंको सबसे अधिक गुणोंका ही आदर करना चाहिये (बाह्य जाति पर दृष्टि रखकर या उसके भुलावेमें भूलकर उसीको सब कुछ न समझ लेना चाहिये)। साथ ही, अपनी जातिका कभी

मद नहीं करना चाहिये।(अपनी जातिको ऊँचा और दूसरेकी जाति को नीचा समझने रूप) यह मद आत्मामें नीचत्वका प्रवेश कराने- वाला है—उसे नीचे गिरानेवाला अथवा नीच बनानेवाला है । उच्चत्वका देनेवाला—आत्माको ऊपर उठानेवाला—शीलसंयमादि गुणोंके प्रति आदरभाव है—भले ही उन गुणोंका प्रादुर्भाव किसी नीच जातिके व्यक्तिमें ही क्यों न हुआ हो—और इसलिये सत्पुरुषों- को उसी आदरभावसे काम लेना चाहिये—जातिभेदके चक्करमें पड़ कर गुणियों अथवा गुणोंका तिरस्कार नहीं कर देना चहिये।'

भावार्थ—इन ब्राह्मणादिक जातियोंका बनना और बिगड़ना सब गुणोंपर ही मुख्य आधार रखता है—उनका मूल जन्म नहीं किन्तु गुणसमुदाय है। गुणोंके आविर्भावसे एक नीच जातिवाला ऊँच जाति- का और गुणोंके अभावसे एक ऊँच जातिवाला नीचजातिका व्यक्ति बन जाता है। किसीकी जाति अटल या शाश्वती नहीं है—अटल है तो एक मनुष्यजाति है, जो जीवनभर तक छूट नहीं सकती,उसी पर पूरा लक्ष्य रखना चाहिये। इसीलिये महज जन्मकी वजहसे दूसरोंके व्यक्तित्वका तिरस्कार करना उचित नहीं—उचित है दूसरोंके गुणों- का आदर करना, उनके गुणोंके आविर्भावकी भावना रखना और उसका सब ओर से प्रयत्न करना,यही दोनोंके लिये उत्कर्षका साधक है। इसीसे आचार्यमहोदय ग्रन्थके अन्तिम भागमें लिखते हैं :—

यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ पटिष्ठो
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ वरिष्ठः।
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ कुलीनो
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ न दीनः ॥७७॥

'जो मनुष्य सम्यक्त्व गुणका धारक है वह अत्यन्त चतुर है, श्रेष्ठ है, कुलीन है और अदीन है।'

भावार्थ—जैनधर्मके अनुसार नीचसे नीच जातिका मनुष्य भी सम्यक्त्वगुणका धारण कर सकता है—एक चाण्डालका पुत्र भी

सम्यग्दृष्टि हो सकता है। स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार-में ऐसे चाण्डाल-पुत्रको 'देव' लिखा है—आराध्य[1] बतलाया है। अतः ऐसे सम्यग्दर्शनप्राप्त नीच जातिके पुरुषोंको भी अमितगति आचार्य श्रेष्ठ, कुलीन और अदीन लिखते हैं। यह है गुणोंका आदर-भाव, गुणोंके आविर्भावकी सद्भावना और सत्प्रेरणा।

आचार्यमहोदयके इन सब उद्गारों पर अधिक टीकाटिप्पणीकी ज़रूरत नहीं। वे इन जातिभेदोंको किस दृष्टिसे देखते थे और उन्हें क्या महत्त्व देते थे, यह सब ऊपरके कथनोंसे बिल्कुल स्पष्ट है। और इसलिये जो लोग समानवर्ण, समानधर्म, और समानगुण-शीलवाली उपजातियोंमें भी अनुचित भेदभावकी कल्पना किये हुए हैं—परस्परमें रोटी-बेटीका सम्बन्ध एक करते हुए हिचकिचाते हैं—उन्हें आचार्यमहाराजके इन उद्गारोंसे ज़रूर कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उस कदाग्रहको छोड़ देना चहिये जो धर्म तथा समाजकी उन्नतिमें बाधक है। जो लोग कदाग्रहको छोड़ कर अन्त-र्जातीय विवाह करने लगे हैं उनकी यह उदार तथा विवेक-परिणति निःसन्देह प्रशंसनीय और अभिनंदनीय है।

---

१. यह 'देव' का 'आराध्य' अर्थ प्रभाचन्द आचार्यने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी टीकामें दिया है।

१६

गोत्र-स्थिति और सगोत्र-विवाह

जैनसिद्धान्तमें—जैनियोंकी कर्मफिलोसोफीमें—'गोत्र' नामका भी एक कर्म है और उसके ऊँच, नीच ऐसे कुल दो ही भेद किये हैं। गोम्मटसार ग्रन्थमें बतलाया है कि सन्तान'-क्रमसे चले आए जीवोंके आचरण-विशेषका नाम गोत्र' है। वह आचरण ऊँचा और नीचा दो प्रकारका होनेसे गोत्रके भी सिर्फ दो भेद है, एक उच्चगोत्र और दूसरा नीचगोत्र। यथाः—

संतानकमेणागय जोवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्च णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥

परन्तु आजकल जैनियोंमें जो सैकड़ों गोत्र प्रचलित हैं—उनकी ८४ जातियोंमें प्रायः सभी जातियाँ, समान आचरण होते हुए भी, कुछ न कुछ गोत्र-संख्याको लिये हुए हैं· वे सब गोत्र उक्त सिद्धान्त-प्रतिपादित गोत्र-कथनसे भिन्न हैं, उनमें 'उच्च और 'नीच' नामके कोई गोत्र हैं भी नहीं, और न किसी गोत्रके भाई ऊँच अथवा नीच समझे जाते हैं। इन गोत्रोंके इतिहास पर जब दृष्टि डाली जाती है तो वह बड़ा ही विचित्र मालूम होता है और उससे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि ये सब गोत्र कोई अनादिनिधन नहीं हैं—वे भिन्न-भिन्न समयोंपर भिन्न भिन्न कारणोंको पाकर उत्पन्न हुए और इसी तरह कारण-विशेषको पाकर किसी न किसी समय

नष्ट हो जानेवाले हैं। अनेक गोत्र केवल ऋषियोंके नामों पर प्रतिष्ठित हुए, कितने ही गोत्र सिर्फ नगर-ग्रामादिकोंके नामों पर रक्खे गये और बहुतसे गोत्र वंशके किसी प्रधानपुरुष, व्यापार, पेशा अथवा किसी घटनाविशेषको लेकर ही उत्पन्न हुए हैं। और इन सब गोत्रोंकी उत्पत्ति या नामकरणसे पहले पिछले गोत्र नष्ट हो गये यह स्वतःसिद्ध है—अथवा यों कहिये कि जिन जिन लोगोंने नवीन गोत्र धारण किये उनमें और उनकी संततिमें पिछले गोत्रोंका प्रचार नहीं रहा। यहाँ पर इन गोत्रोंकी कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताका कुछ दिग्दर्शन करा देना उचित मालूम होता है और उसके लिये अग्रवाल खंडेलवाल तथा ओसवाल जातियोंके गोत्रोंको उदाहरणके तौरपर लिया जाता है। इस दिग्दर्शन परसे पाठकोंको यह समझनेमें आसानी होगी और वे इस बातका अच्छा निर्धार कर सकेंगे कि आजकल इन गोत्रोंको जो महत्त्व दिया जाता है अथवा विवाह-शादीके अवसरों पर इनका जो आग्रह किया जाता है वह कहाँ तक उचित तथा मान्य किये जानेके योग्य है:—

(१) अग्रवाल जातिके इतिहाससे मालूम होता है कि अग्रवाल-वंशके आदिपुरुष राजा अग्रसेन थे। वे जिस गोत्रके व्यक्ति थे वही एक गोत्र, आजकलकी दृष्टिमें, उनकी संततिका—सम्पूर्ण अग्रवालों-का—होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। अग्रवाल जातिमें आज १८ गोत्र प्रचलित हैं और ये गोत्र राजा अग्रसेनके अठारह पुत्रों-द्वारा धारण किये हुये गोत्र हैं, जिनकी कल्पना उन्होंने अपनी संततिके विवाह-संकटको दूर करनेके लिये की थी। इनमेंसे गर्ग आदि अधिकांश गोत्रोंका नामकरण तो उन गर्गादि ऋषियोंके नामों पर हुआ है जो पुष्पदेवादि राजकुमारोंके अलग अलग विद्यागुरु थे और बाकीके वृन्दल, जैत्रल (जिंदल) आदि कुछ गोत्र वृन्ददेवादि राज-कुमारोंके नामों परसे ही निर्धारित किये गये अथवा प्रचलित हुए जान पड़ते हैं। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि राजा अग्रसेनका गोत्र

उनके साथ ही समाप्त हो गया था—वह उनकी संततिमें प्रचलित नहीं रहा—और १८ नये गोत्रोंकी सृष्टि भी हो सकी। साथ ही, यह बतलानेकी कोई ज़रूरत नही रहती कि पहले जमानेमें पिताके गोत्रको छोड़कर नये गोत्र भी धारण किये जा सकते थे और इस नई गोत्र-कल्पनाके अनुसार अपने विवाह-क्षेत्रको विस्तीर्ण बनाया जा सकता था। यदि अग्रवालोंकी इस पिछली गोत्र-कल्पनाको हटा दिया जाय तो, राजा अग्रसेनकी दृष्टिसे, सब अग्रवाल एकगोत्री हैं और वे परस्पर—अग्रवालोंमें ही—विवाह करके सगोत्र-विवाह कर रहे हैं यह कहना चाहिये।

(२) खंडेलवाल जातिके जैन इतिहाससे पता चलता है कि एक समय राजा खंडेलगिरकी राजधानी खंडेलानगर और उसके शासनाधीन ८३ ग्रामोंमें महामारीका बड़ा प्रकोप हुआ और वहाँ नरमेध यज्ञ तक कर देने पर भी शांत न हुआ, बहुत कुछ हानि पहुँचाकर, अन्तको श्रीजिनसेनस्वामीके प्रभावसे शांत हुआ। इस अतिशयको देख कर ८४ ग्रामोंके राजा-प्रजा सभी जन जैनी हो गये और श्रीजिनसेनस्वामीने उनके ८४ गोत्र नियत किये। गोत्रोंमें 'सहा' गोत्रको छोड़कर, जो खंडेलानगरके निवासियों तथा राजकुलके लिये नियत किया गया था, शेष ८३ गोत्रोंका नामकरण ग्रामोंके नामों पर हुआ—अर्थात् एक एक ग्रामके रहनेवाले सभी जैनियोंका एक एक गोत्र स्थापित किया गया। जैसे पाटनके रहनेवालोंका गोत्र 'पाटनी', अजमेरके रहनेवालोंका 'अजमेरा', बाकली ग्रामके निवासियोंका 'बाकलीवाल' और कासली गाँवके निवासियोंका गोत्र कासलीवाल नियत हुआ। इन गोत्रोंमें सोनी, लुहाड्या, चौधरी आदि कुछ गोत्रोंके विषयमें विद्वानोंका यह भी मत है कि वे व्यापार, पेशा या पदस्थकी दृष्टिसे रक्खे हुए नाम हैं—सोनेका व्यापार तथा काम करनेवाले 'सोनी', लोहेका व्यापार तथा काम करनेवाले 'लुहाड्या' और चौधरीके पद पर प्रतिष्ठित 'चौधरी' कहलाये। परन्तु कुछ

भी सही, इतना तो स्पष्ट है कि इन सब लोगोंके पुराने गोत्र कायम नहीं रहे और ८४ नये गोत्रोंकी सृष्टि हुई। एक गोत्रके लोग प्रायः अनेक ग्रामोंमें रहते हैं और एक ग्राममें अवसर अनेक गोत्रोंके लोग रहा करते है। जब गोत्रोंका नामकरण ग्रामोंके नामों पर हुआ एक ग्राम-के रहनेवाले जैनियोंका एक गोत्र कायम किया गया और अपने अपने उस गोत्रको छोड़कर खंडेलवाल लोग दूसरे गोत्रमें विवाह-सम्बन्ध करते हैं[1] तब उनके पिछले गोत्रोंकी दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि वे सगोत्र-विवाह भी करते हैं; क्योंकि यह प्रायः असंभव है कि उन सब नगर-ग्रामोंमें पहलेसे एक-दूसरेसे भिन्न अलग अलग गोत्र-के ही लोग निवास करते हों। राजमलजी बडजात्याने खंडेलवाल जैनोंका जो इतिहास लिखा है उससे तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि कितने ही वंशोंके लोग अनेक ग्रामोंमें रहते थे, जैसे चौहान वंश-के लोग खंडेलानगर, पापडी. भैंसा, दरड्यो, गदयो, पहाडी, पांडसी, छावडा, पांगुल्यो, भूलाणी, पीतल्यो, बनमाल, अरडक, चिरडकी, साँभर और चोवण्यमें रहते थे। इन नगर ग्रामोंके निवासियोंके लिये क्रमशः सहा, पापडीवाल भैसा (बडजात्या), दरड्यो, गदैया, पहाड्या, छावडा, पांगुल्या, भूलण्या. पीतल्या, बनमाली; अर्डक, चिरडक्या, सांभर्या और चौवाण्या गोत्रोंकी सृष्टि की गई। इन गोत्रोंके खंडेलवाल क्या आपसमें विवाह-सम्बंध नहीं करते? यदि करते हैं तो चौहानवंशके मूलगोत्रकी दृष्टिसे कहना होगा कि वे एक

---

१. यह दूसरी बात है कि कुछ रिश्तेदारोंके गोत्र भी टाले जाते हैं। परन्तु उससे किसी खास नामके गोत्रोंका नियमित रूपसे टाला जाना लाजिमी नहीं आता। हो सकता है कि एक विवाहके अवसर पर किसी रिश्तेदारका जो गोत्र टाला गया वह कालान्तरमें न टाला जाय अथवा उसी गोत्रमें कोई दूसरा विवाह भी कर लिया जाय; क्योंकि रिश्तेदारीकी वह स्थिति उत्तरोत्तर संततिमें बदलती रहती है।

ही गोत्रमें विवाह करते हैं अथवा यों कहिये कि पिछली गोत्रकल्पनाको निकाल देने पर उनके वे विवाह सगोत्रविवाह ठहरते हैं। दूसरे गोत्रोंकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है। इसके सिवाय, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि पहले एक नगर-ग्रामके निवासी आपसमें विवाह-सम्बंध नहीं किया करते थे। और यदि कहीं ऐसा होता भी हो तो आजकल जब वह प्रथा नहीं रही और एक ही नगर-ग्रामके निवासी खंडेलवाल परस्परमें विवाह कर लेते हैं तब उनके लिये एक ही नगर-ग्रामके निवासियोंसे बने हुए अपने एक गोत्रमें विवाह-सम्बंध कर लेने पर सिद्धान्तकी दृष्टिसे कौन बाधा आती है अथवा उसका न करना कहाँ तक युक्तियुक्त हो सकता है, इसका विचार पाठकजन स्वयं कर सकते हैं।

(३) 'जैनसम्प्रदायशिक्षा[1]' में यति श्रीपालचन्द्रजीने ओसवाल वंशकी उत्पत्तिका जो इतिहास दिया है उससे मालूम होता है कि रत्नप्रभसूरि ने, 'महाजन वंश' की स्थापना करते हुए, 'तातहड' आदि अठारह गोत्र और 'सुघड' आदि बहुतसे नये गोत्र स्थापित किये थे। और उनके पीछे वि० सं० सोलहसौ तक बहुतसे जैनाचार्योंने राजपूत, महेश्वरी, वैश्य और ब्राह्मण जातिवालोंको प्रतिबोध देकर—उन्हें जैनी बना कर - महाजन वंशका विस्तार किया और उन लोगोंमें अनेक नये गोत्रोंकी स्थापना की। इन सब गोत्रोंका यतिजीने जो इतिहास दिया है और जिसे प्रामाणिक तथा अत्यन्त खोजके बाद लिखा हुआ इतिहास प्रकट किया है उसमेंसे कुछ गोत्रोंके इतिहासका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

१ कुकुडचोपडा आदि गोत्र—जिनवल्लभसूरि (वि०सं०११५२)ने मंडोरके राजा 'नानुदे' पडिहारके पुत्र धवलचंद्रके गलितकुष्ठको कुकडी गायके घीको मंत्रित करके तीन दिन चुपडवाने द्वारा नीरोग

---

१. यह पुस्तक वि० सं० १९६७ में बम्बईसे प्रकाशित हुई है।

किया। इससे राजाने कुटुम्ब-सहित जैनधर्म ग्रहण किया और सूरि-जीने उसका महाजन वंश तथा 'कुकडचोपडा' गोत्र स्थापित किया। मंत्रीने भी धर्म ग्रहण किया और उसका गोत्र 'गणधर चोपडा' नियत किया गया। कुकडचोपडा गोत्रकी बादको चार शाखाएँ हुईं जिनमें से एक 'कोठारी' शाखा भी है जो इस वंशके एक 'ठाकरसी' नामक व्यक्तिसे प्रारम्भ हुई। ठाकरसीको राव चुंडेने अपना कोठारी नियत किया था तभीसे ठाकरसीकी संतानवाले 'कोठारी' कहलाने लगे।

२. धाडीवाल गोत्र- डींडो नामक एक खींची राजपूत धाड़ा मारता था। उसको वि० सं० ११५५ में जिनवल्लभसूरिने प्रतिबोध देकर उसका महाजन वंश और 'धाडीवाल' गोत्र स्थापित किया।

३. लालाणी आदि गोत्र -- लालसिंहको जिनवल्लभसूरिने प्रति-बोध देकर उसका 'लालाणी' गोत्र स्थापित किया और उसके पाँच बेटोंसे फिर वाठिया, जोरावर, विरमेचा, हरखावत, और मल्लावत गोत्र चले। इसी तरह एक 'काला' व्यक्तिकी औलादवाले काला' गोत्री कहलाये।

४. पारख गोत्र -- पासूजीने एक हीरेकी परख की थी उसी दिनसे राजा द्वारा 'पारख' कहे जानेके कारण उनकी संतानके लोग पारख-गोत्री कहे जाने लगे।

५. लूणावत आदि गोत्र -- 'लूणे' के वंशज 'लूणावत' गोत्री हुए परन्तु बादको उसके किसी वंशजके युद्धसे न हटने पर उसकी संततिका गोत्र 'नाहटा' होगया। और एक दूसरे वंशजको किसी नव्वाबने 'रायजादा' कहा। इससे उसका गोत्र 'रायजादा' प्रसिद्ध हुआ।

६. रतनपुरा और कटारिया गोत्र -- चौहान राजपूत रतनसिंह-को, जिसने रतनपुर बसाया था, जिनदत्तसूरिने जैनी बनाकर उस-का 'रतनपुरा' गोत्र स्थापित किया। इसके वंशमें झांझणसिंह

नामका व्यक्ति अपने पेटमें कटार मारकर मर गया था। इससे उसकी संततिका गोत्र 'कटारिया' प्रसिद्ध हुआ।

७. राँका तथा सेठिया गोत्र—'काकू' नामका एक व्यक्ति बहुत दुर्बल शरीरका था इससे लोग उसे 'राँका' पुकारने लगे। उसे नगर-सेठका पद मिला और इसलिये उसकी संतानका गोत्र 'राँका' तथा 'सेठिया' प्रसिद्ध हुआ।

गोत्रोंकी ऐसी कृत्रिम, विचित्र और क्षणिक स्थितिके होते हुए पूर्व पूर्व गोत्रोंकी दृष्टिसे सगोत्र-विवाहोंका होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इसके सिवाय, प्रायः सभी जैनजातियोंमें गोद लेने अथवा दत्तकपुत्र ग्रहण करनेका रिवाज है, और दत्तकपुत्र अपने गोत्रसे भिन्न गोत्रका भी लिया जाता है। साथ ही, यह माना जाता है कि उसका गोत्र दत्तक लेनेवालेके गोत्रमें परिणत हो जाता है—उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती—इसीसे विवाहके अवसर पर उसके गोत्रका प्रायः कोई खयाल नहीं किया जाता और यदि कहीं कुछ खयाल किया भी जाता है तो वह प्रायः उस दत्तकपुत्रके विवाह तक ही परिमित रहता है—उसके विवाहमें ही उसका पूर्व गोत्र बचा लिया जाता है—आगे होनेवाली उसकी उत्तरोत्तर संततिमें फिर उसका कोई खयाल नहीं रक्खा जाता और न रक्खा जा सकता है; क्योंकि एक एक वंशमें न मालूम कितने दत्तक दूसरे वंशों तथा गोत्रोंके लिये जा चुके हैं उन सबका किसीको कहाँ तक स्मरण तथा खयाल हो सकता है। यदि उन पर खयाल किया जाय—विवाहोंके अवसर पर उन्हें टाला जाय—तो परस्परमें विवाहोंका होना ही प्रायः असंभव हो जाय। इसी तरह पर स्त्रियोंके गोत्र भी उनके विवाहित होने पर बदल जाते हैं और उनकी प्रायः कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। यदि उनकी स्वतंत्र सत्ता मानी जाय तब तो एक कुलमें कितने ही गोत्रोंका संमिश्रण हो जाता है और सबको बचाते हुए विवाह करना और भी ज्यादा असंभव ठहरता है। साथ ही, यह

कहना पड़ता है कि भिन्न भिन्न गोत्रके स्त्री-पुरुषोंके सम्बंधसे संकर-गोत्री संतान उत्पन्न होती है और उस संकरताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेसे किसी भी गोत्रका अपनी शुद्ध-स्थितिमें उपलब्ध होना प्रायः असंभव है। गोत्रोंकी इस कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताकी कितनी ही सूचना भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे भी मिलती है और उससे यह साफ़ मालूम होता है कि जैनधर्ममें दीक्षित होने पर—जैनोपासक अथवा श्रावक बनते हुए—अजैनोंके गोत्र और जाति आदिके नाम प्रायः बदल जाते थे—उनके स्थानमें दूसरे समयोचित नाम रक्खे जाते थे। यथाः—

> जैनोपासकदीक्षा स्यात्समयः समयोचितम् ।
> दधतो गोत्रजात्यादिनामान्तरमतः परम् ॥ ५६ ॥
>
> —आदिपुराण, ३९ वाँ पर्व

ऐसी हालतमें गोत्रोंकी क्या असलियत है—उनकी स्थिति कितनी परिकल्पित और परिवर्तनशील है—और उन्हें विवाह शादियोंके अवसर पर कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। पहले ज़मानेमें गोत्रोंको इतना महत्त्व नहीं दिया जाता था जितना कि वह आज दिया जाता है।

यहाँ पर मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजिन-सेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे जहाँ यह पाया जाता है कि देवकी और वसुदेव दोनों यदुवंशी थे, एक कुटुम्बके थे, दोनोंमें चचा-भतीजीका सम्बध था और इसलिये उनका पारस्परिक विवाह सगोत्र-विवाहका एक बहुत बड़ा प्रमाण है, वहाँ यह भी मालूम होता कि हरिवंशी राजा 'वसु' के एक पुत्र 'बृहद्ध्वज' की संततिमें यदुवंशी राजा उग्रसेन हुआ, दूसरे पुत्र 'सुवसु' की संततिमें जरासंध हुआ और जरासंधकी बहन पद्मावती उग्रसेनसे व्याही गई। इससे ज़ाहिर है कि राजा वसुके एक वंश और एक गोत्रमें होनेवाले दो व्यक्तियोंका परस्पर विवाह-सम्बंध हुआ। और इससे यह जाना जाता है कि उस

समय एक गोत्रमें विवाह होनेका रिवाज था। साथ ही, उक्त पुराण-से इस बातका भी पता चलता है कि पहले सगे भाई बहनोंकी औलादमें जो परस्पर विवाह-सम्बन्ध हुआ करता था उसका एक कारण अथवा उद्देश्य 'गोत्रप्रीति' भी होता था। यथाः—

नीलस्तस्य सुनः कन्या मान्या नीलांजनाभिधा।
कुमारकन्ययोर्वृत्ता संकथा च तयोरिति॥ ४॥
पुत्रो मे ते यदा कन्या भविता भविता तयोः।
अविवादे विवाहोऽत्र गोत्रप्रीत्यै परस्परम्॥ ५॥
—२३ वाँ सर्ग

इन पद्योंमें नील और नीलांजना नामके दो सगे भाई बहनोंके इस ठहरावका उल्लेख किया गया है कि 'यदि मेरे पुत्र और तुम्हारे पुत्री होगी तो गोत्रमें प्रीतिकी वृद्धिके लिये उन दोनोंका निर्विवाद रूपसे परस्परमें विवाह कर देना होगा।'

परन्तु आजकल गोत्र-प्रीतिकी बात तो दूर रही, एक गोत्रमें विवाह करना 'गोत्र-घात' अथवा 'गोत्रघाव' समझा जाता है। जैनियोंकी कितनी ही जातियोंमें तो, विवाहके अवसरपर, पिताके गोत्रके अतिरिक्त माता, माताके मामा, और पिताके मामा आदि तकके गोत्रोंको भी टालनेकी फ़िकर की जाती है— कहीं चार चार और कहीं आठ आठ गोत्र बचाये जाते हैं— और इसतरह पर मामा-फूफीकी कन्याओंसे विवाह करनेके प्राचीन प्रशस्त विधानसे इनकार ही नहीं किया जाता बल्कि उनके गोत्रों तकमें विवाह करनेको अनुचित ठहराया जाता है। मालूम नहीं इस सब कल्पनाका क्या आधार है—वह किस सिद्धान्त पर अवलम्बित है—और इन गोत्रोंके बचाने-से उस सिद्धान्तकी वस्तुतः कोई रक्षा हो जाती है या कि नहीं। शायद सगोत्र-विवाहको अच्छी तरहसे टालनेके लिये ही यह सब कुछ किया जाता हो; परन्तु गोत्रकी वर्तमान स्थितिमें, वास्तविक दृष्टिसे, सगोत्र विवाहका टालना कहाँ तक बन सकता है, इसे पाठक

ऊपरके कथनसे भले प्रकार समझ सकते है। हो सकता है कि इस कल्पनाके मूलमें कोई प्रौढ सिद्धान्त न हो और वह पीछेसे कुछ कारणोंको पाकर निरी कल्पना ही कल्पना बन गई हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह कल्पना प्राचीन कालके विचारों और उस वक्तके विवाह-सम्बन्धी रीति-रिवाजोंसे बहुत कुछ विलक्षण तथा विभिन्न है--इसमें निराधार खींचातानीकी बहुलता पाई जाती है—और उसके द्वारा विवाहका क्षेत्र अधिक संकीर्ण हो गया है। समझमें नहीं आता,जब बहुत प्राचीन कालसे गोत्रोंमें बराबर अलटा-पलटी होती आई है, अनेक प्रकारसे नवीन गोत्रोंकी सृष्टि होती रही है, एक पुत्र भी पिताके गोत्रको छोड़कर अपनेमें नये गोत्रकी कल्पना कर सकता था और इस तरह अपने अथवा अपनी संततिके विवाह-क्षेत्रको विस्तीर्ण बना सकता था तब वे सब बातें आज क्यों नहीं हो सकतीं—उनके होनेमें कौनसा सिद्धान्त वाधक है ? गोत्र-परिपाटीको कायम रखते हुए भी, प्राचीन पूर्वजोंके अनुकरण-द्वारा विवाह-क्षेत्रको बहुत कुछ विस्तीर्ण बनाया जा सकता है। अतः समाजके शुभचिंतक सहृदय विद्वानोंको इस विषय पर गहरा विचार करके गोत्रोंकी वर्तमान समस्याको हल करना चाहिये और समाजको उसकी उन्नतिका साधक कोई योग्य तथा उचित मार्ग सुझाना चाहिये।

२०

असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह

'वर्ण' के चार भेद हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये वर्ण इसी क्रमको लिये हुए हैं, और इनकी सत्ता यहाँ युगकी आदिसे चली आती है। इन्हें 'जाति' भी कहते हैं। यद्यपि 'जाति' नामक नामकर्मके उदयसे मनुष्यजाति एक ही है और उस मनुष्यजातिकी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—मनुष्योंके शरीरमें ब्राह्मणादि वर्णोंकी अपेक्षा आकृति आदिका कोई खास भेद न होनेसे और शूद्रादिकोंके द्वारा ब्राह्मणी आदिमें गर्भकी प्रवृत्ति भी हो सकनेसे उनमें जातिकृत कोई ऐसा भेद नहीं है जैसा कि गौ और अश्वादिकमें पाया जाता है[1]—फिर भी वृत्ति अथवा आजीविकाके भेदसे मनुष्यजातिके उक्त चार भेद माने गये हैं। जैसा कि भगवज्जिनसेनके निम्न वाक्यसे सूचित होता है:—

> मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
> वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ ४५॥
>
> —आदिपुराण, पर्व ३८ वाँ।

---

१. वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात्॥४९१॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते॥४९२॥
— उत्तरपुराण, ७४ वाँ पर्व

इन चार प्रधान जातियों अथवा वर्णोंमेंसे ही अग्रवाल, खंडेलवाल, आदि नवीन जातियोंकी सृष्टि हुई है और इसीसे उन्हें उपजातियाँ कहते हैं। उनमें भी वृत्तिकी दृष्टिसे वर्ण भेद पाया जाता है। अस्तु।

इन वर्णोंमेंसे प्रत्येक वर्णका व्यक्ति जब अपने ही वर्णकी स्त्रीसे विवाह करता है तो उसे 'सवर्णविवाह' और जब अपनेसे भिन्न वर्णके साथ विवाह करता है तो उसे 'असवर्णविवाह' कहते हैं। असवर्णविवाहके 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' ऐसे दो भेद हैं। अपनेसे नीचे वर्णवालोंकी कन्याओंसे विवाह करना 'अनुलोमविवाह' और अपनेसे ऊपरके वर्णवालोंकी कन्याओसे विवाह करना 'प्रतिलोमविवाह' कहलाता है। यद्यपि इन दोनों प्रकारके असवर्ण विवाहोंमें अनुलोमविवाह अधिक मान्य किया गया है परन्तु फिर भी सवर्ण विवाहके साथ भारतवर्षमें दोनों ही प्रकारके असवर्णविवाहोंका प्रचार रहा है और उनके विधि-विधानों अथवा उदाहरणोंसे जैन तथा जैनेतर हिन्दू साहित्य भरा हुआ है।

भगवज्जिनसेनाचार्य, आदिपुराणमें, अनुलोमरूपसे असवर्णविवाहका विधान करते हुए, स्पष्ट लिखते हैं:—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥

अर्थात्- शूद्रका शूद्रास्त्रीके सिवाय और किसी वर्णकी स्त्रीके साथ विवाह न होना चाहिये, वैश्य अपने वर्णकी और शूद्रवर्णकी स्त्रीसे भी विवाह कर सकता है, क्षत्रिय अपने वर्णकी और वैश्य तथा शूद्रवर्णकी स्त्रियाँ ब्याह सकता है और ब्राह्मण अपने वर्णकी तथा शेष तीन वर्णोंकी स्त्रियोंका भी पाणिग्रहण कर सकता है।

श्रीसोमदेवसूरि भी, नीतिवाक्यामृतमें, ऐसा ही विधान करते हैं। यथा :—

आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशः।

अर्थात्--अनुलोमविवाहकी रीतिसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः चार, तीन और दो वर्णोंकी कन्याओंसे विवाह करनेके अधिकारी हैं।

इन दोनों उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि जैनशास्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये असवर्णविवाह ही नहीं किन्तु शूद्रा तकसे विवाह कर लेना भी उचित ठहराया है। हिन्दुओंकी मनुस्मृतिमें भी प्रायः ऐसा ही विधान पाया जाता है। यथा :—

> शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
> ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥
>
> —अ० ३, श्लो० १३ वाँ

यह श्लोक आदिपुराणके उक्त श्लोकसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इसमें प्रत्येक वर्णके मनुष्योंके लिये भार्याओं (विवाहित स्त्रियों) का जो विधान किया गया है वह वही है जो आदिपुराणके उक्त श्लोकमें पाया जाता है। अर्थात् शूद्रकी शूद्रा, वैश्यकी वैश्या और शूद्रा; क्षत्रियकी क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा; और ब्राह्मणकी ब्राह्मणी, क्षत्रिय, वैश्या और शूद्रा, ऐसे अनुलोम-क्रमसे भार्याएँ मानी गई हैं।

मनुस्मृतिके ९ वें अध्यायमें दो श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाये जाते हैं :—

> अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
> शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥२३॥
> एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
> उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैःस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥२४॥

इन श्लोकोंमें यह बतलाया गया है कि—"अधम-योनिसे उत्पन्न हुई—निकृष्ट (अछूत) जातिकी—अक्षमाला नामकी स्त्री वसिष्ठ ऋषिसे और शारङ्गी नामकी स्त्री मन्दपाल ऋषिके साथ विवाहित होने पर पूज्यताको प्राप्त हुई। इनके सिवाय और भी दूसरी कितनी

ही हीन जातियोंकी स्त्रियाँ उच्च जातियोंके पुरुषोंके साथ विवाहित होने पर—अपने अपने भर्तारके शुभ गुणोंके द्वारा इस लोकमें उत्कर्षको प्राप्त हुई हैं।" और उन दूसरी स्त्रियोंके उदाहरणमें टीकाकार कुल्लूक भट्टजीने "अन्याश्च सत्यवत्यादयो" इत्यादि रूपसे 'सत्यवती' के नामका भी उल्लेख किया है। यह 'सत्यवती,' हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार, एक धीवरकी—कैवर्त्य अथवा अन्त्यजकी—कन्या थी। इसकी कुमारावस्थामें पराशर ऋषिने इससे भोग किया और उससे व्यासजी उत्पन्न हुए जो 'कानीन' कहलाते हैं। बादको यह भीष्मके पिता राजा शान्तनुसे व्याही गई और इस विवाहसे 'विचित्र-वीर्य' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे राजगद्दी मिली और जिसका विवाह राजा काशीराजकी पुत्रियोंसे हुआ। विचित्रवीर्यके मरने पर उसकी विधवा स्त्रियोंसे व्यासजीने, अपनी माता सत्यवतीकी अनुमतिसे, भोग किया और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र नामके पुत्र पैदा किये, जिनसे पाण्डवों आदिकी उत्पत्ति हुई।

इस तरह पर हिन्दूशास्त्रोंमें हीन-जातिकी अथवा शूद्रा स्त्रियोंसे विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं और उनकी संततिसे अच्छे अच्छे पुरुषों तथा वंशोंका उद्भव होना भी माना गया है। और जैनशास्त्रोंसे म्लेच्छ, भील तथा वेश्या-पुत्रियों जैसे हीनजातिके विवाहोंके उदाहरण विवाहक्षेत्र-प्रकाशके 'म्लेच्छोंसे विवाह' आदि प्रकरणोंमें दिये गये हैं। इन सब उल्लेखोंसे प्राचीनकालमें अनुलोम-रूपसे असवर्णविवाहोंका होना स्पष्ट पाया जाता है।

अब प्रतिलोमविवाहको भी लीजिये। धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९वें अधिकारमें लिखा है:—

परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पंक्तिभोजनम्।
कर्तव्य न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह ॥२५६॥

अर्थात्—प्रथम तीन वर्णवालों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों) को आपसमें एक दूसरेके साथ विबाह और पंक्ति-भोजन करना चाहिये

किन्तु शूद्रोंके] साथ नहीं करना चाहिये। शूद्रोंका विवाह और पंक्ति-भोजन शूद्रोंके साथ होना चाहिये।

इस वाक्यके द्वारा यद्यपि, श्रीजिनसेनाचार्यके उक्त कथनसे भिन्न प्रथम तीन वर्णोंके लिये शूद्रोंसे विवाहका निषेध किया गया है और उसे मत-विशेष कह सकते हैं, जो बहुत पीछेका मत है[1]—हिन्दुओंके यहाँ भी इस प्रकारका मत-विशेष पाया जाता है[2]—परन्तु यह स्पष्ट है कि इसमें तीन वर्णोंके लिये परस्पर रोटी-बेटीका खास तौरपर विधान किया गया है। और इससे अनुलोमविवाहके साथ साथ प्रतिलोमविवाहका भी खासा विधान पाया जाता है। अर्थात् क्षत्रियके लिये ब्राह्मणकी और वैश्यके लिये क्षत्रिय तथा ब्राह्मण दोनोंकी कन्याओंसे विवाहका करना उचित ठहराया गया है। जैनकथा-ग्रन्थोंसे भी प्रतिलोमविवाहका बहुत कुछ पता चलता है, जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

(१) वसुदेवजीने, जो स्वयं क्षत्रिय थे, विश्वदेव ब्राह्मणकी क्षत्रिय-स्त्रीसे उत्पन्न 'सोमश्री' नामकी कन्यासे—उसे वेदविद्यामें जीतकर—विवाह किया था। जैसा कि श्रीजिनसेनचार्यकृत हरिवंश-पुराण (२३ वें सर्ग) के निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

अन्वये तत्तु जातेयं क्षत्रियायां सुकन्यका।
सोमश्रीरिति विख्याता विश्वदेवद्विजन्मिनः ॥४६॥

---

१. क्योंकि धर्मसंग्रहश्रावकाचार' वि० सं० १५४१ मे बनकर समाप्त हुआ है और इसलिये वह जिनसेनके हरिवंशपुराण से ७०१ वर्ष बादका बना हुआ है।

२. अत्रि आदि ऋषियोंके इस मत-विशेषका उल्लेख मनुस्मृतिके निम्न वाक्यमें भी पाया जाता है :—

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्या तदपत्यतया भृगोः ॥ ३-१६ ॥

करालब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा ।
वेदे जेतुः समादिष्टा महतः सहचारिणी ॥५०॥
इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान्वेदान्यदूत्तमः ।
जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे विधानतः ॥५१॥

इन वाक्योंसे अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकारके विवाहोंका उल्लेख मिलता है ।

(२) श्रीकृष्णने अपने भाई गजकुमारका विवाह, क्षत्रिय राजाओंकी कन्याओंके अतिरिक्त, सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री 'सोमा'से भी किया था, जिसका उल्लेख जिनसेनाचार्य और जिनदास ब्रह्मचारी दोनोंके हरिवंशपुराणोंमें पाया जाता है । यहाँ जिनदास ब्र० के हरिवंश पुराणसे एक पद्य नीचे दिया जाता है:—

मनोहरतरां कन्यां सोमशर्मद्विजन्मनः ।
सोमाख्यां वृत्तवांश्चक्री क्षत्रियाणां तथा पराः ॥३४-२६॥

(३) उज्जयिनीके वैश्य-पुत्र 'धन्यकुमार' का विवाह राजा श्रेणिककी पुत्री 'गुणवती' के साथ हुआ था । अपना कुल पूछा जाने पर इन्होंने राजा श्रेणिकसे साफ़ कह दिया था कि मैं उज्जयिनी-का रहनेवाला एक वैश्यपुत्र हूँ और तीर्थयात्राके लिये निकला हुआ हूँ । इस पर श्रेणिकने गुणवती आदि १६ कन्याओंके साथ इनका विवाह किया था। जैसा कि रामचन्द्र-मुमुक्षु-कृत 'पुण्यास्रवकथा-कोश'से प्रकट है :—

राजा (श्रेणिकः) ऽभयकुमारादिभिरर्द्धपथमाययौ ।
राजभवनं प्रवेश्य किं कुलो भवानिति पप्रच्छ ॥
कुमारो ब्रूते उज्जयिन्यां वैश्यात्मजो तीर्थयात्रिकः ।
ततो नृपो गुणवत्यादिभिः षोडशकन्याभिस्तस्य विवाहं चकार ॥

इसी पुण्यास्रवकथाकोशमें 'भविष्यदत्त' नामके एक वैश्यपुत्र-की भी कथा है, जिसने हरिपुरके अरिंजय राजाकी पुत्री 'भविष्यानु-रूपा से और हस्तिनापुरके राजा भूपालकी कन्या 'स्वरूपा'से विवाह

किया था और जिसके उल्लेखोंको विस्तार-भयसे यहाँ छोड़ा जाता है।

(४) इसी तरह पर हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंमें भी प्रतिलोमविवाहके उदाहरण पाये जाते हैं जिसका एक नमूना 'ययाति' राजाका उशना ब्राह्मण (शुक्राचार्य) की 'देवयानी' कन्यासे विवाह है। यथाः—

तेषां ययातिः पञ्चानांविजित्य वसुधामिमाम्।
देवयानीमुशनसः सुतां भार्यामवाप सः॥

—महाभा० हरि० अ० ३० वाँ

इसी विवाहसे 'यदु' पुत्रका होना भी माना गया है, जिससे यदुवंश चला।

इन सब उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें अनुलोमरूपसे ही नहीं किन्तु प्रतिलोम रूपसे भी असवर्ण-विवाह होते थे। दायभागके ग्रन्थोंसे भी असवर्णविवाहकी रीतिका बहुत कुछ पता चलता है—उनमें ऐसे विवाहोंसे उत्पन्न होने वाली संततिके लिये विरासतके नियम दिये हैं, जिनके उल्लेखोंको भी यहाँ विस्तार-भयसे छोड़ा जाता है। अस्तु; वर्णकी 'जाति' संज्ञा होने से असवर्ण विवाहोंको अन्तर्जातीय विवाह भी कहते हैं। जब भारतकी इन चार प्रधान जातियोंमें अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे तब इन जातियोंसे बनी हुई अग्रवाल, खंडेलवाल, पल्लीवाल, ओसवाल और परवार आदि उपजातियोंमें, समान वर्ण तथा धर्मके होते हुए भी, परस्पर विवाह न होना क्या अर्थ रखता है और उसके होनेमें कौन सा सिद्धान्त बाधक है यह कुछ समझमें नहीं आता। जान पड़ता है यह सब आपसकी खींचातानी और परस्परके ईर्षाद्वेषादिका परिणाम है—वास्तविक हानि-लाभ अथवा किसी धार्मिक सिद्धान्तसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्णोंकी दृष्टिको छोड़कर यदि उपजातियोंकी दृष्टि को ही लिया जाय तो उससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि पहले उपजातियोंमें विवाह नहीं होता था। आर्य-जातिकी अपेक्षा म्लेच्छ-

जाति भिन्न है और म्लेच्छोंमें भी भील, शक, यवन, शबरादिक कितनी ही जातियाँ हैं। जब आर्योंका म्लेच्छों अथवा भीलादिकोंसे विवाह होता था तो वह भी अन्तर्जातीय विवाह था और बहुत बड़ा अन्तर्जातीय विवाह था। उसके मुकाबलेमें तो यह आर्यों-आर्योंकी जातियों अथवा उपजातियोंके अन्तर्जातीय-विवाह कुछ भी गणनामें गिने जानेके योग्य नहीं हैं। इसके सिवाय पहले भूमिगोचरियोंके साथ विद्याधरोंके विवाह-सम्बंधका आम दस्तूर था, और उनकी कितनी ही जातियोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। वसुदेवजीने भी अनेक विद्याधर-कन्याओंसे विवाह किया था, जिसमें एक 'मदन-वेगा' भी थी और वह श्रीजिनसेनाचार्यके कथनानुसार गौरिक जातिके विद्याधरकी कन्या थी। वसुदेवजी स्वयं गौरिक जातिके नहीं थे और इसलिये गौरिक जातिकी विद्याधर-कन्यासे विवाह करके उन्होंने उपजातियोंकी दृष्टिसे भी स्पष्ट रूपसे अन्तर्जातीय विवाह किया था, इसमें संदेह नहीं है। आबूके तेजपाल-वस्तुपालवाले जैन मंदिरमें एक शिलालेख संवत् १२९७ का लिखा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि प्राग्वाट (पोरवाड) जातिके तेजपाल जैनका विवाह 'मोढ' जातिकी सुहडादेवीसे हुआ था। इस लेखका एक अंश जो जैनमित्र (ता० २३ अप्रैल सन १९२५) में प्रकाशित हुआ, इस प्रकार है :—

"ॐ संवत १२९७ वर्ष वैशाख सुदी १४ गुरौ प्राग्वाट ज्ञातीन चंड प्रचंड प्रसादमहं श्री सोमान्वये महं श्रीअसराज सुत महं श्रीतेज-पालेन श्रीमत्पत्तन वास्तव्य मोढ ज्ञातीय ठ० जाल्हण सुत ठ० आस-सुताया· ठकुराज्ञी संतोषा कुक्षिसंभूतायाः महंश्री तेजःपाल द्वितीय भार्या महंश्री सुहडादेवयाः श्रेयाथ······"

यह आधुनिक उपजातियोंमें, आजसे करीब ७०० वर्ष पहलेके अन्तर्जातीय-विवाहका एक नमूना है और तेजपाल नामके एक बड़े ही प्रतिष्ठित तथा धर्मात्मा पुरुष-द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी

तरहके और भी कितने ही नमूने खोज करने पर मिल सकते हैं। कुछ उपजातियोंमें तो अब भी अन्तर्जातीय विवाह होता रहता है।

ऐसी हालतमें इन अग्रवाल, खंडेलवाल आदि जातियोंमें परस्पर विवाह न होनेके लिये सिद्धान्तकी दृष्टिसे, क्या कोई युक्तियुक्त कारण प्रतीत होता है, इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। साथ ही, यह भी जान सकते हैं कि दो जातियोंमें परस्पर विवाह सम्बंध होनेसे उन जातियोंका लोप होना अथवा जाति-पाँतिका मेटा जाना कैसे बन सकता है ? क्या दो भिन्न गोत्रोंमें विवाह सम्बन्ध होनेसे वे मिट जाते हैं या उनका लोप हो जाता है ? यदि ऐसा कुछ नहीं होता तो फिर दो जातियोंमें परस्पर विवाहके होनेसे उनके नाशकी आशंका कैसे की जा सकती है ? अतः इस प्रकारकी चिन्ता व्यर्थ है। जहाँ तक हम समझते हैं एक ही धर्म और आचारके मानने तथा पालनेवाली प्रायः इन सभी उपजातियोंमें परस्पर विवाहके होनेसे कोई हानि मालूम नहीं होती। प्रत्युत इसके, विवाह-क्षेत्रके विस्तीर्ण होनेसे योग्य सम्बन्धोंके लिये मार्ग खुलता है, पारस्परिक प्रेम बढ़ता है, योग्यताके बढ़ानेकी ओर प्रवृत्ति होती है और मृत्युशय्यापर पड़ी हुई कितनी ही अल्पसंख्यक जातियोंकी प्राणरक्षा भी होती है। वास्तवमें ये सब जातियाँ परिकल्पित और परिवर्तनशील हैं—एक अवस्थामें न कभी रहीं और न रहेंगी—इनमें गो-अश्वादि जातियों-जैसा परस्पर कोई भेद नहीं है और इसलिये अपनी जातिका अहंकार करना अथवा उसे श्रेष्ठ तथा दूसरी जातिको अपनेसे हीन मानना मिथ्या है। पं० आशाधरजीने भी, अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें कुल-जाति-विषयक ऐसी अहंकृतिको मिथ्या ठहराया है और उसे आत्म-पतनका हेतु तथा नीचगोत्रके बन्धका कारण बतलाया है। साथ ही, अपने इस मिथ्या ठहरानेका यह हेतु देते हुए कि 'परमार्थसे जाति-कुलकी शुद्धिका कोई निश्चय नहीं बन सकता'—यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक जाति अथवा

कुलकी रक्त-शुद्धि बिना किसी मिलावटके, अक्षुण्ण चली आती है—उसकी पुष्टिमें नीचे लिखा वाक्य उद्धृत किया है:—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनी-मूले का जाति-परिकल्पना ॥

और इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया है कि 'जब संसारमें अनादिकालसे कामदेव दुर्निवार चला आता है और कुलका मूल भी कामिनी है. तब किसी 'जाति-कल्पना' को क्या महत्व दिया जा सकता है और उसके आधार पर किसीको क्या मद करना चाहिये?' अत: जाति-विषयक मद त्याज्य है। उसके कारण कमसे कम साधर्मियों अथवा समान आचारको पालनेवाली इन उपजातियोंमें पारस्परिक (अन्तर्जातीय) सद्विवाहोंके लिये तो कोई रुकावट न होनी चाहिये।

२१

जाति-पंचायतोंका दंड-विधान

आजकल हमारे बहुधा जैनी भाई अपने अनुदार विचारोंके कारण ज़रा ज़रासी बात पर अपने जाति-भाइयोंको, जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज़ करके उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं, और इस तरह अपनी जातीय तथा संघ-शक्तिको निर्बल और निःसत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको बुलानेके लिये कमर कसे हुए हैं। लोगोंको, चारुदत्त सेठके उदाहरण पर ध्यान देते हुए—उसके साथ उस वक्तकी बिरादरीके किए हुए सलूक और उसके सत्फलको देखते हुए—दंडविधानके ऐसे अवसरों पर बहुत ही सोच-समझ और गहरे विचार तथा दूरदृष्टिसे काम लेना चाहिए। यदि वे पतितोंका स्वयं उद्धार नहीं कर सकते हों तो उन्हें कमसे कम पतितोंके उद्धार-में बाधक तो नहीं बनना चाहिये और न ऐसा अवसरही देना चाहिये जिससे पतितजन और भी अधिकताके साथ पतित हो जाँय। किसी पतित भाईके उद्धारकी चिन्ता न कर उसे जातिसे खारिज कर देना और उसके धार्मिक अधिकारोंको भी छीन लेना ऐसा कर्म है जिससे वह पतित भाई सुधारका अवसर न पाकर और भी ज्यादा पतित हो जाय अथवा यों कहिये कि वह डूबतेको ठोकर मारकर शीघ्र डुबो देनेके समान है। तिरस्कारसे प्रायः कभी किसीका सुधार नहीं होता

उससे तिरस्कृत व्यक्ति अपने पापकार्यमें और भी दृढ हो जाता है और तिरस्कारीके प्रति उसकी ऐसी शत्रुता बढ़ जाती है जो जन्म-जन्मान्तरोंमें अनेक दुःखों तथा कष्टोंका कारण होती हुई दोनोंके उन्नति-पथमें बाधा उपस्थित कर देती है। हाँ, सुधार होता है, प्रेम उपकार और सद्व्यवहारसे। यदि चारुदत्तके कुटुम्बीजन अपने इन गुणों और उदार-परिणतिके कारण, वसन्तसेनाको चारुदत्तके पीछे अपने यहाँ आश्रय न देते बल्कि यह कहकर दुतकार देते कि 'इस पापिनीने हमारे चारुदत्तका सर्वनाश किया है, इसकी सूरत भी नहीं देखनी चाहिये और न इसे अपने द्वार पर खड़े ही होने देना चाहिये' तो बहुत संभव था कि वह निराश्रित-दशामें मजबूर होकर अपनी माताके ही पास जाती और वेश्यावृत्तिके लिये मजबूर होती, और तब उसका वह सुन्दर श्राविकाका जीवन न बन पाता जो उन लोगोंके प्रेमपूर्वक आश्रय देने और सद्व्यवहारसे बन सका था। इसलिये सुधारके अर्थ प्रेम, उपकार और सद्व्यवहारको अपनाना चाहिये, इसकी नितान्त आवश्यकता है। पापीसे पापीका भी सुधार हो सकता है, परन्तु सुधारक होना चाहिये। ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो स्वभावसे ही 'अयोग्य' हो परन्तु उसे योग्यताकी ओर लगानेवाला 'योजक' होना चाहिये, उसीका मिलना कठिन है। नीतिकारोंने कहा है:—

अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः।

जो जाति अपने किसी अपराधी व्यक्तिको जातिसे खारिज करती है और इस तरह उसके व्यक्तित्वके प्रति भारी घृणा और तिरस्कारके भाव प्रदर्शित करती है, समझना चाहिये कि वह स्वयं उसका सुधार करनेके लिये असमर्थहै,अयोग्य है और उसमें योजक-शक्ति नहीं है साथही,इस कृतिके द्वारा वह सर्वसाधारणमें अपनी अयोग्यता और अशक्तिकी घोषणा कर रही है—इतना ही नहीं,बल्कि अपनी स्वार्थ-साधुताको भी प्रगट कर रही है। ऐसी अयोग्य और असमर्थ जातिका,

जो अपनेको थाम भी नहीं सकती,क्रमशः पतन होना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। पापीका सुधार वही करसकता है जो पापीके व्यक्तित्वसे घृणा नहीं करता बल्कि पापसे घृणा करता है। पापीसे घृणा करनेवाला पापीके पास नहीं फटकता, वह सदैव उससे दूर रहता है और उन दोनोंके बीच मीलोंकी गहरी खाई पड़ जाती है। इससे वह पापीका कभी भी कुछ सुधार या उपकार नहीं कर सकता। प्रत्युत इसके. जो पापसे घृणा करता है वह सद्वैद्यकी तरह हमेशा पापीके (रोगीके) निकट होता है और बराबर उसके पाप (रोग) को दूर करने का यत्न करता रहता है। यही दोनोंमें भारी अन्तर है। आजकल अधिकांश जन पापसे तो घृणा नहीं करते परन्तु पापीसे घृणाका भाव ज़रूर दिखलाते हैं, अथवा घृणा करते हैं। इसीसे संसारमें पापकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और उसकी शान्ति होनेमें नहीं आती। बहुधा जाति-बिरादरियों अथवा पंचायतियोंकी प्रायः ऐसी नीति पाई जाती है कि वे अपने जाति-भाइयोंको पापकर्मसे तो नहीं रोकतीं और न उनके मार्गमें कोई अर्गला ही उपस्थित करती हैं, बल्कि यह कहती हैं कि 'तुम सिंगल–इकहरा पाप मत करो,बल्कि डबल–दोहरा पाप करो; डबल पाप करनेसे तुम्हें कोई दंड नहीं मिलेगा, सिंगल पाप करने पर तुम जातिसे खारिज हो जाओगे। अर्थात् वे अपने व्यवहारसे उन्हें यह शिक्षा दे रही हैं कि 'तुम चाहे जितना बड़ा पाप करो, हम तुम्हें पाप करनेसे नहीं रोकतीं, परन्तु पाप करके यह कहो कि हमने नहीं किया,पापको छिपाकर करो और उसे छिपानेके लिये जितना भी मायाचार तथा असत्य-भाषणादि दूसरा पाप करना पड़े उसकी तुम्हें छुट्टी है; तुम खुशीसे व्यभिचार कर सकते हो, परन्तु वह स्थूलरूपमे किसी पर ज़ाहिर न हो; भले ही इस कामके लिये रोटी बनानेवालीके रूपमें किसी स्त्रीको रखलो. परन्तु इससे अपना अनुचित सम्बन्ध मत ज़ाहिर होने दो और यदि तुम्हारे फेल (कर्म)से किसी विधवाको गर्भ रह जाय तो

खुशीसे उसकी भ्रूण-हत्या कर डालो, अथवा बालक प्रसव कराकर उसे कहीं जंगल आदिमें डाल आओ या मार डालो; परन्तु खुले रूपमें जाति-बिरादरीके सामने यह बात न आने दो कि तुमने उस विधवाके साथ सम्बन्ध किया है, इसीमें तुम्हारी ख़ैर है—मुक्ति है और नहीं तो जातिसे खारिज कर दिए जाओगे। जाति-बिरादरियों अथवा पंचायतियोंकी ऐसी नीति और व्यवहारके कारण ही आज कल भारतवर्षका और उसमें भी उच्च कहलानेवाली जातियोंका बहुत ही ज्यादा नैतिक पतन हो रहा है। ऐसी हालतमें पापियोंका सुधार और पतितोंका उद्धार कौन करे, यह एक बड़ी कठिन समस्या उपस्थित है।

एक बात और भी नोट किए जाने योग्य है और वह यह कि यदि कोई मनुष्य पापकर्म करके पतित होता है तो उसके लिए इस बातकी खास ज़रूरत रहती है कि वह अपने पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये अधिक धर्म करे, उसे ज्यादह धर्मकी ओर लगाया जाय और अधिक धर्म करनेका मौका दिया जाय; परन्तु आजकल कुछ जैन जातियों और जैन पंचायतोंकी ऐसी उल्टी रीति पाई जाती है कि वे ऐसे लोगोंको धर्म करनेसे रोकते हैं—उन्हें जिनमन्दिरोंमें जाने नहीं देते अथवा वीतराग भगवानकी पूजा-प्रक्षाल नहीं करने देते; और भी कितनी ही आपत्तियाँ उनके धार्मिक अधिकारोंपर खड़ी कर देते हैं। समझमें नहीं आता यह कैसी पापोंसे घृणा और धर्मसे प्रीति, अथवा पतितोंके उद्धारकी इच्छा है!! और किसी बिरादरी या पंचायतको किसीके धार्मिक अधिकारोंमें हस्तक्षेप करनेका क्या अधिकार है?

जैनियोंमें अविरत-सम्यग्दृष्टिका भी एक दर्जा (चतुर्थ गुणस्थान) है। और अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं जो इन्द्रियोंके विषयों तथा त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं होता—अथवा यों कहिये कि इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम नामक दोनों संयमोंमेंसे किसी

भी संयमका धारक नहीं होता, परन्तु जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें श्रद्धा जरूर रखता है[1]। ऐसे लोग भी जब जैनी होते हैं और सिद्धान्ततः जैनमन्दिरोंमें जाने तथा जिनपूजनादि करनेके अधिकारी हैं[2] तब एक श्रावकसे. जो जैनधर्मका श्रद्धानी है, चारित्रमोहनीय कर्मके तीव्र-उदयवश यदि कोई अपराध बन जाता है तो उसकी हालत अविरत-सम्यग्दृष्टिसे और ज्यादह क्या खराब हो जाती है, जिसके कारण उसे मन्दिरमें जाने आदिसे रोका जाता है। जान पड़ता है कि इस प्रकारके दंड-विधान केवल नासमझी और पारस्परिक कषाय-भावोंसे सम्बन्ध रखते हैं। अन्यथा, जैनधर्ममें तो सम्यग्दर्शनसे युक्त (सम्यग्दृष्टि) चाण्डालके पुत्रको भी 'देव' कहा है – आराध्य बतलाया है। और उसकी दशा उस अंगारके सदृश प्रतिपादन की है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अंतरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिए हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता[3]। इसीसे बहुत प्राचीन समयमें, जब जैनियोंका हृदय सच्ची धर्मभावनासे प्रेरित होकर उदार था और जैनधर्मकी उदार (अनेकान्तात्मक) छत्रछायाके नीचे सभी लोग एकत्रित थे, मातंग (चाण्डाल) भी जैन मन्दिरोंमें जाया करते थे और भगवानका दर्शन-पूजन करके अपना

---

१. णोइंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहइ जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ।। २९ ।।
—गोम्मटसार

२. जिन-पूजाके कौन कौन अधिकारी हैं, इसका विस्तृत और प्रामाणिक कथन लेखककी लिखी हुई 'जिनपूजनाऽधिकार-मीमांसा' से जानना चाहिये।

३. सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातंगदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरोजसम् ।।
—रत्नकरंडे, स्वामिसमन्तभद्रः

जन्म सफल किया करते थे । इस विषयका अच्छा उल्लेख श्री-जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराण (सर्ग २६) में पाया जाता है और वह इस प्रकार है : —

"सस्त्रीकाः खेचरा याताः सिद्धकूट-जिनालयम् ।
एकदा वंदितुं सोपि शौरिर्मदनवेगया ॥ २ ॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् ।
तस्थुः स्तंभानमाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥
विद्युद्वेगोपि गौरीणां विद्यानां स्तम्भमाश्रितः ।
कृतपूजास्थितः श्रीमान्स्वनिकायपरिष्कृतः ॥ ४ ॥
पष्टया वसुदेवेन ततो मदनवेगया ।
विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्तिताः ॥ ५ ॥"
"अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरिताः ।
मातंगानामपि स्वामिन्निकायान् शृणु वच्मि ते ॥ १४ ॥
नीलाम्बुदचयश्यामा नीलाम्बरवरस्रजः ।
अमी मातंगनामानो मातंगस्तभ-संगताः ॥ १५ ॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणु-विधूसराः ।
श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तंभमाश्रिताः ॥ १६ ॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयन्त्यंबराणि ये ।
पांडुरस्तंभमेत्यामी स्थिताः पांडुकखेचराः ॥ १७ ॥
कृष्णाऽजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः ।
कानीलस्तंभमध्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥ १८ ॥
पिंगलैर्मूर्धजैर्युक्तास्तप्तकांचनभूषणाः ।
श्वपाकीनां च विद्यानां श्रिताः स्तंभं श्वपाकिनः ॥ १९ ॥
पत्रपर्णांशुकच्छन्न-विचित्र-मुकुट-स्रजः ।
पार्वतेया इति ख्याता पार्वतस्तंभमाश्रिताः ॥ २० ॥
वंशीपत्र कृतोत्तंसाःसर्वर्तुकुसुमस्रजः ।
वंशस्तंभाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मताः ॥ २१ ॥

महाभुजगशोभांकसंदष्टवरभूषणाः ।
वृक्षमूलमहास्तंभमाश्रिता वार्क्षमूलकाः ॥ २२ ॥
स्ववेषकृतसंचाराः स्वचिन्हकृतभूषणाः ।
समासेन समाख्याता निकायाः खचरोद्‌गताः ॥ २३ ॥
इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तरः ।
शौरिर्यातो निज स्थानं खेचराश्च यथायथम् ॥ २४ ॥"

इन पद्योंका अनुवाद पं० गजाधरलाजीने अपने भाषा हरिवंश-पुराण[१] में निम्नप्रकार दिया है:—

"एक दिन समस्त विद्याधर अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ सिद्ध-कूट चैत्यालयकी वन्दनार्थ गये। कुमार (वसुदेव) भी प्रियतमा मदन-वेगाके साथ चल दिये ॥२॥ सिद्धकूटपर जाकर चित्र-विचित्र वेषोंके धारण करनेवाले विद्याधरोंने सानन्द भगवानकी पूजा की, चैत्या-लयको नमस्कार किया एवं अपने अपने स्तंभोंका सहारा लेकर जुदे-जुदे स्थानोंपर बैठ गये। कुमारके श्वसुर विद्युद्वेगने भी अपनी जातिके गौरिक निकायके विद्याधरोंके साथ भले प्रकार भगवानकी पूजा की और अपनी गौरी विद्याओंके स्तंभका सहारा लेकर बैठ गए। कुमारको विद्याधरोंकी जातिके जाननेकी उत्कंठा हुई, इसलिये उन्होंने उनके विषयमें प्रियतमा मदनवेगासे पूछा और मदनवेगा यथायोग्य विद्याधरोंकी जातियोंका इस प्रकार वर्णन करने लगी:—"

"प्रभो! ये जितने विद्याधर हैं वे सब आर्यजातिके विद्याधर हैं। अब मैं मातंगजातिके विद्याधरोंको बतलाती हूँ आप ध्यान-पूर्वक सुनें।"

"नीलमेघके समान श्याम नीली माला धारण किये, मातंगस्तंभके सहारे बैठे हुए ये मातंगजातिके विद्याधर हैं ॥ १४-१५ ॥ मुर्दों-की हड्डियोंके भूषणोंसे भूषित, भस्म (राख) की रेणुओंसे मटमैले

१. देखो, सन् १९१६ का छपा संस्करण पृष्ठ २८४, २८५।

और श्मशान (स्तंभ) के सहारे बैठे हुए ये श्मशान-जातिके विद्याधर हैं ॥१६॥ वैडूर्यमणिके समान नीले नीले वस्त्रोंको धारण किए पांडुर-स्तंभके सहारे बैठे हुए ये पांडुकजातिके विद्याधर हैं ॥१७॥ काले काले मृगचर्मोंको ओढे, काले चमड़ेके वस्त्र और मालाओंको धारे कालस्तंभका आश्रय लेकर बैठे हुए ये कालश्वापाकी जातिके विद्याधर हैं ॥१८॥ पीले वर्णके केशोंसे भूषित, तप्तस्वर्णके भूषणोंके धारक श्वपाकविद्याओंके स्तंभके सहारे बैठनेवाले ये श्वपाकजातिके विद्याधर हैं ॥१९॥ वृक्षोंके पत्तोंके समान हरे वस्त्रोंको धारण करनेवाले, भांति-भांतिके मुकुट और मालाओंके धारक पर्वतस्तंभका सहारा लेकर बैठे हुए ये पार्वतेयजातिके विद्याधर हैं ॥२०॥ जिनके भूषण बांसके पत्तोंके बने हुए हैं, जो सब ऋतुओंके फूलोंकी मालाएं पहिने हुए हैं और वंशस्तंभके सहारे बैठे हुए हैं वे वंशालयजातिके विद्याधर हैं ॥२१॥ महासर्पके चिन्होंसे युक्त उत्तमोत्तम भूषणोंको धारण करनेवाले वृक्षमूल नामक विशाल स्तंभके सहारे बैठे हुए ये वार्क्षमूलकजातिके विद्याधर हैं ॥२२॥ इस प्रकार रमणी मदनवेगा-द्वारा अपने अपने वेष और चिन्ह-युक्त भूषणोंसे विद्याधरोंका भेद जानकर कुमार अति प्रसन्न हुए और उसके साथ अपने स्थान चले आए, एवं अन्यविद्याधर भी अपने अपने स्थान चले गए ।"

इस उल्लेखपरसे इतना ही स्पष्ट मालूम नहीं होता कि मातंग जातियोंके चांडाल लोग भी जैन मन्दिरोंमें जाते और पूजन करते थे; बल्कि यह भी मालूम होता है कि श्मशानभूमिकी हड्डियोंके आभूषण पहने हुए तथा मृगछाल ओढ़े, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएँ हाथमें लिये हुए भी जैनमन्दिरोंमें जा सकते थे[1] ।

---

१. यहाँ किसीको यह समझने की भूल न करना चाहिये कि लेखक आजकल ऐसी अपवित्र दशामें मन्दिरोंमें जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है ।

और न केवल जा ही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजाकरनेके बाद उनके वहाँ बैठनेके लिये स्थान भी नियत था, जिससे उनका जैन मन्दिरमें जानेका और ज्यादा नियत अधिकार पाया जाता है[1]। जान पड़ता है उस समय सिद्धकूट–जिनालयमें प्रतिमागृहके सामने एक बहुत बड़ा विशाल मंडप होगा और उसमें स्तंभोंके विभागसे सभी आर्य-अनार्य-जातियोंके लोगोंके बैठनेके लिये जुदा जुदा स्थान नियत कर रक्खे होंगे। आजकल जैनियोंमें उक्त सिद्धकूट-जिनालयके ढंगका, उसकी नीतिका अनुसरण करनेवाला, एक भी जैन मन्दिर नहीं है[2]। लोगोंने बहुधा जैन मन्दिरोंको देव-सम्पत्ति न समझकर अपनी घरू सम्पत्ति समझ रक्खा है, उन्हें अपनी ही चहल-पहल तथा आमोद-प्रमोदादिके एक प्रकारके साधन बना रक्खा है। वे प्रायः उन महौदार्य-सम्पन्न लोक-पिता वीतराग भगवानके मन्दिर नहीं जान पड़ते, जिनके समवसरणमें पशु तक भी जाकर बैठते थे। और न वहाँ, मूर्तिको छोड़कर, उन पूज्य पिताके वैराग्य, औदार्य तथा साम्यभावादि गुणोंका कहीं कोई आदर्श ही नज़र आता है। इसीसे वे लोग उनमें चाहे जिस जैनीको आने देते

---

१. श्रीजिनसेनाचार्यने ६ वी शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी ऐसे लोगोंका जैनमन्दिरमे जाना आदि आपत्तिके योग्य नही ठहराया और न उससे मंदिरके अपवित्र हो जानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनन्दन किया है अथवा उसे बुरा नही समझा ?

२. चांदनपुर श्रीमहावीरजीके मन्दिरमे तो वर्षभरमे दो एक दिन के लिये यह हवा आ जाती है कि सभी ऊँच-नीच जातियोंके लोग बिना किसी रुकावटके अपने प्राकृत वेषमे—जूते पहने और चमड़े-के ढोल आदि चीजें लिए हुए वहाँ चले जाते है, और अपनी भक्तिके अनुसार दर्शन पूजन तथा परिक्रमण कर वापिस आते हैं।

हैं और चाहे जिसको नहीं। कई ऐसे जैन मन्दिर भी देखनेमें आए हैं जिनमें ऊनी वस्त्र पहिने हुए जैनियोंको भी घुसने नहीं दिया जाता! इस अनुदारता और कृत्रिम धर्मभावनाका भी कहीं कुछ ठिकाना है! ऐसे सब लोगोंको खूब याद रखना चाहिये कि दूसरोंके धर्म-साधनमें विघ्न करना, बाधक होना, उनका मन्दिर जाना बन्द करके उन्हें देव-दर्शनादिसे विमुख रखना और इस तरह पर उनकी आत्मोन्नतिमें रुकावट डालना बहुत बड़ा भारी पाप है। अंजनासुन्दरीने अपने पूर्व जन्ममें थोड़े ही कालके लिये जिनप्रतिमाको छिपाकर अपनी सौतके दर्शन-पूजनमें अन्तराय डाला था, जिसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्ष तक पतिका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अनेक संकट तथा आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीरविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने 'रयणसार' ग्रन्थमें यह स्पष्ट बतलाया है कि 'दूसरोंके पूजन और दान-कार्यमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्म-जन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगंदर जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना आदि रोग तथा शीत-उष्णके आताप और कुयोनियोंमें परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती है। यथा :—

खय-कुट्टसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो।
सीदुण्ह बह्मराई पूजादाणंतराय-कम्मफलं ॥ ३३ ॥

इसलिये जो कोई जाति-बिरादरी अथवा पंचायत किसी जैनीको जैनमन्दिरमें न जाने अथवा जिनपूजादि धर्म-कार्योंसे वंचित रखनेका दंड देती है वह अपने अधिकारका अतिक्रमण और उल्लंघन ही नहीं करती, बल्कि घोर पापका अनुष्ठान करके स्वयं अपराधिनी बनती है। ऐसी जाति-बिरादरियोंके पंचोंकी निरकुशताके विरूद्ध आवाज उठनेकी ज़रूरत है और उसका वातावरण ऐसे ही लेखोंके द्वारा पैदा किया जा सकता है। आजकल जैन पंचायतोंने 'जाति-

बहिष्कार' नामके तीक्ष्ण हथियारको जो एक खिलौनेकी तरह अपने हाथमें ले रक्खा है और बिना उसका प्रयोग जाने तथा अपने बला-दिक और देश-कालकी स्थितिको पहचाने जहाँ तहाँ यद्वा तद्वा रूपमें उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिये बड़ा ही भयंकर तथा हानिकारक है। इस विषयमें श्रीसोमदेवसूरि अपने 'यशास्तिलक' ग्रन्थ (शक सं० ८८१) में लिखते हैं :—

नवैः संदिग्ध-निर्वाहैः विदध्याद्गणवर्धनम् ।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ।।
यतः समयकार्यार्थी नाना-पंचजनाश्रयः ।
अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ।।
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नरः ।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ।।

इन पद्योंका आशय इस प्रकार है :-

'ऐसे ऐसे नवीन मनुष्योंसे अपनी जातिकी समूह-वृद्धि करनी चाहिये जो संदिग्धनिर्वाह हैं—अर्थात् जिनके विषयमें यह सन्देह है कि वे जातिके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे।(और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई विद्वान जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे हो सकता है ? चूँकि सिद्धान्ताचार-विषयक धर्म-कार्योंका प्रयोजन नाना पंचजनोंके आश्रित है—उनके सहयोगसे सिद्ध होता है—अतः समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमें लगाना चाहिये—जातिसे पृथक न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी—खासकर विद्वानकी - उपेक्षा कीजाती है—उसे जातिमें रखनेकी पर्वाह न करके जातिसे पृथक किया जाता है - तो इस उपेक्षासे वह मनुष्य तत्त्वसे बहुत दूर जा पड़ता है। तत्त्वसे दूर जा पड़नेके कारण उसका संसार बढ़ जाता है और धर्मकी भी क्षति होती है—समाजके साथ साथ धर्मको भी भारीहानि उठानी पड़ती है, उसका यथेष्ट प्रचार और पालन नहीं हो पाता।'

आचार्यमहोदयने अपने इन वाक्यों-द्वारा जैन जातियों और जैन पंचायतोंको जो गहरा परामर्श दिया है और जो दूरकी बात सुझाई है वह सभीके ध्यान देने और मनन करनेके योग्य है। जब जब इस प्रकारके सदुपदेशों और सत्परामर्शों पर ध्यान दिया गया है तब तब जैन समाजका उत्थान होकर उसकी हालत कुछसे कुछ होती रही है—इसमें अच्छे अच्छे राजा भी हुए, मुनि भी हुए और जैनियोंने अपनी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नतिमें यथेष्ट प्रगति की, साथ ही जैनधर्मका भी अच्छा अभ्युत्थान हुआ। परन्तु जबसे उन उपदेशों तथा परामर्शोंकी उपेक्षा की गई तभीसे जैनसमाजका पतन हो रहा है और आज उसकी इतनी पतितावस्था हो गई है कि उसके अभ्युदय और समृद्धिकी प्राय: सभी बातें स्वप्न-जैसी मालूम होती हैं; और यदि कुछ पुरातत्त्वज्ञों अथवा ऐतिहासिक विद्वानों-द्वारा थोड़ासा प्रकाश न डाला जाता तो उन पर एकाएक विश्वास भी होना कठिन था। ऐसी हालतमें, अब ज़रूरत है कि जैनियोंकी प्रत्येक जातिमें ऐसे वीर पुरुष पैदा हों अथवा खड़े हों जो बड़े ही प्रेमके साथ युक्तिपूर्वक जातिके पंचों तथा मुखियाओंको उनके कर्तव्यका ज्ञान कराएँ और उनकी समाज-हित-विरोधिनी निरंकुश प्रवृत्तिको नियंत्रित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करें। ऐसा होने पर ही समाजका पतन रुक सकेगा और उसमें फिरसे वही स्वास्थ्यप्रद, जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन बह सकेगा जिसका बहना अब बन्द हो रहा है और उसके कारण समाजका सांस घुट रहा है। आशा है समाजके सभी शुभचिन्तक अपने वर्तमान कर्त्तव्यको समझेंगे और बड़ी दृढताके साथ उसके पालनमें दत्तचित्त होंगे।

२२

हम दुखी क्यों हैं?

दुखभरी हालत

इसमें कोई सन्देह नहीं और न किसीको कुछ आपत्ति है कि आज कल हमें सुख नहीं, आराम नहीं और चैन नहीं। हमारी बेचेनी, परेशानी और घबराहट दिन पर दिन बढ़ती जाती है; तरह तरहकी चिन्ताओंने हमको घेर रक्खा है; रात दिन हम इसी उधेड़-बुनमें रहते हैं कि किसी तरह हमको सुख मिले, हम सुखकी नींद सोएँ, हमारे दुख-दर्द दूर हों, हमारी गर्दनसे चिन्ताओंका भार उतरे और हमारी आत्माको शान्तिकी प्राप्ति हो। इसी सुख-शान्तिकी खोजमें—उसकी प्राप्तिके लिये– हम देशविदेशोंमें मारे मारे फिरते हैं,जंगल बियावानोंकी खाक छानते हैं, पर्वत-पहाड़ोंसे टक्करें लेते हैं, नदी-नालों और समुन्द्रों तकको लाँघने या उनकी छाती पर मूंग दलनेकी कोशिश करते हैं। इसके सिवाय, दिन रात तेलीके बैलकी तरह घरके धन्धोंकी पूर्तिके पीछे ही चक्कर लगाते रहते हैं; उन्हींके जालमें फँसे रहते हैं, उनका कभी ओड़ (अन्त) नहीं आता, उनकी पूर्ति और झूठी मान-बड़ाईके लिये धनकी चिन्ता हरदम सिर पर सवार रहती है, हरवक्त यही रट लगी रहती है कि 'हाय टका! हाय टका! टका कैसे पैदा हो! क्या करें कहाँ जाँय और कैसे करें!! किसी भी तरह क्यों न हो, टका पैदा होना चाहिये, तभी काम

चलेगा, तभी दुख मिटेगा। और इसलिये हर जायज़ नाजायज़ तरीकेसे—उचिताऽनुचितरूपसे—हम रुपया पैदा करनेके पीछे पड़े हुए हैं, उसीकी एक धुन और उसीका एक ख़ब्त (पागलपन) हमारे सिरपर सवार है और उसकी सम्प्राप्तिमें इतना संलग्न रहना होता है कि हमें अपने तन-बदनकी भी पूरी सुध नहीं रहती। फिर इन बातोंको तो कौन सोचे और कौन उनपर गहरा विचार करे कि 'हम कौन हैं, कहाँ से आए हैं, क्यों आए हैं, कैसे आए हैं, कहाँ जायँगे, कब जायँगे कैसे जायँगे, हमारा आत्मीय कर्तव्य क्या है, उसे पूरा करनेके लिये हमने कोई कार्रवाई की या नहीं, और हमें इस मनुष्य-शरीरको पाकर संसारमें क्या क्या काम करने चाहिये'। इन सब बातोंको सोचने और विचारनेका हमारे पास समय ही नहीं है। हमको इतनी फुर्सत कहाँ जो इस प्रकारके विचारोंके लिए भी कुछ वक्त दे सकें या ऐसे विचारोंके साहित्यको ही पढ़-सुन सकें? हमारी इधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। ग़रज़ यह कि अपने सुखकी सामग्रीको एकत्र करने अथवा जुटानेके लिये हमें रात-दिन खड़ी अँगुलियों नाचना पड़ता है और पूर्णरूपसे उसीमें संलग्न रहना होता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी—धन-दौलत और झूठी इज्ज़त पैदा करनेके यत्नमें इतना अधिक तत्परता होते हुए और उसे बहुत कुछ प्राप्त करते हुए भी—हमें सुख नहीं मिलता, शान्ति नसीब नहीं होती। चारों तरफ जिधर भी आँख उठाकर देखते हैं दुःख ही दुःख नज़र आता है—हमारे स्वजन परिजन, इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी, यार दोस्त, अड़ौसी-पड़ौसी, नगर और देहातके प्रायः सभी लोग दुख-दर्दसे पीड़ित हैं, हर ओरसे दुखदर्दभरी आवाजें ही सुनाई पड़ती हैं। अपना ही दुख दूर नहीं होता तब दूसरोंके दुखको मालूम करने और दूर करनेकी फ़िक्र कौन करे? कौन किसी पर दया अथवा रहम करे? कौन किसीको मदद करे? और कैसे कोई किसीके दुखदर्दमें काम आवे? हर एकको अपनी अपनी पड़ी है, अपने ही मतलबसे

मतलब है, अपनी स्वार्थसिद्धिके सामने दूसरोंकी जान, माल, इज़्ज़त और आबरू (प्रतिष्ठा) कोई चीज़ नहीं—उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। इस तरह और ऐसी हालतमें हमारा दुख घटनेकी जगह उलटा दिनपर दिन बढ़ रहा है और हमें चैन या सुख-शांति नहीं मिलती।

धार्मिक पतन

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि ऐसा क्यों हो रहा है? हमारा दुःख क्यों बढ़ रहा है? इसका सीधा सादा उत्तर, यद्यपि, यह दिया जा सकता है कि हममेंसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जा रहा है उसीका यह नतीजा है कि हम दुःखी हैं और हमारा दुःख बढ़ रहा है। और इस उत्तरकी यथार्थता अथवा उपयुक्ततापर कोई आपत्ति भी नहीं की जा सकती; क्योंकि धर्म सुखका कारण है और कारणसे ही कार्यकी सिद्धि होती है, इसे सबही मतमतान्तरके लोग मानते हैं। बड़े बड़े ऋषियों, मुनियों और महात्माओंने धर्मको ही लोक-परलोकके सभी सुखोंका कारण बतलाया है और यह प्रतिपादन किया है कि वह जीवोंको संसारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखोंमें धारण करनेवाला है। और वही अकेला एक ऐसा मित्र है जो परलोकमें भी साथ जाकर इस जीवके सुखका साधन बनता है--उसे सुखकी सामग्री प्राप्त कराता है—उसीसे आत्माका अभ्युदय और उत्थान होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। धर्मके स्वरूप पर विचार करनेसे भी ऐसा ही मालूम होता है—उसकी महिमा तथा शक्तिमें कुछ भी विवाद नहीं है। प्रत्युत इसके, अधर्म या पाप दुःखका कारण है, हरएक ज़िल्लत–मुसीबतका सबब अथवा दुर्गति–विपत्तिका निदान है। अतः हमारी मौजूदा दुखभरी हालत हमारे पापी आचरणकी दलील है, बुरे कर्मोंका नतीजा है और इस बातको ज़ाहिर करती है कि हममें धर्मका आचरण प्रायः नहीं रहा।

वास्तवमें, हम धर्म-कर्मसे बहुत गिर गये हैं और हमारा बहुत कुछ पतन हो चुका है। चाहे जिस आचरणको धर्मकी कसौटीपर कसिये, प्रायः पीतल या मुलम्मा मालूम होता है। हमारी पूजा, भक्ति, सामायिक, व्रत, नियम, उपवास, दान, शील, तप और संयम आदिकी जो भी क्रियाएँ धर्मके नामसे नामांकित हैं—जिनको हम 'धर्म' कहकर पुकारते हैं—उनमें भी धर्म प्रायः नहीं रहा है। वे भाव-शून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए थनोंके समान हैं[1]। बकरीके गलेके थन जिस प्रकार देखनेके लिये थन होते हैं—उनका आकार थनो जैसा होता है—परन्तु वे थनोंका काम नहीं देते, उनसे दूध नहीं निकलता। ठीक वही हालत हमारी उक्त धार्मिक क्रियाओं-की हो रही है। वे देखने-दिखानेके लिये ही धार्मिक क्रियाएँ हैं; परन्तु उनमें प्राण नहीं, जीवन नहीं, धर्मका भाव नहीं और न हमें उनका रहस्य ही मालूम है। वे प्रायः एक दूसरेकी देखादेखी, रीति-रिवाज-की पाबन्दी अथवा रूढिका पालन करने, धर्मात्मा कहलाने, यशःकीर्ति प्राप्त करने और या किसी दूसरे ही लौकिक प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये नुमाइशी तौरपर की जाती हैं। उनके मूलमें प्रायः अज्ञानभाव, लोकदिखावा, रूढिपालन, मानकषाय और दुनियासाज़ीका भाव भरा रहता है; यही उनकी कूक और यही उनकी चाबी-कुंजी है। उन क्रियाओंको सम्यकचारित्र नहीं कह सकते, सम्यक्चारित्रके लिये स-म्यग्ज्ञानपूर्वक होना लाज़िमी है और वह लौकिक प्रयोजनोंसे रहित होता है। जो क्रियाएँ सम्यक्ज्ञानपूर्वक अपना आत्मीय कर्तव्य समझ कर नहीं की जातीं, वे सब मिथ्या, झूठी अथवा नुमाइशी क्रियाएँ हैं, मिथ्याचारित्र हैं, और अन्त में संसारके दुःखोंका कारण हैं। और इसलिये, धार्मिक दृष्टिसे, हमारी इन धर्मके नामसे प्रसिद्ध होनेवाली

---

१. भावहीनस्य पूजादि-तपो-दान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठस्तनाविव ॥

वर्तमान क्रियाओंको 'सम्यक्चारित्र' न कहकर 'यांत्रिक चारित्र' अथवा जड-मशीनों-जैसा आचरणक हना चाहिये। उनसे धर्म-फल-की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि बिना भावके क्रियाएँ फलदायक नही होतीं[1]।

इसके सिवाय, जिधर देखिये उधर ही हिंसा, झूठ, चोरी, लूट-खसोट मारकाट सीनाजोरी विश्वासघात, रिश्वत–घूस, व्यभिचार, बलात्कार, विलासप्रियता विषयाशक्ति और फूटका बाजार गर्म है; छल-कपट, दंभ-मायाचार, धोखा, दग़ा, फ़रेब, जालसाज़ी और चालबाज़ीका दौरदौरा है; जूआ भी कुछ कम नहीं, और सट्टे ने तो लोगोंका बधना-बोरिया ही इकट्ठा कर रक्खा है; लोगोंके दिलोंमें ईर्षा, द्वेष, घृणा और अदेखसकाभावकी अग्नि जल रही है; आपस-के वैर-विरोध, मनमुटाव और शत्रुताके भावसे सीने स्याह अथवा हृदय काले हो रहे हैं; भाई भाईमें अनबन, बाप-बेटेमें खिचावट, मित्रों-मित्रोंमें वैमनस्य और स्त्री-पुरुषोंमें कलह है; चारों ओर अन्याय और अत्याचार छाया हुआ है; लोग क्रोधके हाथोंसे लाचार हैं, झूठे मानकी शानमें हैरान व परेशान हैं और लोभकी मात्रा तो इतनी बढ़ी हुई है तथा बढ़ती जाती है कि दयाधर्मके माननेवाले और अपनेको ऊँच जाति तथा कुलका कहनेवाले भी अब अपनी प्यारी बेटियोंको बेचने लगे हैं; उन्हें अपनी छोटी छोटी सुकुमार कन्याओंका हाथ बूढे बाबाओंको पकड़ाते हुए ज़रा भी संकोच नहीं होता, ज़रा भी तरस या रहम नहीं आता और न उनका वज्र हृदय ही ऐसा घोर पाप करते हुए धड़कता या काँपता है। फिर लज्जा अथवा शरम बेचारीकी तो बात ही क्या है ? वह तो उनके पास भी नहीं फटकती। प्रायः सभी जातियोंमें कन्याविक्रयका व्यापार

---

१. यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।
—कल्याणमंदिर

बढ़ा हुआ है, खूब सौदे होते हैं, असंतोष फैल रहा है और तृष्णाकी कोई हद नहीं। लोग मंदिर-मूर्तियों और धार्मिक संस्थाओं तकका माल हज़म कर जाते हैं, देवद्रव्यको खा जाने और तीर्थोंका माल उड़ा जानेमें उन्हें कोई संकोच नहीं होता। इधर झूठी मान-बड़ाई-के लोलुपी अथवा मिथ्या प्रतिष्ठाके उपासक, विधवाओंके गर्भ गिरा-कर या उनके नवजात बच्चोंको, प्रसव गुप्त रखनेके अभिप्रायसे, बन-उपवन, कूप-बावड़ी नदी-सरोवर या संडास आदिमें डालकर अथवा जीता गाड़कर, गर्भपात और बालहत्यादिकके अपराधोंकी संख्या बढ़ा रहे हैं। और अब तो कहीं कहींसे रोंगटे खड़े करनेवाले ऐसे दुराचार भी सुननेमें आने लगे हैं कि एक प्रतिष्ठित पुरुष अपनी स्त्री-के पेटसे लड़का पैदा करनेकी धुनमें, नहीं नहीं पागलपनमें, दूसरे मनुष्यके निर्दोष बच्चेको मारकर उसके गर्म गर्म खूनसे अपनी गर्भ-वती स्त्रीको नहलाता और खुश होता है। ओह ! कितना भयंकर दृश्य है !?! कितनी संगदिली अथवा हृदयकी कठोरता है !! धर्मका, श्रद्धाका, मनुष्यताका कितना दिवाला और आत्माका कितना अधिक पतन है !!! खुदग़रज़ीकी भी हद हो गई !!! ये सब बातें धर्मके पतन और उसकी हममें अनुपस्थितिको दिनकर-प्रकाशकी तरहसे प्रकट कर रही हैं। ऐसी हालतमें 'हममेंसे धर्म उठ गया' यह कहना कुछ भी अनुचित या बेजा नहीं है।

परंतु फिर यह सवाल पैदा होता है कि धर्म क्यों उठ गया ? किन कारणोंसे हम उसे छोड़ने अथवा उसकी तरफ़ पीठ देनेके लिए मज़बूर हो रहे हैं ? क्यों उसके धारण या पालन करनेमें हमारी प्रवृत्ति नहीं होती ? और इसलिये हमारा दुःख क्यों बढ़ रहा है इस प्रश्नका यह उत्तर कि 'हममेंसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जाता है' ठीक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है—काफी नहीं है। इतने परसे ही हमारी संतुष्टि अथवा भरपाई नहीं होती—हमारे ध्यानमें अपने दुःखोंके कारणोंका नक़शा पूरी तौरसे नहीं बैठता—

हमें स्पष्टताके साथ यह जाननेकी जरूरत है कि हमारा दुःख क्यों बढ़ रहा है ? वास्तवमें जो कारण हमारे दुःखके बढ़नेका है वही हममेंसे धर्मके उठ जानेका है। एकके मालूम होनेपर दूसरेको मालूम करनेकी जरूरत नहीं रहती। एक सवालके अच्छी तरहसे हल हो जानेपर दूसरा ख़ुद-ब-ख़ुद (स्वयमेव) हल हो जाता है; और इसलिये हमें वह ख़ास कारण मालूम करना चाहिये जिसकी वजहसे हमारा दुःख बढ रहा है या हममें से धर्म उठ गया और उठता जाता है।

आवश्यकताओंकी वृद्धि

जहाँ तक मैंने इस मामलेपर गौर तथा विचार किया और उसके हर पहलू पर नज़र डाली, हमारे दुःखोंका प्रधान कारण सिवाय इसके और कुछ प्रतीत नहीं होता कि 'हमने अपनी ज़रूरियातको—आवश्यकताओंको—फ़िज़ूल बढ़ा लिया है, वैसा करके अपनी आदत, प्रकृति और परिणतिको बिगाड़ लिया है और दिनपर दिन उनमें और वृद्धि करते चले जाते हैं। फ़िज़ूलकी ज़रूरियातका बढ़ा लेना ऐसा ही है जैसा कि अपनेको ज़ंजीरोंसे बाँधते जाना। एक हाथी पैरमें ज़ंजीरके पड़ जानेसे ही पराधीन हो जाता है—अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे घूम-फिर नही सकता—उसको वह सुख नसीब नहीं होता जो स्वाधीनतामें मिलता था। पराधीनतामें सुख है ही नहीं। कहावत भी प्रसिद्ध है—'पराधीन सुपनेहु सुख नाही'। फिर जो लोग चारों तरफ़से ज़ंजीरोंमें जकड़े हुए हों—फ़िज़ूलकी ज़रूरियातके बन्धनोंमें बँधे हों—उनकी पराधीनताका क्या ठिकाना है ? और उन्हें यदि सुख न मिले—शाँति नसीब न हो—तो इसमें आश्चर्य तथा विस्मयकी बात ही क्या है ? व्यर्थकी ज़रूरियातको बढ़ा लेना वास्तवमें दुःखोंको निमंत्रण देना ही नहीं, उन्हें मोल ले लेना है।

एक मनुष्य छह सौ रुपये मासिक वेतन (तनख्वाह) पाता है

और दूसरा पचास रुपये मासिक। पचास रुपये पानेवाले भाईकी तरक्क़ी (वृद्धि) होकर सौ रुपये मासिक हो गये और छह सौ रुपये मासिक पानेवाले भाईकी तनज्जुली (पदच्युति) ने एकदम दो सौ रुपयेकी रकम कम कर दी; और उनकी तनख्वाह सिर्फ़ चार सौ रुपये मासिक रह गई। पचास रुपये पानेवाला भाई अपनी उन्नति तथा पदवृद्धिके समाचार पाकर खुश हो रहा है, आनंद मना रहा है, अंगमें फूला नहीं समाता और इष्टमित्रोंमें मिठाइयां बाँटता है। प्रत्युत इसके, छह सौ रुपये माहवारका तनख्वाहदार (वेतन-भोगी) अपनी अवनति अथवा पदच्युतिकी खबर पाकर रो रहा है, भींक रहा है, दुःखितचित्त और शोकातुर हुआ सोच रहा है कि 'मुझसे कौनसी खता अथवा चूक हुई ? क्या अपराध बन गया ? मैंने कौनसा बिगाड़ किया, जिससे मेरा दर्जा घटा दिया गया ? किसने मेरी चुग़ली की ? किसने आफ़ीसर (हाकिम) के सामने मेरी झूठी-सच्ची बातें ज़ाहिर कीं ? हाय ! मेरी तक़दीर फूट गई ! भाग्य उलट गया ! ! अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और कैसे करूँ ! ! बड़ा दुःख है ! ! !'

इन दोनों भाइयोंके अन्तःकरणकी हालतको यदि ठीक तौरसे देखा जा सके, तो इसमें संदेह नहीं कि बड़ी तनख्वाहवाला दुखी और छोटी तनख्वाहवाला सुखी मिलेगा। परंतु यह क्यों ? रुपयेकी कमी-बेशी ही यदि सुख-दुखका कारण हो, तो बड़ी तनख्वाहवाले को, जिसकी तनख्वाह घट जानेपर भी दूसरे तरक्की पानेवाले भाईसे चौगुनी रहती है, ज्यादा सुखी होना चाहिये—उसके सुखकी मात्रा दूसरेसे चौगुनी नहीं तो तिगुनी या दुगुनी तो ज़रूर होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, वह दूसरेके बराबर भी अपनेको सुखी अनुभव नहीं करता। इसकी वजह है और वह यह है कि, पचास रुपये पाने वाले भाईने तो अपनी ज़रूरियातको पचास रुपयेकी बना रक्खा था—पचास रुपयेके भीतरही अपने सम्पूर्ण खर्चोंको परिमित

कर रक्खा था—वेतन आते ही आटा, दाल, घी, तेल, नमक, मिरच, मसाला, कपड़ा लत्ता, जेवर और रिज़र्व फंड वगैरह सब विभागोंमें वह उसका बटवारा कर देता था। अब वेतनके बढ़ जानेपर एकदम पचास रुपयेको बचत होने लगी और खर्च प्रायः ज्योंका त्यों रहा, इससे उसे आनंद ही आनंद मालूम होने लगा। परन्तु छह सौ रुपये वाले भाईकी हालत दूसरी थी—उसकी ज़रूरियात पचास रुपये या सौ दोसौ रुपयेकी नहीं थी बल्कि छह सौ रुपये मासिकसे भी बढ़ी हुई थी। उसने अपनी ज़ाहिरी हैसियत अथवा स्थितिको छह सौ रुपये से भी अधिककी बना रक्खा था—नौकर चाकर, घोड़ा गाड़ी, बाग़ बगीचे, फूल फुलवाड़ी, कमरेकी शोभा सजावट वगैरह सब तरहका साज़ सामान था; रोज़ाना हजामत बनती थी; तीसरे दिन पोशाक बदली जाती थी; हर साल घरभरके लिये अच्छे नये नये कपड़े सिलते थे और दो चार बार पहनकर ही रद्दी कर दिये जाते थे; मेहमानोंकी सेवा-शुश्रूषा भी खूब दिल खोलकर होती थी; घरमें मेवा, मिठाई, फल, फूल और नाना प्रकारके भोजनोंकी हरदम रेल पेल अथवा चहल पहल रहती थी; स्त्रियाँ देवांगनाओं जैसे वस्त्राभूषणोंसे भूषित नज़र आती थीं, उनके जेवरोंकी कोई संख्या अथवा सीमा न थी; और बच्चे मखमल, कीमख्वाब, अतलस तथा रेशमसे घिरे हुए और ज़री तथा सलमासितारेके कामोंसे जड़े हुए मालूम होते थे; नाटक थियेटरका भी शौक चलता था, प्रायः दो चार मित्रोंको साथ लेकर और उनका भी खर्च स्वयं उठाकर ही वह उन तमाशोंको देखने जाया करता था; बाक़ी विवाह-शादीके खर्चोंका तो कोई परिमाण अथवा हिसाब ही नहीं था—उनके लिये तो अकसर क़र्ज भी ले लिया जाता था और साथ ही पूर्वजोंकी पैदा की हुई सम्पत्ति (जायदाद) का भी सफ़ाया बोल दिया जाता था। अब एकदम दोसौ रुपये मासिककी आमदनी कम हो जानेसे उसको फ़िक्र पड़ी और चिन्ताने आघेरा। वह सोचने लगा कि 'किसी नौकरको हटा दूँ, गाड़ी टमटम

वगैरहमेंसे किसीको अलग कर दूँ, कमरेकी शोभा-सजावट और अपने मनोविनोद (दिल बहलाव)का सामान कम करदूँ, महमानोंकी सेवा-सुश्रूषामें आनाकानी करने लगूँ या उसमें कमी करदूँ, स्त्रियों तथा बच्चोंका पहनावा बदलदूँ या उसे कुछ घटिया करदूँ, इष्ट-मित्रोंसे आँखें चुराने लगूँ, नाटक-थियेटरमें जाना या वहाँ खास सीटोंका रिज़र्व कराना बन्द करदूँ, खाने-पीनेकी सामग्री जुटानेमें किफायत और अहतियातसे काम लेने लगूँ और या विवाह-शादी वगैरहके खर्चोंमें कोई आदर्श कमी करदूँ'। गरज़, जिस चीज़को कम करने, घटाने या बदलने वगैरहकी बात वह सोचता है उसीसे उसके दिलको धक्का लगता है, चोट पहुँचती है हैसियत अथवा पोज़ीशनके बिगड़ने और शानमें बट्टा लग जानेका ख़याली भूत सामने आकर खड़ा हो जाता है; वह जिस ठाट-बाट, साज-सामान और आन बानसे अब तक रहता आया है, उसीमें रहना चाहता है; अभ्यासके कारण वे सब बातें उसकी आदत और प्रकृतिमें दाखिल हो गई हैं; उनमें ज़रा भी कमी या तबदीली उसे बहुत ही अखरती है और इस तरह वह दुःख ही दुःख महसूस (अनुभव) करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि अधिक धनके नशेमें जिन ज़रूरियातको फ़िज़ूल बढ़ा लिया था वे ही अब उसके गलेका हार बनी हुई हैं, उन्हें न तो छोड़े सरता है और न पूरा किये बनता है, दोनों पाटोंके बीच जान अजब अज़ाबमें अथवा संकटापन्न है। और इससे साफ़ ज़ाहिर है कि ज़रूरियातको फ़िज़ूल बढ़ा लेना अपने हाथों खुद दुःखोंको मोल ले लेना है—जो जितना ज्यादा अपनी ज़रूरियातको बढ़ाता है वह उतना ही ज्यादा अपनेको दुःखोंके जालमें फँसाता है।

× × ×

दुःख-सुख-विवेक

यहाँपर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि बढ़ी हुई ज़रूरियातके पूरा न होनेमें ही दुख नहीं है, बल्कि उनको पूरा करनेमें भी नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं—उनकी सामग्रीके जुटानेका फ़िक्र, जुटाई अथवा एकत्र की हुई सामग्रीकी रक्षाकी चिन्ता, रक्षित सामग्रीके खोए जाने या नष्ट हो जानेका भय और फिर उसके जुदा हो जाने, गिरने पड़ने, फूटने, गलने-सड़ने, बिगड़ने, मैली-कुचैली, बेआब और बेकार हो जानेपर दिलकी बेचैनी, परेशानी, अफ़सोस, रंज, खेद और शोक; इष्ट सामग्रीके साथ अनिष्टका संयोग हो जानेपर चित्तकी व्याकुलता, घबराहट और उसके वियोगके लिये तड़प; और साथही इन सबके संसर्ग अथवा सम्बंधसे नई-नई चीजोंके मिलने मिलाने या दूसरे साज-सामानके जोड़नेकी इच्छा और तृष्णा। ये सब भी दुखकी ही पर्यायें हैं—उसीकी जुदागाना शकलें अथवा विभिन्न अवस्थाएँ हैं। दुःखके विरोधी सुखका लक्षण ही निराकुलता है और वह चिन्ता, भय, शोक, खेद, अफ़सोस, रंज, बेचैनी, परेशानी, आकुलता, घबराहट, इच्छा, तृष्णा, बेताबी और तड़प वगैरह दुःखकी पर्यायोंसे रहित होता है। जहाँ ये नहीं, वहाँ दुःख नहीं और जहाँ ये मौजूद हैं वहाँ सुखका नाम नहीं। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि यदि दुःखकी ये पर्यायें—शकलें और हालतें—बनी हुई हैं, तो कोई मनुष्य बाहरके बहुतसे ठाट-बाट, साज-सामान और वैभवके होते भी सुखी नहीं हो सकता।

उदाहरणके लिये लीजिये, एक ऐसे मनुष्य को जिसे १०५ दर्जेसे भी ऊपरका बुखार (ज्वर) है और इसलिये उसकी बेचैनी और परेशानी बढ़ी हुई है; उसको रेशमकी डोरीसे बुने हुए, मखमल बिछे हुए सोने चाँदीके पलंग पर लिटा देने और ऊपरसे कीमख्वाब का ज़रीदोज़ चँदोवा बांध देनेसे क्या उसके उस दुःखमें कोई कमी हो

सकती है ? कदापि नहीं। एक दूसरे आदमीके पास खूब धन-दौलत, ज़मीन, जायदाद, ज़ेवर कपड़े, महल मकान, हाट दुकान, बाग-बगीचे, नौकर-चाकर, घोड़ा, गाड़ी, रथ, बहल, सुशीला स्त्री, आज्ञाकारी बच्चे और प्रेमी भाई-बहन वगैरह सब कुछ विभूति मौजूद है। आप कहेंगे कि वह बड़ा सुखी है। परन्तु उसके शरीरमें एक असाध्य रोग होगया है, जो बहुत कुछ उपचार करनेपर भी दूर नहीं हो सका। उसकी वजहसे वह बहुत ही हैरान और परेशान है, उसको किसी भी चीज़में आनंद मालूम नहीं होता और न किसीका बोल सुहाता है; वह अलग एक चारपाई पर पड़ा रहता है, मूँगकी दालका पानी भी उसको हजम नहीं होता---नहीं पचता-- दूसरोंको नानाप्रकारके भोजन और तरह तरहकी चीजें खाते पीते देखकर वह झुरता है, अपने भाग्यको कोसता है, और जब उसे संसारसे अपने जल्दी उठ जाने और उस संपूर्ण विभूतिके वियोगका खयाल आ जाता है, तो उसकी वेदना और तड़पका ठिकाना नहीं रहता, वह शोकके सागरमें डूब जाता है, और तब उसकी वह सारी विभूति मिलकर भी उसे उस दुःखसे निकालनेमें ज़रा भी समर्थ नहीं होती।

अब एक तीसरे ऐसे शख्शको लीजिये जिसके पास उपर्युक्त संपूर्ण विभूतिके साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्यकी-- तन्दुरुस्तीकी— भी खास सम्पत्ति मौजूद है और जो खूब हट्टा-कट्टा, हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान् और ताक़तवर बना हुआ है। उसे तो आप ज़रूर कहेंगे कि वह पूरा सुखिया है। परन्तु उसके पीछे फ़ौजदारीका एक ज़बरदस्त मुक़द्दमा लगा हुआ है, जिसकी वजहसे उसकी जान अज़ाबमें अथवा संकटापन्न है। वह रात-दिन उसीके फ़िक्रमें डूबा रहता है। चलते-फिरते, खाते-पीते और सोते-जागते उसीकी एक चिंता और उसीकी एक धुन उसके सिरपर सवार है; उसकी मौजूदगीमें अपना सब ठाट-बाट और साज-सामान उसे फीका फीका नज़र आता है। रसोईमें छत्तीस प्रकारके भोजन तय्यार हैं और स्त्री बड़ी विनय-भक्तिके साथ

लघुपुत्र-सहित खड़ी हुई प्रेमभरे शब्दोंमें प्रार्थना कर रही है कि 'हे नाथ ! कुछ थोड़ासा भोजन तो जरूर कर लीजिये'। परन्तु उसे इस सम्पूर्ण आनन्दकी सामग्रीमें कुछ भी आनन्द और रसका अनुभव नहीं होता, वह बड़ी उपेक्षा, बेरुखी अथवा भुंझलाहटके साथ उत्तर देता है कि तुझे भोजनकी पड़ी है यहाँ जानको बन रही है, दस बज गये, रेलका वक्त हो गया, मुकद्दमेकी पेशी पर जाना है !!' इससे साफ़ ज़ाहिर है कि चिन्ता आदिसे अभिभूत होनेपर—फ़िक्रात वग़ैरहके ग़ालिब आने पर—बाहरकी बहुतसी सुन्दर विभूति और उत्तमसे उत्तम सामग्री भी मनुष्यको सुखी नहीं बना सकती—वह प्रायः दुःखोंसे ही घिरा रहता है। अनेक कवियोंने तो चिन्ताको चिताके समान बतलाया है[१]। दोनोंमें भेद भी क्या है ? एक नुक्ते या बिन्दीका ही तो भेद है। उर्दूमें लिखिये तो चितापर चितासे एक नुक्ता (˙) ज्यादा आएगा और हिन्दीमें लिखनेसे एक बिंदी अधिक लगानी होगी। परन्तु इस नुक्ते या बिन्दीने ग़ज़ब ढा दिया ! चिता तो मुर्देको जलाती है परन्तु चिंता जीवितको भस्म कर देती है !! जिस शरीररूपी बनमें यह चिंता-ज्वाला दावानलकी तरहसे खेल जाती है, उसमें प्रकटरूपसे धुँआ नज़र न आते हुए भी भीतर ही भीतर धुँआँधार रहता है, काँचकी भट्टीसी जलती रहती है और उससे शरीरका रक्त-मांस सब जल जाता है, सिर्फ हाड़ोंका पंजर ही पंजर चमड़ेसे लिपटा हुआ शेष रह जाता है। ऐसी हालतमें जीवनका रहना कठिन है, यदि कुछ दिन रहा भी तो उस जीनेको जीना नहीं कह सकते। इसीसे ऐसे लोगोंके जीवनपर आश्चर्य प्रकट करते हुए कविराय गिरधरजी लिखते हैं—

चिंता ज्वाल शरीर बन दावानल लग जाय।

---

१. चिंता चिता समाख्याता बिन्दुमात्रविशेषतः।
सजीवं दहते चिंता निर्जीवं दहते चिता ॥

प्रगट धुआँ नहिं देखिये उर अन्तर धुँधवाय ॥
उर अन्तर धुँधवाय जले ज्यों काँचकी भट्टी।
रक्त-मांस जर जाय रहे पिंजर को टट्टी ॥
कहै गिरधर कविराय सुनो रे मेरे मिता।
वे नर कैसे जियें जाहि तन व्यापी चिंता ॥

निःसन्देह, चिंता ऐसी ही बुरी चीज़ है, वह मनुष्यको खा जाती है और उसकी जननी ज़रूरियातकी अफज़ूनी—आवश्यकताओंकी वृद्धि—है। जितनी जितनी ज़रूरियात बढ़ती जाती हैं उतनी उतनी चिंताएँ पैदा होती जाती हैं। इसीसे भगवान महावीर और दूसरे धर्माचार्योंने गृहस्थोंके लिये ज़रूरियातको घटानेकी—परिग्रहको कम करके संतोष धारण करनेकी—बात कही है, परिग्रहको पाप लिखा है और अधिक आरंभी तथा अधिक परिग्रह को नरकका अधिकारी अथवा महमान बतलाया है। अतः सुखप्राप्तिके लिये ज़रूरियातको कम करना कितना ज़रूरी और लाज़िमी है, इसे बुद्धिमान पुरुष स्वयं समझ सकते हैं।

वास्तवमें सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कहींपर बिकती हो, किसी दुकान, हाट या बाजारसे किसी भी कीमतपर खरीदी जा सके, किसीकी खुशामद, सिफ़ारिश या प्रेरणासे मिल सके या बदला करके लाई जा सके; बल्कि वह आत्माका निज गुण है—आत्मासे बाहर उसकी कहीं भी सत्ता नहीं है। संसारी जीव आत्माको भूल रहे हैं और इसलिये अपनी आत्मामें सुखकी जो अनुपम तथा अपार निधि गड़ी हुई है, उसे नहीं पहचानते और न उसकी प्राप्तिके लिये कोई यथेष्ट उपाय ही करते हैं। वे अपनी आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमें सुखकी कल्पना किये हुए हैं, उनको ही अपने सुखका एक आधार मान बैठे हैं—उन्हें ही सब कुछ समझ रहे हैं—और इसलिये उन्हींके पीछे भटकते और उन्हींकी प्राप्तिके लिये रात दिन हैरान-परेशान और दत्ताबधान हुए मारे मारे फिरते हैं। परन्तु उनको यह खबर नहीं कि

पर-पदार्थ तीन कालमें भी अपना नहीं हो सकता और न जड़ कभी चेतन बन सकता है, उसे अपना समझकर सुखकी कल्पना कर लेना भूल है; उसके संयोगके साथ वियोग लगा हुआ है—जिसका कभी संयोग होता है उसका एक न एक दिन वियोग ज़रूर होता है—चाहे वह हमसे पहले बिछुड़ जाय और या हम ही उससे पहले चलते बनें, ग़रज़ वियोग ज़रूर होता है। और जिसके संयोगमें सुख मान लिया जाता है अथवा यों कहिये कि माना हुआ होता है, उसके वियोगमें नियमसे दुःख उठाना पड़ता है। इसलिये ऐसे सब ही परपदार्थ अंतको दुःखके कारण होते हैं। बीचमें भी किसी चिन्ता आदिके उपस्थित हो जानेपर उनका सारा सुख हवा हो जाता अथवा काफूर बन जाता है। अपनी ही खास स्त्रीकी बाबत यदि यह मालूम हो जाय कि वह अब बदचलन या दुःशीला हो गई है—गुप्त व्यभिचार करती है—तो उसके साथ मिलने जुलनेका आनन्द जाता रहे; एक मित्रकी बाबत यदि यह पता चल जाय कि वह परोक्षरूपसे अपनेको हानि पहुँचाता है तो मित्रका सारा मज़ा किरकिरा हो जाय; और यदि एक अच्छे प्यारे सुन्दर तथा सुडौल बने हुए मकानकी बाबत बादको यह बात दिलमें बैठ जाय कि वह मनहूस है—अशुभ अथवा अमांगलिक है—तो वह उसी वक्तसे अपनेको काटने लगे और उसमें रहना भारी पड़ जाय। दूसरे चेतन-अचेतन पदार्थोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है।

इसी तरह उनको यह भी खबर नहीं कि बाह्य पदार्थोंमें जो सुखका अनुभव होता है वह खास उन पदार्थोंका अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाला सुख नहीं; बल्कि उनकी प्राप्तिके लिये हमारे अन्तःकरणमें जो एक प्रकारकी तड़प, वेदना या तृष्णा हो रही थी उसकी यत्किंचित् शान्तिका सुख है। यदि वैसी कोई वेदना, तड़प या तृष्णा न हो, तो उन पदार्थोंके सम्बन्धसे कुछ भी सुखका अनुभव नहीं किया जा सकता; और इसीलिये वह सुखकी अनुभूति प्रायः वेदनाके अनुकूल होती है—वेदनाकी कमी-बेशी आदिकी अवस्था

अनुसार बाह्य पदार्थोंके सम्बन्ध पर आधार रखती है। यदि ऐसा न माना जाय, बल्कि उन बाह्य पदार्थोंको ही स्वयं सुखका मूलकारण समझ लिया जाय तो चार रोटी खानेवालेको आठ रोटी खा लेनेसे डबल सुख होना चाहिये और जाड़ोंके लिहाफ़ वगैरह भारी गर्म कपड़ोंको सख्त गर्मीके दिनोंमें ओढ़ने-पहननेसे जाड़ों-जैसा आनन्द मिलना चाहिये। परन्तु मामला इससे बिल्कुल उलटा है— आठ रोटी खा लेनेसे उस आदमीकी जान पर आ बने, पेट फूल जाय, दर्द या क़ै (वमन) होने लगे अथवा चूर्ण-गोलीकी ज़रूरत खड़ी हो जाय; और जाड़ोंके वे भारी भारी गर्म कपड़े गर्मियोंमें पहनने-ओढ़नेसे चित्त एकदम घबरा उठे और सिरमें चक्कर आने लगे। इससे स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थोंमें स्वयं कोई सुख नहीं रक्खा है और न वेदनाके पैदा होते रहने और उसका इलाज या उपचार करते रहनेमें ही कोई सुख है; बल्कि उसके पैदा न होने और इलाज तथा उपचारकी ज़रूरत न पड़नेमें ही सुख है।

वास्तवमें यदि ध्यानसे देखा जाय तो पर-पदार्थोंमें सुख है ही नहीं, उनमें सुखका आधार एक मात्र हमारी कल्पना है और उस कल्पित सुखको सुख नहीं कह सकते, वह सुखाभास है - सुखसा दिखलाई देता है—मृगतृष्णा है। और इसलिये पर-पदार्थोंमें सुख कल्पित करनेवालोंकी हालत ठीक उन लोगों-जैसी है जो एक पर्वतकी दो चोटियोंके मध्य-स्थित सरोवरमें किसी बहुमूल्य हारके पीछे गोते लगाते और लगवाते हुए बहुत कुछ थक गये थे, उनको पानीमें वह हार दिखलाई तो ज़रूर पड़ता था लेकिन पकड़नेपर इधरसे उधर उचक जाता था—हाथमें नहीं आता था, और इसलिये वे बहुत ही हैरान तथा परेशान थे कि मामला क्या है ? इतनेमें एक जानकार शख्सने आकर उन्हे बतलाया था कि 'हार उस सरोवरमें नहीं है, और इसलिये कोटि वर्ष-पर्यन्त बराबर गोते लगाते रहने पर भी तुम उसे नहीं पा सकते, वह इस सरोवरके बहुत

ऊपर पर्वतकी दोनों चोटियोंके अग्रभागसे बँधे हुए एक तारके बीचमें लटक रहा है और अपने प्रतिबिम्बसे जलको प्रतिबिम्बित कर रहा है। यदि तुम उसे लेना चाहते हो, तो ऊपर चढ़कर वहाँ तक पहुँचनेकी कोशिश करो, तभी तुम उसे पा सकोगे; अन्यथा नहीं-- तुम्हारी यह गोताखोरी अथवा जलावगाहनकी क्रिया व्यर्थ है।'

इसमें सन्देह नहीं कि जो चीज़ जहाँ मौजूद ही नहीं वह वहाँ पर कितनी भी ढूंढ खोज क्यों न की जाय कदापि नहीं मिल सकती। कोई चीज़ ढूंढने अथवा तलाश करनेपर वहीसे मिला करती है जहाँपर वह मौजूद होती है। जहाँ उसका अस्तित्व ही नहीं वहाँसे वह कैसे मिल सकती है ? सुख चूँकि आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें नहीं है इसलिये उन पदार्थोंमें उसकी तलाश फिजूल है, उसे अपनी आत्मामें ही खोजना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि वह कैसे कैसे कर्मपटलोंके नीचे दबा हुआ है, हमारी कैसी परि-णतिरूपी मिट्टी उसके ऊपर आई हुई है और वह कैसे हटाई जा सकती है। परन्तु हम अपनी आत्माकी सुध भूले हुए हैं, उसकी सुख-की निधिसे बिल्कुल ही अपरिचित्त और अनभिज्ञ हैं और इसलिये सुखकी तलाश आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें - विजातीय वस्तुओं-में--करते हैं। सुखकी प्राप्तिके लिये उन्हींके पीछे पड़े हुए है— यहाँसे भी सुख मिलेगा, यह भी हमको सुख दे सकेगा इसी प्रकारके विचारोंसे बँधे हुए हम उन्हीं पदार्थोंका संग्रह बढ़ाते जाते हैं, उन्ही-की ज़रूरियातको अपने जीवनके साथ चिपटाते रहते है और इस तरह खुद ही अपनेको दुःखोंके जालमें फँसाते और दुखी होते हैं, यह अजब तमाशा है !!

× × ×

अपनी भूल

एक तोता नलिनी पर आकर बैठता है और उसकी नलीके घूम जाने से उलटा होकर उसे पकड़े हुए लटका रहता है, उड़नेकी खुली शक्ति होते हुए भी नहीं उड़ता, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यही है कि वह उस वक्त अपनी आकाश-गतिको भूल जाता है, उड़नेकी शक्तिका उसे ध्यान नहीं रहता और यह समझने लगता है कि मुझे इस नली ने पकड़ रक्खा है। यद्यपि उस नलीने उसे ज़रा भी नहीं पकड़ा, उसने खुद ही अपने पंजोंसे उसे दबा रक्खा है, वह चाहे तो अपने पंजोंको खोलकर उस नलीको छोड़ सकता है और खुशीके साथ आकाशमें उड़ सकता है। परन्तु अपनी भूल और ना-समझीकी वजहसे वह वैसा न करके उलटा लटका रहता है और फिर शिकारीके हाथमें पड़कर तरह तरहके दुःख तथा कष्ट उठाता है। ठीक ऐसी ही हालत हमारी है, हम अपने आत्माके स्वरूप और उसके सुखस्वभावको भूले हुए हैं और यह ग़लत समझे हुए हैं कि इन परिग्रहों अथवा ज़रूरियातने, जिनको हमने ही बढ़ाया और हमने ही अपने पीछे लगाया है, हमारा पिंड पकड़ रक्खा है और वे अब हमको छोड़ते नहीं हैं। इसीसे उस तोतेकी तरह हम भी नाना प्रकारके बन्धनोंमें पड़कर दुःखोंमें अपना आत्म-समर्पण कर रहे हैं—अपनेको दुःखोंकी भेंट चढ़ा रहे हैं। हमारी इस दशा-को ध्यानमें रखते हुए ही कविवर पं० दौलतरामजीने यह वाक्य कहा है :—

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यों शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ ॥

यह वाक्य हम पर बिल्कुल चरितार्थ होता है। यदि अब भी हम अपनी भूलको सुधारलें और अपने सुख-दुखके साधनों तथा कारणोंको ठीक तौरपर समझ जायें तो हम आज भी अपनी ज़रूरि-

यातको घटाकर, परिग्रहको कम करके और रीतिरिवाजको बदलकर बहुत कुछ सुखी हो सकते हैं। यह सब हमारे ही हाथका खेल है और उसे करनेके लिये हम सब प्रकारसे समर्थ हैं—सिर्फ भूलका ज्ञान और उसके सुधारके लिये मनोबलकी ज़रूरत है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे यदि हमें सुख मिल सकता है, तो वह तभी मिल सकता है जब कि जगतके सम्पूर्ण पदार्थ हर वक्त हमारी इच्छाके अनुसार प्रवर्त्ता करें—उनके सम्पूर्ण परिवर्तन अथवा अलटन-पलटन और उनकी गति-स्थितिको लिये हुए समस्त क्रियाएँ हमारी मर्ज़ी तथा रुचिके अनुकूल हुआ करें। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता; क्योंकि उन पदार्थोंका परिणमन—उनमें किसी परिवर्तन अथवा क्रिया-प्रक्रियादिका होना स्वयं उनके अधीन है—उनके स्वभाव आदिके आश्रित है—हमारे अधीन नहीं।

जो लोग उनको सब तरहसे अपने अधीन चाहते हैं और खाली इस प्रकारकी कामनाएँ किया करते है कि—इस वक्त वर्षा हो जाय, क्योंकि सख्त गर्मी पड़ रही है या हमारा खेत सूखा जा रहा है; इस समय वर्षा न होवे या बन्द हो जाय, क्योंकि हम सफ़र (यात्रा) में हैं या सफ़रको जा रहे हैं; हमारे मकान टपके नहीं, उनमें वर्षाकी बौछार न आवे, जाड़ोंमें ठँडी और गर्मियोंमें गर्म हवा न घुसे, वे ज्योंके त्यों बने रहें, टूटें-फूटें भी नहीं और न मैले-कुचैले ही हों; हमारे शरीरमें कोई रोग पैदा न हो, कोई बीमारी हमारे पास न आए, हम खूब हृष्ट-पुष्ट, तन्दुरुस्त, बलवान और जवान बने रहें; हमारे बाल भी सफ़ेद न होने पाएँ; हमारे कपड़े जैसे तैसे उजले और नए बने रहें वे फटें भी नहीं और न उनपर कहीं कोई दाग़ धब्बा या खुरे आदिका निशान ही होने पावे; हमारी किसी चीज़को नुकसान न पहुँचे, किसीका रंग रूप भी न बिगड़े और न कोई घिसे या-घिसावे; हमको किसी भी इष्ट वस्तुका वियोग न सहना पड़े, हमारे

कुटुम्बके सब लोग तथा मित्रादिक कुशल-क्षेमसे रहें हमें उनमेंसे एक का भी दु:ख न देखना पड़े; हमारा कोई विरोधी या शत्रु पैदा न हो, किसी अनिष्टका हमारे साथ संयोग न हो सके, हमारी पैदा की हुई इज्ज़त प्रतिष्ठा या बातमें किसी तरह भी फ़र्क़ न आवे—वह ज्यों की त्यों बनी रहे—और हम सब प्रकारके आनंद तथा सुख भोग करते हुए चिरकाल तक जीवित रहें; वगैरह वगैरह। ऐसे लोग फ़िज़ूल हैरान तथा परेशान होते हैं और व्यर्थ ही अपनेको दुखी बनाते हैं; क्योंकि उन कामनाओंका पूरा होना सब तरहसे उनके अधीन नहीं होता, वे जिन सुखोंको चाहते हैं वे सब बहुत कुछ पराश्रित और पराधीन हैं और पराधीनतामें कहीं भी सुख नहीं है। सुखका सच्चा उपाय 'स्वाधीन-वृत्ति' है। जितनी जितनी स्वाधीनता—आज़ादी और खुदमुख्तारी—बढ़ती जाती है, दूसरेकी बीचमें ज़रूरत या अपेक्षा नहीं रहती, उतनी उतनी ही हमारे सुखमें बढ़वारी होती जाती है; और जितनी जितनी पराधीनता—गुलामी, मुहताजी और बेबसी—उन्नति करती जाती है उतनी-उतनी ही हमारे दु:खमें वृद्धि होती जाती है। फिज़ूलकी ज़रूरियातको बढ़ा लेनेसे पराधीनता बढ़ती है और उससे हमारा दुख बढ़ जाता है। अत: हमको, जहाँ तक बन सके, अपनी ज़रूरियातको बढ़ाना नहीं चाहिये; बल्कि घटाना चाहिये और ऐसी तो किसी भी ज़रूरतका अपनेको आदी, व्यसनी या वशवर्ती न बनाना चाहिये जो फ़िज़ूल हो या जिससे वास्तवमें कोई लाभ न पहुँचता हो। ऐसा होनेपर हमारा दु:ख घट जायगा और हमें सुख आसानीसे मिल सकेगा।

× × ×

एक प्रश्न

यहाँ पर यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि ज़रूरियात तो ज़रूरियात ही होती हैं उनमें फिज़ूलियात क्या, जिनको छोड़ा या घटाया जावे ? अतः इसकी भी कुछ व्याख्या कर देनी ज़रूरी और मुनासिब मालूम होती है । यह ठीक है कि ज़रूरियात ज़रूरियात ही होती हैं परन्तु बहुतसी ज़रूरियात ऐसी भी होती हैं जो फ़िज़ूल पैदा करली जाती हैं या जिनको पूरा न करनेसे वस्तुतः कोई हानि नहीं पहुँचती । ऐसी सब ज़रूरियात फ़िज़ूलियातमें दाखिल हैं और वे आसानीसे छोड़ी या घटाई जा सकती हैं । कल्पना कीजिये, एक मनुष्य क्रोधकी हालतमें अपने पेटमें छुरी या सिरमें ईंट मार कर घाव कर लेता है और फिर उस पर मरहम पट्टी करने बैठता है, घावको वह मरहम-पट्टी ज़रूरी हो सकती है;परन्तु यह ज़रूर कहना होगा कि उसने उसकी ज़रूरियातको फ़िज़ूल अपने आप पैदा किया है और वह आगेको वैसी कुचेष्टाओंसे बाज़ (विमुख) रह सकता है। एक आदमी बहुतसी शराब पीकर अपनी विषयवासनाको भड़काता अथवा उत्तेजित करता है और इससे उसे बेवक्त ही एक स्त्रीकी ज़रूरत पैदा होती है, यह ज़रूरत भी फ़िज़ूलकी ज़रूरत है—स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नहीं है—और उसको पूरा न करनेसे कोई खास नुकसान नहीं पहुँचता । इस तरहकी न मालूम कितनी ज़रूरियातको हम पैदा करते रहते हैं और उनको पूरा करनेमें अपनी शक्तिका व्यर्थ ही नाश तथा दुरुपयोग करते चले जाते हैं ।

एक छोटेसे बच्चेको, जिसे भले-बुरेकी कुछ भी पहिचान अथवा तमीज नहीं है और जिसे चाहे जिस साँचेमें ढाला जा सकता है, उसके माता पिता यदि बढ़िया बढ़िया रेशम, कीमख्वाब, अतलस, मखमल और सुनहरी कामके वस्त्र पहनाते है और इस तरह उसमें शौक़ीनी तथा विलासिताका भाव भरते हैं, जिसकी वजहसे वह बादको साधा-

रण सादे वस्त्र पहनना पसंद नहीं करता और उसके शौक़ तथा हठको पूरा करनेके लिये फिर वैसे ही या उससे भी अच्छे बढ़िया बहुमूल्य वस्त्रोंकी ज़रूरत खड़ी होती है तो क्या यह फ़िजूलकी ज़रूरत पैदा करना नहीं है ? अवश्य है। और यदि उसे पैदा न करके या पूरा न करके उस बच्चेको सादा कपड़े ही पहननेको दिये जायँ तो इससे उस बच्चेकी तन्दुरुस्ती या स्वास्थ्य वगैरहको कोई नुक़सान नहीं पहुँच सकता।

खाना-पीना जीवित रहनेके लिये ज़रूरी ज़रूर है परन्तु बढ़िया, शौकीनी, चटपटे मसालेदार, अधिक गरिष्ठ, अधिक भारी, देरसे पचनेवाला और खूब उत्तेजक खाना-पीना, परिमाणसे अधिक खाना और हर वक्त या बेवक्त खाना उसके लिये कोई ज़रूरी नहीं है। ऐसे खाने-पीने तथा आटेके स्थानमें मैदेका ही अधिक व्यवहार करनेकी वजहसे यदि पेट ख़राब हो जाय, पाचन शक्ति जाती रहे, स्वास्थ्य बिगड़ जाय और हर वक्त चूर्ण गोली या दवाईके सेवनकी अथवा हकीम डाक्टर या वैद्यके पास जानेकी ज़रूरत रहने लगे, तो क्या इस व्यर्थकी ज़रूरतकी कभी पीठ ठोकी जा सकती है ? कदापि नहीं। उसे जहाँ तक बन सके शीघ्रही भोजनमें सुधार और संयमसे काम लेकर दूर कर देना चाहिये। हमारे स्वास्थ्यकी खराबीका अधिकतर आधार इस खाने-पीनेकी गड़बड़ी, असावधानी या जिह्वाकी लोलुपता, शौकीनी और संयमकी कमी पर ही है, और इससे हमारी शक्तियोंका बहुत ही दुरुपयोग हो रहा है और हम अपने बहुतसे कर्तव्योंकी पूर्तिसे वंचित रहते हैं।

पहनने-ओढ़नेका भी ऐसा ही हाल है। कपड़ा तन-बदनको ढकने और सर्दी-गर्मीसे बचनेके लिये होता है और उसकी यह गरज़ बहुत सादा तरीकों पर अच्छी तरहसे पूरी की जा सकती है। कोई पचास साठ वर्ष पहले हमारी माताएँ और बहनें अपने काते हुए सूतके कपड़े तय्यार करातो थीं और वे गाढेके कपड़े घर भरके

लिये काफ़ी हो जाते थे । करीब चालीस पचास रुपयेकी लागतमें एक अच्छे कुटुम्बका खुशीसे पूरा पट जाता था । स्त्रियाँ अपने दावन (लहँगे) ओढ़ने कसूंभे आदिके प्राकृतिक रंगमें ही रंग लेती थीं और प्रायः वैसे ही दावन-ओढ़ने विवाह-शादियोंमें दुलहनों (बहुओं)को चढ़ाए जाते थे । परन्तु आज नुमाइशका भूत या खब्त हमारे सिर पर कुछ ऐसा सवार है कि उसके पीछे हम हर साल लाखों और करोड़ों रुपये फ़िज़ूल खर्च कर डालते हैं,विदेशी कपड़ोंकी चमक-दमक और रंग-ढंगने हमारी आँखें खराब कर रक्खी हैं और हमें अपने पीछे पागलसा बना रक्खा है । कपड़ोंकी भी कोई गिनती नहीं और न उनकी लागतका ही कोई तखमीना, अन्दाज़ा अथवा परिमाण पाया जाता है । भला एक छोटेसे बेखबर बच्चेको बीस, तीस, पचास या सौ रुपयेसे भी अधिक मूल्यकी पोशाक पहना देनेसे क्या नतीजा है, जिसको अपने तन बदनका कुछ भी होश नहीं, जो उस कपड़ेकी कीमत और क़द्रको नहीं जानता, झटसे उसे मैली या खराब कर देता है और जिसको उसके पहननेमें कुछ भी आनन्दका अनुभव नहीं होता, बल्कि कभी कभी तो भारसा मालूम पड़ता है ? इसे खब्त नहीं तो और क्या कह सकते हैं ? ऐसे बच्चोंके माता पिता सचमुच ही उनके माता पिता अथवा हितैषी नहीं किन्तु शत्रु होते हैं; क्योंकि वे उनमें शौकीनी तथा नुमाइशका भाव भरकर उनकी आगामी ज़रूरियातको फ़िज़ूल बढ़ाने और उनके जीवनको भाररूप बनानेका आयोजन करते हैं— सामान जोड़ते अथवा बीड़ा बाँधते हैं । इसी तरह स्त्रियोंकी पोशाक और उनके जेवरातकी हालत समझिये । उनके पीछे समाजका बेहद रुपया फ़िज़ूल खर्च होता है । जिन स्त्रियोंको बोलने तककी तमीज़ नहीं— विवेक नहीं—वे भी सिरसे पैर तक बहुमूल्य वस्त्रों तथा जेवरोंसे लदी रहती हैं । मालूम नहीं, इससे उनको क्या पोष चढ़ता है, उनकी आत्माको क्या लाभ और उनकी तन्दुरुस्तीको क्या फ़ायदा पहुँचता है ?

बाकी रहे विवाह-शादियोंके खर्च, उनका तो कोई ठिकाना ही नहीं। उनके साथमें तो फ़िजूलियातका एक बड़ा अध्यायका अध्याय खुला हुआ है—रोपना, सगाई, सजोया, टोपी, चिट्ठी, टेवा, हलद,-मेंढा, लगन, भात, जीमन-जोनार, भाजी, नौता, गाना-बजाना, नाचना, सीठना, बेल बासना, घोड़ीका चाव, चढ़त, बढियार, फेरे, संस्कार, बूर, बखेर, पत्तल, परोसा, दात, खैरात, मिलाई, दहेज, बरीपट्टा, रुखसत, बिदा और गौना वगैरहकी न मालूम कितनी और कैसी कैसीं रस्में अदा करनी पड़ती हैं और उनमें कितना खर्च होता है !! एक लाला साहबसे मालूम हुआ कि उनके पहले पुत्रकी शादीमें दुलहनके लिये दावनकी जो तीयल तैय्यार कराई गई थी उसको पाँचसौ रुपयेकी लागत लगती रही थी, दूसरे पुत्रकी शादीमें नौसौ रुपयेकी लागत आई और अब तीसरे पुत्रके विवाहमें पन्द्रहसौ रुपयेसे भी अधिक लागतकी तीयल तैय्यार कराई गई है। एक दावन, ओढ़ने और आंगीकी लागतका जब यह हाल है तब विवाहके कुल खर्चोंका तखमीना, जिसमें ज़ेवर भी शामिल हैं, कितने हज़ार होगा, इसे पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं।

अब तो टोपियोंके साथ चाँदीके बर्तन वगैरहके अतिरिक्त बड़ा ग्रामोफोन बाजा और बर्फ बनानेकी मशीन तक भी खेल-खिलौनोंके तौर पर दी जाने लगी हैं ! इससे ज़ाहिर है कि विवाह-शादियोंके खर्च दिनपर दिन बढ़ते जाते हैं और ये सब फ़िजूल खर्च हमारे खुदके बढ़ाए हुए हैं। समझमें नहीं आता, जब विवाहकी असली ग़रज़ और उसका खास काम बहुत थोड़ेसे रुपयोंमें भी पूरा हो सकता है, तब उसके लिए हजारों रुपये खर्च करना कौन बुद्धिमत्ता और अक्लमंदी की बात है ? और वह फ़िजूलियात नहीं तो और क्या है ? क्या एक विवाहमें अधिक खर्च कर देनेसे घरमें एककी जगह दो बहुएँ आजायेंगी या लड़कीका सुहाग (सौभाग्य) कुछ बढ़ जायगा ? और क्या स्त्रियाँ यदि बहुमूल्य वस्त्राभूषण न पहनकर सादा लिबासमें

रहने लगें तो इससे उनका स्त्रीपना ही नष्ट-भ्रष्ट अथवा रद्द और अमान्य हो जायगा? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर फ़िज़ूल ज्यादा खर्च करके अपनेको दीन, हीन तथा मुहताज बनाने और मुसीबतोंके जालमें फँसानेकी क्या ज़रूरत है? इन विवाह-शादियोंके फ़िज़ूल खर्चोंने ही लड़कियोंको माता-पिताके लिये भारी बना दिया है और वे अक्सर उनका मरना मनाते रहते हैं! यह कितने दुःख और अफ़सोसकी बात है!!

इसी तरहकी और भी मरने, जीने, मिलने, बिछुड़ने, उत्सव, त्यौहार, बनावट, सजावट, खेल, तमाशे, शौकीनी, विलासिता और मनोविनोद आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी ज़रूरियात फ़िज़ूल हैं, जिनको हमने ख्वाहमख्वाह अपने पीछे लगा रक्खा है और यदि हम चाहें तो उनको खुशीसे छोड़ सकते या कम कर सकते हैं। इन सब फ़िज़ूलकी ज़रूरियातने ही हमारे दुखको बढ़ा रक्खा है, हमारे जीवनको बहुत ही खर्चीला (expensive) या अधिक धन पर आधार रखनेवाला बनाकर हमको अच्छी तरहसे तबाह और बर्बाद कर रक्खा है, इन्हींकी बदौलत हमारी आदत और प्रकृति बिगड़ गई है और हम धर्म या ईश्वरके उपासक न रहकर खाली धनके उपासक बन गये हैं, और इन्हींके कृपाकटाक्षका यह फल है जो हमारा धर्म-कर्म सब उठ गया, हममें वे सब बुरे कर्म अथवा पापाचरण घुस गये जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, और हम अपने पूर्वजोंके आदर्शसे बिल्कुल ही गिर गये हैं।

आदर्शसे गिर जाना

हमारे पूर्वज पहले कितने सादा चालचलनके होते थे और कितना सादा जीवन व्यतीत करते थे, यह बात किसीसे भी गुप्त अथवा छिपी नहीं है। उनका खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, शयन-आसन और रहन-सहनका सब सामान सादा तथा परिमित था, वे

व्यर्थकी टीपटाप, नुमायश अथवा लोक-दिखावेको पसन्द नहीं करते थे और न अपनी शक्तिको व्यर्थ खोना उन्हें अच्छा मालूम होता था। इसीसे फ़िक्रात उन्हें नहीं सताते थे, भय-विकार उनपर अपना अधिकार जमाने नहीं पाते थे, और वे खूब हृष्ट-पुष्ट, नीरोग, तन्दुरुस्त, बलवान, बहादुर, पराक्रमी, निर्भयप्रकृति, प्रसन्नचित्त, हँसमुख, उदारविचार, वचनके सच्चे, प्रणके पक्के, धर्मपर स्थिर, और अपने कर्तव्यका पालन करनेमें बहुत कुछ सावधान तथा कटिबद्ध होते थे। उनके समयमें यदि कोई किसीसे कर्ज़ लेता था तो उसके लिए आमतौरपर किसी रुक्के, चिट्ठी, प्रामेसरी नोट तमस्सुक या रजिस्टरीकी कोई ज़रूरत नहीं होती थी; एक अनपढ़ अथवा अशिक्षित व्यक्तिका महज़ क़लमको छू देना या उससे कोई तिरछी-बाँकी लकीरसी खींच देना भी रजिस्टरीसे ज्यादा असर रखता था; उस वक्तके कर्जोंमें तमादी आरिज़ नहीं होती थी—कालकी कोई मर्यादा उन्हें अदेय नहीं ठहराती थी—किसीका लेकर नहीं भी दिया करते यह बात सिखलाई ही नहीं जाती थी। यदि किसीको क़र्जा देते अथवा अपना ऋण चुकाते नहीं बनता था या उसके भुगतानमें देर हो जाती थी और इसपर साहूकार उससे यह कहता था कि 'भाई! तुमसे क़र्जा देते अथवा ऋण चुकाते नही बनता है, अत: मैं हिसाब-बहीमें तुम्हारे नामको छेक दूँ, बिंदिया दूँ और अपनी रक़मको बट्टेखाते डालदूँ' तो इसको सुनकर वह क़र्जदार (ऋणी पुरुष) काँप जाता था और हाथ जोड़कर कहने लगता था कि 'नहीं, ऐसा कभी मत करना, जब तक मेरे दममें दम और बदनमें जान-प्राण बाकी हैं, मैंने जिन आँखों आपका कर्ज़ा लिया है उन्हीं आँखों उसे भुगताऊंगा, कौड़ी कौड़ी अदा करूँगा, देर ज़रूर है मगर अन्धेर नहीं, और यदि अपने जीवनमें किसी तरहपर मै अदा न कर सका तो मेरे बेटे, पोते पड़पोते, यहाँ तक कि मेरी सात पीढ़ी उसको अदा करेगी, आप उसकी चिन्ता न करें। जब आपसे लिया गया है तब वह आपको दिया

क्यों न जाय ?' कितने मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी उद्‌गार हैं—दिलको हिला देनेवाले कलाम अथवा वचन हैं—और इनसे किस दर्जे सचाई तथा ईमानदारीका प्रकाश होता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सचमुच ही वह ज़माना भी कितना अच्छा और सच्चा था और उसकी बातोंसे कितना सुख तथा शांतिरस टपकता है।

परन्तु आज नक़शा बिल्कुल ही बदला हुआ है। आज उस क़र्ज़ तथा दूसरे ठहरावोंके लिये दस्तावेज़ात लिखाई जाती हैं, दस्तख़त (हस्ताक्षर) होते हैं, अंगूठे लगते हैं, रजिष्टरी कराई जाती है और रजिष्टरीपर रुपया दिया जाता है; फिर भी बादको ऐसी झूठी उज्रदारियाँ (आपत्तियाँ) होती है कि दस्तावेज़ ज़रूर लिखी, दस्तख़त किये या अँगूठा लगाया और रजिष्टरीपर रुपया भी वसूल पाया, लेकिन दस्तावेज़ फ़र्ज़ी थी, किसी अनुचित दबावके कारण लिखी गई थी, रुपया बादको वापिस दे दिया गया था या किसी योग्य कार्यमें खर्च नहीं हुआ, और इस लिये मुद्दई (वादी) उसके पानेका या दस्तावेज़के आधारपर किसी दूसरे हक़के दिलाए जानेका मुस्तहक़ (अधिकारी) नहीं है! ओह! कितना अधिक पतन और बेईमानीका कितना दौर-दौरा है!!

उस वक्त अदालतोंके दर्वाज़े शायद ही कभी खटखटाए जाते थे, पंचायतोंका बल बढ़ा हुआ था, यदि कोई मामला होता था तो वह प्रायः घरके घरमें या अपने ही गाँवमें आसानीसे निपट जाया करता था—ज़रा भी बढ़ने नहीं पाता था। परन्तु आज बात-बातमें लोग अदालतोंमें दौड़े जाते हैं, उन्हींकी एक शरण लेते हैं, बस्ता बग़लमें दबाए उन्हींकी परिक्रमा किया करते हैं, उनके पंडे-पुजारियों—वकील-बैरिष्टर-मुख्तार-अहलकारों—के आगे बुरी तरहसे गिड़गिड़ाते हैं वह भी प्रायः न्यायके लिये नहीं, बल्कि किसी तरहसे बात रह जाय या उनकी बेईमानीको मदद मिल जाय—और इन्हीं अदालती मन्दिरोंमें वे अपने धर्मकर्मकी अच्छी खासी बलि दे

जाते हैं। अदालतोंके न्यायका कोई ठिकाना नहीं, उन्हें प्रायः 'बूढ़ा मरो या जवान अपनी हत्या अथवा भुगतानसे काम' होता है; गरीबों और बे-पैसे या बे-आदमियोंवालोंकी वहाँ कोई पहुँच अथवा पूछ नहीं होती; एक अदालतके फ़ैसलेको दूसरी दूसरीके निर्णयको तीसरी और तीसरीके हुकमको चौथी अदालत तोड़ देती है. और कभी कभी एक ही अदालतका एक हाकिम दूसरे हाकिमके हुक्मको या खुद अपने हुकमको भी तोड़ देता अथवा रद्द कर देता है। इस तरह न्यायके नाम पर बड़ा ही अजीब नाटक होता है।

पंचायतोंका कोई बल रहा नहीं, पंच लोग अपनी बेईमानी और एक दूसरेकी बेजा तरफ़दारीकी वजहसे अपनी सारी प्रतिष्ठा, पद्धति और शक्तिको खो बैठे हैं, उन पर लोगोंका विश्वास नहीं रहा; इससे चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है। लोग फिर फिरकर अदालतोंकी ही शरणमें जाते हैं और अपनेको नष्ट तथा बर्बाद करनेके लिये मजदूर होते हैं। मुक़द्दमेबाज़ीका बेहद खर्चा बढ़ा हुआ है – तीसरी चौथी अदालतके हारनेवाला प्रायः नंगा हो जाता है और जीतनेवालेके पास एक लंगोटी ही शेष रह जाती है। इससे न्याय यदि कभी मिलता भी है तो वह बहुत ही महँगा पड़ता है।

लोग कहते हैं कि आजकल ज़माना उन्नतिका है। परन्तु मुझे तो इन हालों वह कुछ उन्नतिका ज़माना मालूम नहीं होता, बल्कि खासा अवनतिका जान पड़ता है। जब हमारी आत्मिक शक्ति, शारीरिक बल, नीति, सभ्यता, शिष्टता, धर्मकर्म और सुखशांतिका बराबर दिवाला निकलता चला जाता है तब इस ज़मानेको उन्नतिका ज़माना कैसे कह सकते हैं ? उन्नतिका ज़माना तो तब होता जब इन बातोंमें कोई आदर्श उन्नति नज़र आती। परन्तु आदर्श उन्नति तो दूर, उलटी अवनति ही अवनति दिखलाई दे रही है। और हम इन सब बातोंमें अपने पूर्वपुरुषोंसे बहुत ही ज्यादा पिछड़े हुए हैं और पिछड़ते जाते हैं। हमने अपनी जरूरियातको बढ़ाकर फ़िज़ूल

अपने पैरमें आप कुल्हाड़ी मार रक्खी है और व्यर्थकी मुसीबत अपने ऊपर ले रक्खी है। इन ज़रूरियातको पूरा करनेकी धुन, फ़िक्र और चक्करमें हम अपनी आत्माकी, तन-बदनकी और धर्म-कर्मकी सारी सुधि भूले हुए हैं और हमारी वह सब हालत हो रही है जिसका लेखके आरंभमें ही कुछ चित्र खींचकर पाठकोंके सामने रक्खा गया है। हमारे सामने हरदम रुपये-पैसे या टकेका ही एक सवाल खड़ा रहता है, रात दिन उसीका चक्कर चलता है और उसीके पीछे हमारे जीवनकी समाप्ति हो जाती है।

जब हमारे पास आमदनी कम और खर्च ज्यादा है और हम अपनी ज़रूरियातको पूरा करनेके लिए न्यायमार्गसे काफ़ी रुपया पैदा नहीं कर सकते तब उन्हें पूरा करनेके लिये हम छल, कपट, फरेब, धोखा, दग़ाबाज़ी, जालसाज़ी, चालबाजी, चोरी, सीनाज़ोरी, घूसखोरी, विश्वासघात, असत्यव्यवहार, न्यासापहार (धरोहर-मारना), हत्या और बेईमानी नहीं करेंगे तो और क्या करेंगे ? उस वक्त धर्मके पैसे पर, मन्दिरों तीर्थों या दूसरी संस्थाओंके रुपये पर यदि हमारी नियत डिग जाय, हम अपनी सुकुमार कन्याओं तकको बेचने लगें और आपसमें खींचातानी बढ़ाकर मुकद्दमेबाज़ी पर उतर आवें तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है ?

वास्तवमें हमारी सारी खराबी और गिरावटका कारण ये फ़िज़ूलकी ज़रूरियात ही हैं। इन्हींकी वजहसे हमारी उन्नति रुकी हुई है, हम अपनी आत्माका कल्याण नहीं कर सकते, आपसमें प्रेम-से नहीं रह सकते, एक दूसरेकी सहायता नहीं कर सकते और न सचमुचमें मनुष्य ही बन सकते हैं। इनकी बढ़वारीसे ही हमारा दुःख बढ़ा हुआ है। यदि हम उस दुखको घटाना या दूर करना चाहते हैं तो हमें अपनी उन ज़रूरियातको घटाना या दूर कर देना होगा। बाकी यह खयाल ग़लत है कि ज़रूरियातको पूरा करके हम अपने दुख-दर्द एवं वेदनाको दूर कर सकेंगे उसमें कोई वास्तविक

अथवा स्थायी कमी ला सकेंगे। ज़रूरियातको पूरा करके दु:खोंकी शान्तिकी आशा रखना प्राय: ऐसा ही है जैसा कि अग्नि पर ईंधन और तेल डालकर उसकी शांति चाहना। यह ज़रूरियातकी पूर्ति ऐसी मर्हमपट्टी है जो उस वक्त तो घावमें ज़रासी देरके लिये कुछ चैन डाल देती है परन्तु पीछेसे बिया जाती है और तरह तरहकी वेदनाओं तथा कष्टोंकी जन्मदाता बन जाती है। अत: दु:खोंको यदि वास्तवमें दूर करना और सुख-शांति चाहना है तो इस खयाल-के धोखेमें न रहकर हमें सबसे पहले, जितना भी शीघ्र बन सके, इन फ़िज़ूलकी ज़रूरियातको अलग कर देना चाहिये। यही हमारे हित का साधन और हमारे परलोकके सुधरनेका एक खास मार्ग है। इसीसे हमको वास्तविक सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकेगी।

आशा है, सुखके सच्चे अभिलाषी और मुतलाशी (खोजी) अपनी उस वेदना और तृष्णारूपी अग्निको, जो बाह्य पदार्थोंके लिये उनके हृदयमें जल रही है, ज्ञान तथा विवेकरूपी जलसे शांत करेंगे, संतोषको अपनाएँगे, सादा जीवन व्यतीत करना सीखेंगे और यह समझकर कि इन फ़िज़ूलकी ज़रूरियातने ही हमारी जान अज़ा-बमें डाल रक्खी है, हमारी मिट्टी खराब कर रक्खी है, ये ही हमारे दु:खोंकी खास कारण है और ये ही हमारी उन्नति तथा प्रगतिमें रोड़ा अटकानेवाली अथवा विघ्नस्वरूप हैं, इन्हें मन-वचन-कायसे दृढताके साथ दूर करने-करानेकी पूरी कोशिश करेंगे। और इसके लिये उन्हें यदि किसी रीति-रिवाजको तोड़ना या बदलना भी पड़े, तो खुशीसे पूर्ण मनोबलके साथ खुद ही उसके लिये आगे कदम बढ़ाएँगे—अगुआ बनेंगे—और इस तरह अपना एक उदाहरण या नमूना दूसरोंके सामने रखकर उनका मार्ग साफ़ करेंगे और उन्हें भी वैसा करने करानेकी हिम्मत तथा साहस प्रदान करेंगे। देश और जातिके सुधारका भी इसी पर एक आधार है और इसीके सहारे पर सबका बेड़ा पार है।

२३

जैनी नीति

जिनेन्द्रदेवकी अथवा जैनधर्मकी जो मुख्य नीति है और जिस पर जिनेन्द्रदेवके उपासकों, जैनधर्मके अनुयायियों तथा अपना हित चाहनेवाले सभी सज्जनोंको चलना चाहिये, उसे 'जैनी नीति' कहते हैं। वह जैनी नीति क्या है अथवा उसका क्या स्वरूप और व्यवहार है, इस बातको श्रीअमृतचन्द्राचार्यने अपने एक वाक्यमें अच्छी तरहसे दर्शाया है, जो इस प्रकार है:—

एकेनाऽऽकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

इसमें, जैनी नीतिको दूध-दही बिलोनेवाली गोपी (ग्वालिनी)-की उपमा देते हुए बतलाया है कि—जिस प्रकार ग्वालिनी बिलोते समय मथानीकी रस्सीको दोनों हाथोंमें पकड़ कर उसके एक सिरे-(अन्त) को एक हाथसे अपनी ओर खींचती और दूसरे हाथसे पकड़े हुए सिरेको ढीला करती जाती है; एकको खींचनेपर दूसरेको बिल्कुल छोड़ नहीं देती किन्तु पकड़े रहती है; और इस तरह बिलोनेकी क्रियाका ठीक सम्पादन करके मक्खन निकालने रूप अपना कार्य सिद्ध कर लेती है। ठीक उसी प्रकार जैनी नीतिका व्यवहार है। वह जिस समय अनेकान्तात्मक वस्तुके द्रव्य-पर्याय या सामान्य-विशेषादिरूप एक अन्तको—धर्म या अंशको—अपनी ओर

खींचती है—अपनाती है—उसी समय उसके दूसरे अन्त (धर्म या अंश) को ढीला कर देती है—उसके विषयमें उपेक्षाभाव धारण कर लेती है। फिर दूसरे समय उस उपेक्षित अन्तको अपनाती और पहलेसे अपनाए हुए अन्तके साथ उपेक्षाका व्यवहार करती है—एकको अपनाते हुए दूसरेका सर्वथा त्याग नहीं करती, उसे भी प्रकारान्तरसे ग्रहण किये रहती है। और इस तरह मुख्य-गौणकी व्यवस्थारूप निर्णय-क्रियाको सम्यक् संचालित करके वस्तु-तत्त्वको निकाल लेती है—उसे प्राप्त कर लेती है। किसी एक ही अन्त पर उसका एकान्त आग्रह अथवा कदाग्रह नहीं रहता—वैसा होने पर वस्तुकी स्वरूपसिद्धि ही नहीं बनती। वह वस्तुके प्रधान-अप्रधान सब अन्तों पर समान दृष्टि रखती है—उनकी पारस्परिक अपेक्षाको जानती है—और इसलिये उसे पूर्णरूपमें पहचानती है तथा उसके साथ पूरा न्याय करती है। उसकी दृष्टिमें एक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे यदि नित्य है तो पर्यायकी अपेक्षासे वही अनित्य भी है, एक गुणके कारण जो वस्तु बुरी है दूसरे गुणके कारण वह वस्तु अच्छी भी है एक वक्तमें जो वस्तु लाभदायक है दूसरे वक्तमें वही हानिकारक भी है, एक स्थान पर जो वस्तु शुभरूप है दूसरे स्थान पर वही अशुभरूप भी है और एकके लिये जो हेय है दूसरेके लिये वही उपादेय भी है। वह विषको मारनेवाला ही नहीं किन्तु जीवनप्रद भी जानती है और इसलिये उसे सर्वथा हेय नहीं समझती।

इस नीतिकी दृष्टिमें नित्यका अनित्यके साथ और अनित्यका नित्यके साथ, विधिका निषेधके साथ और निषेधका विधिके साथ तथा मुख्यका गौणके साथ और गौणका मुख्यके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है - एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता। जिस प्रकार सम-तुलाका एक पल्ला ऊँचा होने पर दूसरा पल्ला स्वयमेव नीचा हो जाता है—ऊँचा पल्ला नीचेके बिना और नीचा पल्ला ऊँचेके बिना बन नहीं सकता और न कहला सकता है, उसी प्रकार

नत्य-अनित्यकी, विधि-निषेधकी और मुख्य-गौणआदिकी यह सारी व्यवस्था सापेक्ष है– सापेक्षनयवादका विषय है। और इसलिये जो निरपेक्षनयवादका आश्रय लेती है और वस्तुतत्त्वका सर्वथा एकरूपसे प्रतिपादन करती है वह जैनी नीति अथवा सम्यक् नीति न होकर मिथ्या नीति है। उसके द्वारा वस्तुतत्त्वका सम्यग्ग्रहण और प्रतिपादन नहीं बन सकता।

जैनी नीतिका ही दूसरा नाम 'अनेकान्तनीति' है और उसे 'स्याद्वादनीति' भी कहते हैं। यह नीति अपने स्वरूपसे ही सौम्य, उदार, शान्तिप्रिय, विरोधका मथन करनेवाली, वस्तुतत्त्वकी प्रकाशक और सिद्धिकी दाता है। खेद है जैनियोंने अपने इस आराध्य देवता 'अनेकान्त' को बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्तके अनन्य उपासक बने हुए है! उसीका परिणाम उनका मौजूदा सर्वतोमुखी पतन है, जिसने उनकी सारी विशेषताओं और गुण-गरिमाओं पर पानी फेर कर उन्हें नगण्य बना दिया है!! जैनियोंको फिरसे अपने इस आराध्य देवताका स्मरण कराते हुए उनके जीवनमें इस सन्नीतिकी प्राणप्रतिष्ठा कराने और संसारको भी इस नीतिका परिचय देने तथा इसकी उपयोगिता बतलानेके लिये ही 'अनेकान्त' नामसे पत्र निकाला गया है। लोकको इससे सत्प्रेरणा मिले और यह उसके हितसाधनमें सहायक होवे ऐसी शुभ भावना है।

२४

जैनी कौन हो सकता है ?

जो जीव जैनधर्मको धारणकरता है वह 'जैनी' कहलाता है। परन्तु आजकलके जैनी जैनधर्मको केवल अपनी ही पैतृक संपत्ति (मौरूसी तरका) समझ बैठे हैं और यही कारण है कि वे जैनधर्म दूसरोंको नहीं बतलाते और न किसीको जैनी बनाते हैं। शायद उन्हें इस बातका भय हो कि कहीं दूसरे लोगोंके शामिल होजानेसे इस मौरूसी तरकेमें अधिक भागानुभाग होकर हमारे हिस्सेमें बहुत ही थोड़ासा जैनधर्म बाक़ी न रह जाय ! परन्तु यह सब उनकी बड़ी भारी भूल तथा ग़लती है और आज इसी भूल तथा ग़लतीको सुधारनेका यत्न किया जाता है।

हमारे जैनी भाई इस बातको जानते हैं और शास्त्रोंमें भी जगह जगह हमारे परमपूज्य आचार्योंका यही उपदेश है कि, संसारमें दो प्रकारकी वस्तुएँ हैं—एक चेतन और दूसरी अचेतन। चेतनको जीव और अचेतनको अजीव कहते हैं। जितने जीव हैं वे सब द्रव्यत्वकी अपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टिसे बराबर हैं– किसीमें कुछ भेद नहीं है—सबका असली स्वभाव और गुण एक ही है। परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्म-मल लगा हुआ है, जिसके कारण उनका असली स्वभाव आच्छादित है, और वे नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं। कीड़ा, मकोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, शेर,

बघेरा, हाथी, घोड़ा, ऊंट, गाय, बैल, मनुष्य, पशु, देव, और नारकी आदिक समस्त अवस्थाएं उसी कर्ममलके परिणाम हैं और जीवकी इस अवस्थाको 'विभावपरिणति' कहते हैं।

जब तक जीवोंमें यह विभावपरिणति बनी रहती है तब ही तक उनको 'संसारी' कहते हैं और तभी तक उनको संसारमें नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना होता है। परन्तु जब किसी जीवकी यह विभावपरिणति मिट जाती है और उसका निजस्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीव मुक्तिको प्राप्त हो जाता है; और इस प्रकार जीवके 'संसारी' तथा 'मुक्त' ऐसे दो भेद कहे जाते हैं।

इस कथनसे स्पष्ट है कि जीवोंका जो असली स्वभाव है वही उनका धर्म है, और उसी धर्मको प्राप्त करानेवाला जैनधर्म है। अथवा दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जैनधर्म ही सब जीवोंका निज धर्म है। इसलिये प्रत्येक जीवको जैनधर्मके धारण करनेका अधिकार प्राप्त है। इसीसे हमारे पूज्य तीर्थंकरों तथा ऋषि-मुनियोंने पशु-पक्षियोंतकको भी जैनधर्मका उपदेश दिया है और उनको जैनधर्म धारण कराया है, जिनके सैकड़ों ही नहीं किन्तु हजारों दृष्टान्त प्रथमानुयोगके शास्त्रों (कथाग्रन्थों) को देखनेसे मालूम हो सकते हैं।

हमारे अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी जब अपने इस जन्मसे नौ जन्म पहले सिंहकी पर्यायमें थे तब उन्हें किसी वनमें एक महात्माके दर्शन करते ही जातिस्मरण हो आया था। उन्होंने उसी समय, उक्त महात्माके उपदेशसे, श्रावकके बारह व्रत धारण किये, केसरीसिंह होकर भी किसी जीवको मारना और मांस खाना छोड़ दिया और इस प्रकार जैनधर्मको पालते हुए सिंह-पर्यायको छोड़कर वे प्रथम स्वर्गमें देव हुए और वहाँसे उन्नति करते करते अन्तमें जैनधर्मके प्रसादसे उन्होंने तीर्थंकर-पद प्राप्त किया।

पार्श्वनाथपुराणमें, अरविन्दमुनिके उपदेशसे, एक हाथीके जैन-

धर्म धारण करने और श्रावकके व्रत पालन करनेके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है---

अब हाथी संजम साधै। त्रस जीव न भूल विराधै॥
समभाव छिमा उर आनै। अरि मित्र बराबर जानै॥
काया कसि इन्द्री दंडै। साहस धर प्रौषध मंडै॥
सूखे तृण पल्लव भच्छै। परमर्दित मारग गच्छै॥
हाथीगण डोह्यो पानी। सो पीवै गजपति ज्ञानी॥
देखे बिन पाँव न राखै। तन पानी पंक न नाखै॥
निजशील कभी नहिं खोवै। हथिनी दिश भूल न जोवै॥
उपसर्ग सहै अति भारी। दुर्ध्यान तजै दुखकारी॥
अघके भय अंग न हालै। दृढ धीर प्रतिज्ञा पालै॥
चिरलौं दुद्धर तप कीनो। बलहीन भयो तन छीनो॥
परमेष्ठि परमपद ध्यावै। ऐसे गज काल गमावै॥
एकैदिन अधिक तिसायो। तब वेगवती तट आयो॥
जलपीवन उद्यम कीधो। कादोद्रह कुंजर बीधो॥
निश्चय जब मरण विचारो। सन्यास सुधी तब धारो॥

इससे साफ प्रकट है कि अच्छा निमित्त मिल जाने और शुभ कर्मका उदय आ जाने पर पशुओंमें भी मनुष्यता आ जाती है और वे मनुष्योंके समान धर्मका पालन करने लगते हैं; क्योंकि द्रव्यत्वकी अपेक्षा सब जीव, चाहे वे किसी भी पर्यायमें क्यों न हों, आपसमें बराबर हैं। यही हाथीका जीव, जैनधर्मके प्रसादसे, इस पशुपर्याय-को छोड़कर बारहवें स्वर्गमें देव हुआ और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता चढ़ता कुछ ही जन्म लेनेके पश्चात् हमारा पूज्य तीर्थंकर 'पार्श्वनाथ' हुआ है।

इसी तरह और बहुतसे पशुओंने जैनधर्मको धारण करके अपने आत्माका विकास और कल्याण किया है। जब पशुओं तकने जैनधर्म को धारण किया है, तब फिर मनुष्योंका तो कहना ही क्या? वे

तो सर्व प्रकारसे इसके योग्य और दूसरे जीवोंको इस धर्ममें लगाने-वाले ठहरे। सच पूछा जाय तो, किसी भी देश, जाति या वर्णके मनुष्यको इस धर्मके धारण करनेकी कोई मनाही (निषेध) नहीं है। प्रत्येक मनुष्य खुशीसे जैनधर्मको धारण कर सकता है। इसी-से सोमदेवसूरिने कहा है :—

'मनोवाक्कायधर्माय मता. सर्वेऽपि जन्तवः।'

अर्थात्—मन, वचन, तथा कायसे किये जाने वाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।

जैन-शास्त्रोंसे तथा इतिहास-ग्रन्थोंके देखनेसे भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है और इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि प्रायः सभी जातियोंके मनुष्य हमेशासे इस पवित्र जैनधर्मको धारण करते आए हैं और उन्होंने बड़ी भक्ति तथा भावके साथ इसका पालन किया है।

देखिये, क्षत्रिय लोग पहले अधिकतर जैनधर्मका ही पालन करते थे। इस धर्मसे उनको विशेष अनुराग और प्रीति थी। वे इसी धर्मको जगतका और अपनी आत्माका कल्याण करनेवाला समझते थे। हज़ारों राजा ऐसे हो चुके हैं जो जैनी थे अथवा जिन्होंने जैन-धर्मकी दीक्षा धारण की थी। खासकर, हमारे जितने तीर्थंकर हुए हैं वे सब ही क्षत्रिय थे। इस समय भी जैनियोंमें बहुतसे जैनी ऐसे हैं जो क्षत्रियोंकी सन्तानमेंसे हैं; परन्तु उन्होंने क्षत्रियोंका कर्म छोड़ कर वैश्यका कर्म अंगीकार कर लिया है, इसलिये वैश्य कहलाते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण लोग भी पहले जैनधर्मको पालन करते थे और इस समय भी कहीं कहीं सैकड़ों ब्राह्मण जैनी पाये जाते हैं। जिस समय भगवान ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तीने क्षत्रियों आदिकी परीक्षा लेकर जिनको अधिक धर्मात्मा पाया उनका एक ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था उस समय तो ब्राह्मण लोग गृहस्थ जैनियोंके पूज्य समझे जाते थे और बहुत काल तक बराबर पूज्य बने रहे।

परन्तु पीछेसे जब वे स्वच्छंद होकर अपने धर्म-कर्ममें शिथिल हो गये और जैनधर्मसे गिर गये तब जैनियोंने आम तौरसे उनका पूजना और मानना छोड़ दिया। परन्तु फिर भी इस ब्राह्मण-वर्णमें बराबर जैनी होते ही रहे। हमारे परमपूज्य गौतम गणधर, भद्रबाहु स्वामी और पात्रकेशरी आदिक बहुतसे आचार्य ब्राह्मण ही थे, जिन्होंने चहुँ-ओर जैनधर्मका डंका बजाकर जगतके जीवोंका उपकार किया है। रहे वैश्य लोग, वे जैसे इस वक्त जैनधर्मको पालन करते हैं वैसे पहले भी पालन करते थे। ऐसी ही हालत शूद्रोंकी है, वे भी कभी जैनधर्मको धारण करनेसे नहीं चूके और ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक क्षुल्लक तक तो होते ही रहे हैं। इस वक्त भी जैनियोंमें शूद्र, जैनी मौजूद हैं। बहुतसे जैनी शूद्रोंका कर्म (पेशा) करते हैं। और शूद्र ही क्यों? हमारे पूर्वज तीर्थंकरों तथा ऋषि-मुनियोंने तो चंडालों, भीलों और म्लेच्छों त को जैनधर्मका उपदेश देकर उन्हें जैनी बनाया है, और न केवल जैनधर्मका श्रद्धान ही उनके हृदयोंमें उत्पन्न किया है बल्कि श्रावकके व्रत भी उनसे पालन कराये हैं, जिनकी सैकड़ों कथाएँ शास्त्रोंमें मौजूद हैं।

'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि, एक 'त्रिपद' नामके धीवर (कहार) की लड़कीको, जिसका नाम 'पूतिगंधा' था और जिसके शरीरसे दुर्गंध आती थी, समाधिगुप्त मुनिने श्रावकके व्रत दिये। वह लड़की बहुत दिनों तक आर्यिकाके साथ रही अंतमें संन्यास धारण करके मरी तथा सोलहवें स्वर्गमें जाकर देवी हुई और फिर वहाँसे आकर श्रीकृष्णकी पटरानी 'रुक्मिणी' हुई।

चम्पापुर नगरमें 'अग्निभूत' मुनिने, अपने गुरु सूर्यमित्र मुनिराजकी आज्ञासे, एक चांडाल-लड़कीको, जो जन्मसे अंधी पैदा हुई थी और जिसकी देहसे इतनी दुर्गंध आती थी कि कोई उसके पास जाना नहीं चाहता था और इसी कारण वह बहुत दुखी थी, जैन-धर्मका उपदेश देकर श्रावकके व्रत धारण कराये थे। इसकी कथा

सुकुमालचारित्रादिक शास्त्रोंमें मौजूद है । यही चांडालीका जीव दो जन्म लेनेके पश्चात् तीसरे जन्ममें 'सुकुमाल' हुआ था।

'पूर्णभद्र' और 'मानभद्र' नामके दो वैश्य भाइयोंने एक चांडालको श्रावकके व्रत ग्रहण कराए थे और उन व्रतोंके कारण वह चांडाल मर कर सोलहवे स्वर्गमें बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ था, जिसकी कथा पुण्यास्रव-कथाकोशमें पाई जाती है।

'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि, गंधमादन पर्वत पर एक 'परवर्तक' नाम के भीलको श्रीधर आदि दो चारण-मुनियोंने श्रावकके व्रत दिये। इसी प्रकार म्लेच्छोंके जैनधर्म धारण करनेके सम्बन्धमें भी बहुतसी कथाएँ विद्यमान है; बल्कि जैनी चक्रवर्ती राजाओंने तो म्लेच्छोंकी कन्याओंसे विवाह तक किया है। ऐसे विवाहोंसे उत्पन्न हुई सन्तान मुनि-दीक्षा ले सकती थी, इतना ही नहीं किन्तु म्लेच्छ देशोंसे आए हुए म्लेच्छ तक भी मुनिदीक्षाके अधिकारी ठहराये गये हैं[1]।

श्रीनेमिनाथके चचा वसुदेवने भी एक म्लेच्छ राजाकी पुत्रीसे, जिसका नाम 'जरा' था, विवाह किया था, और उससे 'जरत्कुमार' उत्पन्न हुआ था, जो जैनधर्मका बड़ा भारी श्रद्धानी था और जिसने अंतको जैनधर्मकी मुनिदीक्षा धारण की थी। यह कथा भी हरिवंश-

---

१. जैसा कि 'लब्धिसार' की टीकाके निम्न अंशसे प्रकट है:—

म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्।' (गाथा न० १९३ से सम्बद्ध)

पुराणमें लिखी है[1]। और इसी पुराणमें, जहाँ पर श्रीमहावीरस्वामी-के समवसरणका वर्णन है वहाँपर, यह भी लिखा है कि समवसरणमें जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर 'बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लोग मुनि हो गये और चारों ही वर्णके स्त्री-पुरुषोंने श्रावकके बारह व्रत धारण किये' इतना ही क्यों ? उनकी पवित्र वाणीका प्रभाव यहाँ तक पड़ा कि कुछ जानवरोंने भी अपनी शक्तिके अनुसार श्रावकके व्रत धारण किये। इससे भली भाँति प्रकट है कि, प्रत्येक मनुष्य ही नहीं बल्कि प्रत्येक जीव अपनी योग्यताके अनुसार जैनधर्मको धारण कर सकता है। इसलिये जैनधर्म सबको बतलाना चाहिये।

इन सब उल्लेखों परसे, यद्यपि, प्रत्येक मनुष्य खुशीसे यह नतीजा निकाल सकता है कि, जैनधर्म आजकलके जैनियोंकी खास मीरास नहीं है, उस पर मनुष्य क्या जीवमात्रको पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त है और प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति अथवा सामर्थ्यके अनुसार उसको धारण और पालन कर सकता है; फिर भी यहाँपर कुछ थोड़ेसे प्रमाण और उपस्थित किये जाते हैं जिससे इस विषयके संदेह अथवा भ्रमका और भी अच्छी तरह निरसन हो सके :—

(१) 'पूजासार' के श्लोक नं० १६ में जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके दो भेद वर्णन किये हैं—एक नित्य पूजन करनेवाला, जिसको 'पूजक' कहते हैं और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको 'पूजकाचार्य' कहते हैं। इसके पश्चात् दो श्लोकोंमें आद्य (प्रथम) भेद, 'पूजक' का स्वरूप दिया है और उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चारों ही वर्णोंके मनुष्योंको पूजा करनेका अधिकारी ठहराया है। यथा:—

---

१. हरिवंशपुराणके उल्लेखोंके लिये देखो पं० दौलतरामजी-द्वारा अनुवादित भाषा-हरिवंशपुराण अथवा जिनसेनाचार्यकृत मूलग्रन्थ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः सुशीलवान् ।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥ १७ ॥

(२) इसी प्रकार 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के ६ वें अधिकारके श्लोक नं० १४२ में श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके उपर्युक्त दोनों भेदोंका कथन करनेके अनन्तर ही एक श्लोकमें—'पूजक' के स्वरूप-कथनमें—ब्राह्मणादिक चारों वर्णोंके मनुष्योंको पूजा करनेका अधिकारी बतलाया है। वह श्लोक यह है :—

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः ।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥ १४३ ॥

और इसी ६ वें अधिकारके श्लोक नं० २०५ में ब्राह्मणोंके पूजन करना, पूजन कराना, पढना, पढ़ाना, दान देना और दान लेना, ऐसे छह कर्म वर्णन करके उससे अगले श्लोकमें "यजनाध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः" इस वचनसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके पूजन करना पढ़ना और दान देना, ऐसे तीन कर्म वर्णन किये हैं।

इन दोनों शास्त्रोंके प्रमाणोंसे भली भांति प्रकट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्णोंके मनुष्य जैनधर्मको धारण करके जैनी हो सकते हैं। तब ही तो वे श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके अधिकारी वर्णन किये गये हैं।

(३) 'सागारधर्मामृत' में पं० आशाधरजीने लिखा है :—

[1]शूद्रोऽप्युपस्कराचार-वपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥

(अ० २ श्लो० २२)

अर्थात्—आसन और बर्तन वगैरह जिसके शुद्ध हों, मांस और

---

१. इस पद्यसे पहले स्वोपज्ञटीकामे यह प्रतिज्ञावाक्य भी दिया है—"अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—"

मदिरा आदिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नान आदिके करनेसे जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके सदृश श्रावक-धर्मका पालन करनेके योग्य है। क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर जैन धर्मका अधिकारी होता है।

इसी तरह श्रीसोमदेव आचार्यने भी, 'नीतिवाक्यामृत' के नीचे लिखे वाक्यमें, उपर्युक्त तीनों शुद्धियोंके होनेसे शूद्रोंको धर्म साधनके योग्य बतलाया है:—

"आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान्।"

(४) रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्राचार्य लिखते हैं कि:—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ २८॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शनसे युक्त—जैनधर्मके श्रद्धानी—चांडाल पुत्रको भी गणधरादि देवोंने 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है। उसकी दशा उस अंगारके सदृश है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होने पर भी अंतरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इस लिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता।

इससे चांडालका जैनी बन सकना भली भाँति प्रकट ही नहीं किन्तु अभिमत जान पड़ता है। इसके सिवाय, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तो चौथे गुणस्थानमें ही हो जाती है, चांडाल इससे भी ऊपर जा सकता है और श्रावकके व्रत धारण कर सकता है; जैसा कि ऊपर उल्लेख की हुई कथाओंसे प्रकट है। इसमें किसीको भी आपत्ति नहीं है। रविषेणाचार्यने तो 'पद्मपुराण' में ऐसे व्रती चाण्डालको 'ब्राह्मण' का दर्जा प्रदान किया है और लिखा है कि कोई भी जाति बुरी अथवा तिरस्कारके योग्य नहीं है—सभी गुणधर्मकी अधिका-

रिणी हैं। यथा:--

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११—२०३॥

(५) सोमसेनके त्रैवर्णिकाचारमें भी एक पुरातन श्लोक निम्न प्रकारसे पाया जाता है :--

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ ७-१४२ ॥

इसमें लिखा है कि—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपने अपने नियत कर्मके विशेषकी अपेक्षासे कहे गये हैं, जैन-धर्मको पालन करनेमें इन चारों वर्णोंके मनुष्य परम समर्थ हैं और उसे पालन करते हुए वे सब आपसमें भाई भाईके समान हैं।'

इन सब प्रमाणोंसे सिद्धान्तकी अपेक्षा, प्रवृत्तिकी अपेक्षा और शास्त्राधारकी अपेक्षा सब प्रकारसे यह बात कि 'प्रत्येक मनुष्य जैन-धर्मको धारण कर सकता है' कितनी स्पष्ट और साफ़ तौर पर सिद्ध है, इसका अनुमान हमारे पाठक स्वयं कर सकते हैं और मालूम कर सकते हैं कि वर्तमान जैनियोंकी यह कितनी भारी ग़लती और बे-समझी है जो केवल अपने आपको ही जैनधर्मका मौरूसी हक़दार समझ बैठे हैं।

अफ़सोस! जिनके पूज्य पुरुषों, तीर्थंकरों और ऋषि-मुनियों आदिका तो इस धर्मके विषयमें यह खयाल और यह कोशिश कि कोई भी जीव इस धर्मसे वंचित न रहे—यथासाध्य प्रत्येक जीवको इस धर्ममें लगाकर उसका हित साधन करना चाहिये; उन्हीं जैनियों-की आज यह हालत कि वे कंजूस और कृपणकी तरह जैनधर्मको छिपाते फिरते हैं। न आप इस धर्मरत्नसे लाभ उठाते हैं और न दूसरोंको ही लाभ उठाने देते हैं। इससे मालूम होता है कि आज-कलके जैनी बहुत ही तंगदिल (संकीर्णहृदय) हैं और इसी तंगदिली ने उन पर संगदिली (पाषाण-हृदयता) की घटा छा रक्खी है।

खुदग़र्ज़ी (स्वार्थपरता) का उनके चारों तरफ़ राज्य है । यही कारण है कि वे दूसरोंका उपकार करना नहीं चाहते और न किसीको जैनधर्मका श्रद्धानी बनानेकी कोई ख़ास चेष्टा ही करते हैं। उनकी तरफ़से कोई डूबो या तिरों, उनको इससे कुछ प्रयोजन नहीं। अपने भाइयोंकी इस अवस्थाको देखकर बड़ा ही दु:ख होता है।

प्यारे जैनियो ! आप उन वीरपुरुषोंकी सन्तान हो, जिन्होंने लौकिक स्वार्थ-बुद्धिको कभी अपने पास तक फटकने नहीं दिया, पौरुषहीनता और भीरुताका कभी स्वप्नमें भी जिनको दर्शन नहीं हुआ, जिनके विचार बड़े ही विशुद्ध, गंभीर तथा हृदय विस्तीर्ण थे और जो संसार भरके सच्चे शुभचिंतक तथा सब जीवोंका हित साधन करनेमें ही अपनेको कृतार्थ समझनेवाले थे । आप उन्हींकी वंशपरम्परामें उत्पन्न हैं जिनका सारा मनोबल, वचनबल, बुद्धिबल और कायबल निरंतर परोपकारमें ही लगा रहता था, धार्मिक जोश से जिनका मुखमंडल (चेहरा) सदा दमकता था, जो अपनी आत्माके समान दूसरे जीवोंकी रक्षा करते थे और इस संसारको असार समझ कर निरंतर अपना तथा दूसरे जीवोंका कल्याण करनेमें ही लगे रहते थे; ऐसे ही पूज्य पुरुषोंका आप अपने आपको अनुयायी तथा उपासक भी बतलाते हैं जो ज्ञान-विज्ञानके पूर्ण स्वामी थे, जिनकी सभामें पशु-पक्षी तक भी उपदेश सुननेके लिये आते थे, जिन्होंने जैनधर्म धारण कराकर करोड़ों जीवोंका उद्धार किया था और भिन्न धर्मावलम्बियों पर जैनियोंके अहिंसाधर्मकी छाप जमाई थी। इसलिये आप ही ज़रा विचार कीजिये कि क्या अपनी ऐसी हालत बनाना और दूसरोंका उपकार करनेसे इस प्रकार हाथ खींच लेना अथवा जी चुराना आपके लिये उचित और योग्य है ? कदापि नहीं ?

प्यारे धर्म बन्धुओ ! हमें अपनी इस हालत पर बहुत ही

लज्जित तथा शोकित होना चाहिये । हमारी इस लापर्वाही (उदासीनता) और खामोशी (मौनवृत्ति) से जैन जातिको बड़ा भारी धक्का और धब्बा लग रहा है । हमने अपने पूज्य पुरुषों—ऋषि-मुनियों—के नामको बट्टा लगा रक्खा है । यह सब हमारी स्वार्थ-परता, निष्पौरुषता, संकीर्णहृदयता और विपरीत-बुद्धिका ही परिणाम है । इसका सारा कलंक हमारे ही ऊपर है । वास्तवमें हम अपनी आँखोंके सामने इस बातको देख रहे हैं कि अज्ञानसे अंधे प्राणी बिल्कुल बेसुध हुए मिथ्यात्वरूपी कुएके सन्मुख जा रहे हैं और उसमें गिर रहे हैं और फिर भी हम मौनावलम्बी हुए चुपचाप बैठे हैं—न उन बेचारोंको उस कुएँसे सूचित करते हैं, न कुएँमें गिरनेसे बचाते हैं और न कूएँमें गिरे हुओंको निकालनेका प्रयत्न करते हैं, तो इससे अधिक और क्या अपराध हो सकता है ? अब हमको इस कलंक और अपराधसे मुक्त होनेके लिये अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिये ।

सबसे प्रथम हमें अपनेमें इन स्वार्थपरता आदिक दोषोंको निकाल डालना चाहिये । फिर उत्साहकी कटि बाँधकर और परोपकार को ही अपना मुख्य धर्म संकल्प करके अपने पूज्य पुरुषों अथवा ऋषि-मुनियोंके मार्गका अनुसरण करना चाहिये और दूसरे जीवों पर दया करके उनको मिथ्यात्वरूपी अन्धकारसे निकालकर जिनवाणीके प्रकाशरूप जैनधर्मकी शरणमें लाना चाहिये । यही हमारा इस समय मुख्य कर्तव्य है और इसी कर्तव्यको पूरा करनेसे हम उपर्युक्त कलंकसे विमुक्त हो सकते हैं । अथवा यों कहिये कि अपने मस्तक पर जो कालिमाका टीका लगा हुआ है उसको दूर कर सकते हैं । हमको चाहिये कि अपने इस कर्तव्यके पालन करनेमें अब कुछ भी विलम्ब न करें । क्योंकि इस वक्त कालकी गति जैनियों-के अनुकूल है । अब वह समय नहीं रहा कि जब अन्यायी और निष्ठुर राजा तथा बादशाहोंके अन्याय और अत्याचारोंके कारण

जैनी अपनेको जैनी कहते हुए डरते थे और अपने धर्म तथा शास्त्रोंको छिपानेके लिए बाध्य होते थे। अब वह समय आ गया है कि लोगोंकी प्रवृत्ति सत्यताकी खोज और निष्पक्षपातताकी ओर होती जाती है। इसलिये जैनियोंके लिये यह समय बड़ा ही अमूल्य है। ऐसे अवसर पर हमको अवश्य अपने धर्मरत्नका प्रकाश सर्व-साधारणमें फैलाना चाहिये। सब मनुष्योंपर जैनधर्मके सिद्धान्त और उनका महत्व प्रकट करना चाहिये और उनको बतलाना चाहिये कि कैसे जैनधर्म ही सब जीवोंका कल्याण कर सकता है और उनको वास्तविक सुखकी प्राप्ति करा सकता है। इस समय हमारे भाइयोंकी सिर्फ़ थोड़ीसी हिम्मत और परोपकारबुद्धिकी जरूरत है। बाक़ी यह खूबी खुद जैनधर्ममें मौजूद है कि वह दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित कर लेवे। परन्तु दूसरोंको इस धर्मका परिचय तथा जानकारी कराना मुख्य है और यह जैनियोंका कर्त्तव्य है।

अतः प्यारे जैनियो! आप कुछ भी न घबराते हुए इस धर्म-रत्नको हाथमें लेकर चौड़े मैदानमें खड़े हो जाइये और जौहरियोंसे पुकार कर कहिये कि वे आकर इस रत्नकी परीक्षा करें। फिर आप देखेंगे कि कितने धर्मजौहरी इस धर्मरत्नको देखकर मोहित होते हैं और इस पर अपना जीवन अर्पण करनेके लिये उद्यमी नज़र आते हैं। अभी हालमें कुछ लोगोंके कानों तक इस धर्मका शुभ समाचार पहुँचा ही था कि वे तुरंत मन-वचन-कायसे इसके अनुयायी और भक्त बन गये है। इसलिये मेरा बार बार यही कहना है कि कोई भी मनुष्य इस पवित्र धर्मसे वंचित न रक्खा जावे, किसी न किसी प्रकारसे प्रत्येक मनुष्यके कानों तक इस धर्मकी आवाज़ (पुकार) पहुँच जानी चाहिये और इस बातका दिलमें कभी खयाल भी न लाना चाहिये कि अमुक मनुष्य इस धर्मको धारण करनेके अयोग्य है अथवा इस धर्मका पात्र ही नहीं है। क्योंकि यह धर्म प्राणीमात्र-का धर्म है। यदि कोई मनुष्य पूरी तौर पर इस धर्मका पालन नहीं

२५

भक्ति-योग-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्ध निश्चय-नयकी अपेक्षा परस्पर समान हैं - कोई भेद नहीं, सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है । प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है - पिंड है । परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं । इस कर्म-मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते है । अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्म-मलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीव-जगत् भेदरूप हैं; और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं । जब तक किसी जीवकी ये विभाव-परिणति बनी रहती है, तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है । जब योग्य साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा

पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएं हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं; अथवा अविकसित अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बांटा जा सकता है। और इसलिये जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं, जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्मगुणोंका विकाश सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव-परिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें। इसके लिये आत्मगुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त-हृदय गुणग्रहणका पात्र ही नहीं, बिना परिचयके अनुराग बढ़ाया नहीं जा सकता और बिना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इसलिये अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये—उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिये और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नक़शे क़दम पर चलना चाहिये; अथवा उनकी शिक्षाओं पर अमल करना चाहिये, जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिकरूपमें अथवा पूर्णरूपमें विकास हुआ हो; यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है।

वास्तवमें ऐसे महान महात्माओंके विकसित आत्मस्वरूपक भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिये अपने आत्माका अनुभवन और मनन है। हम 'सोऽहं' की भावना-द्वारा उसे अपने

जीवनमें उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उनकी कुछ भी ग़रज़ नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिये की जाती है। इसीसे सिद्धिके साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा 'भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्त्तनेको अथवा उनके प्रति गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति-पूजा-वन्दनादि रूपसे इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्व-वर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, शुभोपयोगि चारित्र लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है, जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदनका अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी—कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है, जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी-शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल-क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोंका उदय होता है, जिनसे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्माकी स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल-परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है और अपने

तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी इसीको निर्दिष्ट किया है, और इसोलिये स्तुति-वंदनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओंमें ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक-क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्त-र्दृष्टिपुरुषों (मुनियों तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती हैं। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता, और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना संचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय गुणोंका विकाश ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिनका सम्बन्ध विवेकसे है। बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती, और न बिना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

२६

महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन-तिथिका महत्व

श्रीवर्द्धमान महावीरकी गर्भ-जन्म-तप (दीक्षा)-ज्ञान-निर्वाण नामकी पंच कल्याणक तिथियाँ खूब प्रसिद्ध हैं—प्राय: नित्यकी पूजामें उनका उच्चारण—स्मरण किया जाता है और उन्हें लक्ष्य करके पंच-कल्याणक-व्रतानुष्ठानमें उपवास भी किये जाते हैं। जन्मतिथि तो 'महावीर जयन्ती' के रूपमें प्राय: सर्वत्र उत्सवादि-पूर्वक मनाई जाती है। परन्तु भ० महावीरके उपासकोंमें ऐसे बहुत ही कम—नहींके बराबर—लोग निकलेंगे जिन्हें भगवान्‌की तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि अर्थात् वह दिन भी ठीक अवगत हो जिस दिन उन्होंने केवलोत्पत्तिके पश्चात् लोक-हितार्थ अपना उपदेश प्रारम्भ किया था और उसके द्वारा धर्म-अधर्मकी यथार्थ परिभाषा बतलाकर तथा तत्त्व-अतत्त्वका ठीक भेद समझाकर अज्ञानान्धकारमें भूले-भटकते हुए प्राणियोंको सन्मार्ग दिखलाया था, उनके वहमों—मिथ्याविश्वासों—को दूर भगाकर उनकी कुप्रवृत्तियोंको सुधारनेका सातिशय प्रयत्न किया था और अन्याय-अत्याचारोंसे पीड़ित एवं आकुलित जनताको सान्त्वना देकर उसके उद्धारका नेतृत्व ग्रहण करते हुए विश्वभरको सुख-शान्तिका सच्चा सन्देश सुनाया था। कृतज्ञता और उपकार-स्मरण आदिकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि दूसरी जन्मादि तिथियोंसे कुछ कम महत्वकी नहीं है; बल्कि कितने ही अंशोंमें अधिक महत्व

रखती हैं। क्योंकि दूसरी तिथियां जब व्यक्तिविशेषके उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती हैं तब यह तिथि पीडित, पतित और मार्गच्युत जनताके उत्थान एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध रखती है, और इसलिये अपने हितमें सावधान कृतज्ञ जनताके द्वारा खास तौरसे स्मरण रखने तथा महत्व दिये जाने योग्य है। परन्तु खेद है कि आज हम अपने कल्याणका सूत्रपात करनेवाली उस पावन तिथिको प्रायः बिल्कुल ही भुला बैठे हैं! हमें यह भी मालूम नहीं कि जिस तीर्थ-प्रवर्तनके कारण हम भ० महावीरको तीर्थंकर मानकर पूजते हैं वह तीर्थप्रवृत्ति अथवा तीर्थोत्पत्ति किस दिन हुई थी! फिर उसकी स्मृतिमें कोई शुभकृत्य करना अथवा किसी उत्सवादिके रूपमें वह पुण्यदिवस मनाना तो दूरकी बात है!! अतः आज इस लेख-द्वारा मैं अपने भाईयोंका ध्यान उनके इस पवित्र कर्तव्यकी ओर आकर्षित करता हूँ।

'धवल' नामक सिद्धान्त ग्रन्थमें, जो अभी तक अलभ्य और दुष्प्राप्य था, उस पुण्यतिथिका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—

> वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
> पाडिवद पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि॥

इस गाथामें साफ़ तौरसे भ०महावीरके तीर्थकी उत्पत्ति श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको पूर्वाण्हके समय अभिजित नक्षत्रमें बतलाई है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि वह श्रावणका महीना वर्षका पहला महीना था और वह कृष्ण पक्ष वर्षका पहला पक्ष था, जिससे एक बड़े ही महत्वका ऐतिहासिक तत्त्व प्रकाशमें आता है, और वह यह कि महावीरके समयमें यहाँ वर्षका आरम्भ श्रावणके महीने तथा कृष्णपक्षसे होता था—विक्रमादि संवतोंकी तरह किसी दूसरे महीने अथवा शुक्लपक्षसे नहीं होता था। और इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि आजसे कोई ढाई हजार वर्ष पहले—निर्वाण

संवत्से २६ वर्ष ३।। महीने पूर्व--हमारे इस कृषि-प्रधान देशमें सावनी-आषाढीके विभागरूप फ़सली साल प्रवृत्त था। तब आजकल फ़सली सालकी जो संख्या बतलाई जाती और प्रवृत्तिमें आ रही है वह किस आधार पर अवलम्बित है और कहाँ तक ठीक है, यह अवश्य ही एक विचारणीय विषय है, जिस पर विद्वानोंको खासतौरसे अनु-संधान-पूर्वक प्रकाश डालना चाहिये। अस्तु।

धवल सिद्धान्तमें एक दूसरी गाथा और दी है, जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्रावण कृष्ण प्रतिपदाका वह पूर्वाण्हका समय सूर्योदयका समय था, अभिजित नक्षत्रका उस समय योग हुआ ही था और रुद्र नामका प्रथम मुहूर्त वर्त रहा था, उसी समयका यह सब योग जो युगकी आदि--युगारम्भका माना जाता है वही वीरशासनकी उत्पत्तिका समझना चाहिये। वह गाथा इस प्रकार है--

सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए तत्थ जुगादो मुणेयव्वो।।

इस तरह श्रावण कृष्ण प्रतिपदाकी तिथि महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि, युगारंभ-तिथि अथवा शासन-तिथि है और इससे उस-का महत्व स्वतः स्पष्ट है। उस दिन महावीर-शासनके प्रेमियोंको खास तौर पर उक्त शासनकी महत्ताका विचार कर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करना चाहिये और लोकमें महावीर-शासनके प्रचारका—महावीर सन्देशको सर्वत्र फैलानेका--भरसक उद्योग करना चाहिये अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमें लगे हों उन्हें सच्चा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करना चाहिये, जिससे वीरशासनका प्रसार होकर लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि होवे। आशा है सहृदय बन्धुजन मेरी इस छोटीसी सूचना एवं प्रेरणा पर अवश्य ही ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

२७

सकाम-धर्मसाधन

लौकिक-फलकी इच्छाओंको लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम-धर्मसाधन' कहते हैं और जो धर्म वैसी इच्छाओंको साथमें न लेकर, मात्र आत्मीय-कर्तव्य समझ कर किया जाता है उसका नाम 'निष्काम-धर्मसाधन' है। निष्काम-धर्मसाधन ही वास्तवमें धर्मसाधन है और वही वास्तविक फलको फलता है। सकाम-धर्मसाधन धर्मको विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्म-फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रत्युत इसके, अधर्मकी और कभी कभी घोर-पाप-फलकी भी प्राप्ति होती है। जो लोग धर्मके वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्तिसे परिचित नहीं, जिनके अन्दर धैर्य नहीं, श्रद्धा नहीं, जो निर्बल हैं, कमजोर हैं, उतावले हैं और जिन्हें धर्मके फल पर पूरा विश्वास नहीं, ऐसे लोग ही फल-प्राप्तिमें अपनी इच्छाकी टांगें अड़ा कर धर्मको अपना कार्य करने नहीं देते—उसे पंगु और बेकार बना देते हैं, और फिर यह कहते हुए नहीं लजाते कि धर्म-साधनसे कुछ भी फलकी प्राप्ति नहीं हुई। ऐसे लोगोंके समाधानार्थ—उन्हें उनकी भूलका परिज्ञान करानेके लिए ही—यह निबन्ध लिखा जाता है, और इसमें आचार्य-वाक्योंके द्वारा ही विषयको स्पष्ट किया जाता है।

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थमें लिखते हैं—

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिंतामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२॥

'फलके प्रदानमें कल्पवृक्ष संकल्पकी और चिन्तामणि चिन्ताकी अपेक्षा रखता है--कल्पवृक्ष बिना संकल्प किये और चिन्तामणि बिना चिन्ता किये फल नहीं देता; परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नहीं रखता—वह बिना संकल्प किये और बिना चिन्ता किये ही फल प्रदान करता है ।'

जब धर्म स्वयं ही फल देता है और फल देनेमें कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणिकी शक्तिको भी मात (परास्त) करता है, तब फल प्राप्तिके लिए इच्छाएँ करके--निदान बांधकर-अपने आत्माको व्यर्थ ही संक्लेशित और आकुलित करनेकी क्या ज़रूरत है ? ऐसा करनेसे तो उलटा फल-प्राप्तिके मार्गमें काँटे बोए जाते हैं; क्योंकि इच्छा फल-प्राप्तिका साधन न होकर उसमें बाधक है ।

इसमें संदेह नही कि धर्म-साधनसे सब सुख प्राप्त होते हैं; परन्तु तभी तो जब धर्मसाधनमें विवेकसे काम लिया जाय । अन्यथा, क्रियाके—बाह्यधर्माचरणके—समान होने पर भी एकको बन्ध फल, दूसरेको मोक्षफल अथवा एकको पुण्यफल और दूसरेको पाप-फल, क्यों मिलता है ? देखिये, कर्मफलकी इस विचित्रताके विषयमें श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें क्या लिखते हैं—

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पंडितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ॥७२१॥

'जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी । दोनोंका धर्माचरण समान होने पर भी अज्ञानी अविवेकके कारण कर्म बाँधता है और ज्ञानी विवेक-द्वारा कर्म-बन्धनसे छूट जाता है ।'

ज्ञानार्णवके निम्न श्लोकमें भी इसी बातको पुष्ट किया गया है—

वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥७२०॥

इससे विवेक-पूर्वक आचरणका कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलानेकी अधिक जरूरत नहीं रहती।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, अपने प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें, इसी विवेकका—सम्यग्ज्ञानका—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है:—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥३८॥

अर्थात्—अज्ञानी-अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूहको शत-सहस्र-कोटि-भवोंमें—करोड़ों जन्म लेकर—क्षय करता है उस अथवा उतने कर्म-समूहको ज्ञानी-विवेकी मनुष्य मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूपमें लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमें—लीलामात्रमें—नाश कर डालता है।

इससे अधिक विवेकका माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्रको 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और संसार-परिभ्रमण एवं उसके दुःख-कष्टोंसे मुक्ति दिलाता है। विवेकके बिना चारित्र मिथ्याचारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह संसार-परिभ्रमण तथा दुःख-परम्पराका ही कारण है। इसीसे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके अनन्तर चारित्रका आराधन बतलाया गया है; जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रगट है:—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञानपूर्वक—विवेकको साथमें न लेकर—दूसरोंकी देखा-देखी अथवा कहने-सुनने मात्रसे—जो चारित्रका अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक्चारित्र' नाम नहीं पाता—उसे 'सम्यक्चारित्र' नहीं कहते। इसीसे (आगममें) सम्यग्ज्ञानके अनन्तर—विवेक हो

जाने पर—चारित्रके आराधनका—अनुष्ठानका—निर्देश किया गया है—रत्नत्रयधर्मकी आराधनामें, जो मुक्तिका मार्ग है, चारित्रकी आराधनाका इसी क्रमसे विधान किया गया है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारमें, 'चारित्तं खलु धम्मो' इत्यादि वाक्यके द्वारा जिस चारित्रको—स्वरूपाचरणको—वस्तु-स्वभाव होनेके कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्-चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है और जो मोह-क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिसे रहित आत्माका निज परिणाम होता है[1]।

वास्तवमें यह विवेक ही उस भावका जनक होता है जो धर्माचरणका प्राण कहा गया है। बिना भावके तो क्रियाएं फलदायक होती ही नहीं हैं। कहा भी है—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः[2]।

तदनुरूप भावके बिना पूजनादिककी, तप-दान-जपादिककी और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहणादिककी सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक हैं जैसे कि बकरीके गलेके स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तन देखनेमें स्तनाकार होते हैं, परन्तु वे स्तनोंका कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना तदनुकूल भावके पूजा-तप-दान-जपादिककी उक्त सब क्रियाएँ भी देखनेकी ही क्रियाएँ होती हैं, पूजादिकका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता[3]।

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

२. देखो, कल्याणमन्दिरस्तोत्रका 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य।

३. भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव ॥

ज्ञानी-विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि किन भावोंसे पुण्य बँधता है—किनसे पाप और किनसे दोनोंका बन्ध नहीं होता? स्वच्छ, शुभ तथा शुद्ध भाव किसे कहते हैं? और अस्वच्छ, अशुद्ध तथा अशुभ भाव किसका नाम है? सांसारिक विषय-सौख्यकी तृष्णा अथवा तीव्रकषायके वशीभूत होकर जो पुण्य-कर्म करना चाहता है वह वास्तवमें पुण्यकर्मका सम्पादन कर सकता है या कि नहीं? और ऐसी इच्छा धर्मकी साधक है या बाधक? वह खूब समझता है कि सकामधर्मसाधन मोह-क्षोभादिसे घिरा रहनेके कारण धर्मकी कोटिसे निकल जाता है; धर्म वस्तुका स्वभाव होता है और इसलिये कोई भी विभाव परिणति धर्मका स्थान नहीं ले सकती। इसीसे वह अपनी धार्मिक क्रियाओंमें तद्रूपभावकी योजना-द्वारा प्राणका संचार करके उन्हें सार्थक और सफल बनाता है। ऐसे ही विवेकी जनोंके द्वारा अनुष्ठित धर्मको सब-सुखका कारण बतलाया है। विवेककी पुट बिना अथवा उसके सहयोगके अभावमें मात्र कुछ क्रियाओंके अनुष्ठानका नाम ही धर्म नहीं है। ऐसी क्रियाएँ तो जड़ मशीनें भी कर सकती हैं और कुछ करती हुई देखी भी जाती हैं—फोनोग्राफ़के कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रसके भरे हुए गाने तथा भजन गाते हैं और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखनेमें आते हैं। और भी जड़मशीनोंसे आप जो चाहें धर्मकी बाह्य क्रियाएँ करा सकते हैं। इन सब क्रियाओंको करके जड़मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नहीं बन सकतीं और न धर्मके फलको ही पा सकती हैं, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके विना धर्मकी कुछ क्रियाएँ कर लेने मात्रसे ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता और न धर्मके फलको ही पा सकता है। ऐसे अविवेकी मनुष्यों और जड़मशीनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता—उनकी क्रियाओंको सम्यक्चारित्र न कहकर 'यांत्रिक चारित्र' कहना चाहिये। हाँ, जड़ मशीनोंकी अपेक्षा ऐसे मनुष्योंमें मिथ्याज्ञान तथा मोहकी विशेषता होनेके कारण वे उसके द्वारा पाप-बन्ध करके अपना

अहित जरूर कर लेते हैं—जब कि जड़मशीनें वैसा नहीं कर सकतीं। इसी यांत्रिक चारित्रके भुलावेमें पडकर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि हमने धर्मका अनुष्ठान कर लिया! इसी तरह करोड़ों जन्म निकल जाते हैं और करोड़ों वर्षकी बाल-तपस्यासे भी उन कर्मोंका नाश नहीं हो पाता, जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोगके संसाधन-पूर्वक क्षणमात्रमें नाश कर डालता है।

इस विषयमें स्वामी कार्तिकेयने, अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थमें, कितना ही प्रकाश डाला है। उसके निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है :—

> कम्मं पुण्णं पावं हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
> मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु॥
>
> जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं।
> जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो॥
>
> जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
> दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥
>
> पुण्णासएण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
> इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह॥
>
> पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो संतो।
> तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स णहि वंछा॥
>
> गाथा ९०, १९०, ४१०—४१२

इन गाथाओंमें बतलाया है कि—'पुण्यकर्मका हेतु स्वच्छ (शुभ) परिणाम है और पापकर्मका हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम। मंदकषायरूप परिणामोंको स्वच्छ परिणाम और तीव्रकषायरूप परिणामोंको अस्वच्छ परिणाम कहते हैं। जो जीव अतितीव्र-कषायसे परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशमभावसे—कषायकी मंदतासे—युक्त रहता है वह पुण्या-

त्मा कहलाता है। जो जीव कषायभावसे युक्त हुआ विषयसौख्यकी तृष्णासे—इंद्रियविषयको अधिकाधिक रूपमें प्राप्त करनेकी तीव्र-इच्छासे—पुण्य करना चाहता है—पुण्य क्रियाओंके करनेमें प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती है और पुण्य-कर्म विशुद्धिमूलक-चित्तकी शुद्धि पर आधार रखनेवाले होते हैं। अतः उनके द्वारा पुण्यका सम्पादन नहीं हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नामसे अभिहित होनेवाली क्रियाओंको करके पुण्य पैदा नहीं कर सकते। चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्मक्रियाओंके करनेसे—सकाम-धर्मसाधनसे—पुण्यकी सम्प्राप्ति नहीं होती, बल्कि निष्काम-रूपसे धर्मासाधन करनेवालेके ही पुण्यकी संप्राप्ति होती है, ऐसा जानकर पुण्यमें भी आसक्ति नही रखना चाहिए। वास्तवमें जो जीव मंदकषायसे परिणत होता है वही पुण्य बांधता है, इसलिये मन्दकषाय ही पुण्यका हेतु है, विषयवांछा पुण्यका हेतु नहीं—विषयवांछा अथवा विषयासक्ति तीव्रकषायका लक्षण है और उसका करनेवाला पुण्यसे हाथ धो बैठता है।'

इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधनके द्वारा अपने विषय-कषायोंकी पुष्टि एवं पूर्ति चाहता है उसकी कषाय मन्द नहीं होती और न वह धर्मके मार्ग पर स्थिर ही होता है, इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान्की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूपसे जो भी धार्मिक क्रियाएं बनती हैं वे सब उसके आत्मकल्याणके लिए नहीं होतीं—उन्हें एक प्रकारको सांसारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए। ऐसे लोग धार्मिक क्रियाएं करके भी पाप उपार्जन करते हैं और सुखके स्थानमें उलटा दुखको निमन्त्रण देते हैं। ऐसे लोगोंकी इस परिणतिको श्रीशुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवग्रन्थके २५ वें प्रक-रणमें, निदान-जनित आर्त्तध्यान लिखा है और उसे घोर दुःखोंका कारण बतलाया है। यथाः—

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां,
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधामं ॥

अर्थात्——अनेक प्रकारके पुण्यानुष्ठानोंको—धर्म कृत्योंको—करके जो मनुष्य तीर्थंकरपद तथा दूसरे देवोंके किसी पदकी इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्हीं पुण्याचरणोंके द्वारा शत्रुकुल-रूपी वृक्षोंके उच्छेदकी वाँछा करता है, अथवा अनेक विकल्पोंके साथ उन धर्म-कृत्योंको करके अपनी लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा तथा लाभादिककी याचना करता है, उसकी यह सब सकाम-प्रवृत्ति 'निदानज' नामका आर्तध्यान है। ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्योंके लिए दुःख-दावानलका अग्रस्थान होता है—उससे महादुःखोंकी परम्परा चलती है।

वास्तवमें आर्त्तध्यानका जन्म ही संक्लेश-परिणामोंसे होता है, जो पापबन्धके कारण हैं। ज्ञानार्णवके उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोकमें भी आर्त्तध्यानको कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओंके बल पर ही प्रकट होनेवाला लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि आर्त्तध्यान पापरूपी दावानलको प्रज्वलित करनेके लिए ईन्धनके समान है——

कृष्ण-नीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते ।
इदं दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥४०॥

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलोंकी इच्छा रखकर धर्मसाधन करना धर्माचरणको दूषित और निष्फल ही नहीं बनाता, बल्कि उलटा पापबन्धका कारण भी होता है, और इसलिए हमें इस विषयमें बहुत ही सावधानी रखनेकी ज़रूरत है। सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें निःकांक्षित नामका भी एक अंग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअमितगति आचार्य उपासकाचारके तीसरे परिच्छेदमें साफ़ लिखते हैं:—

विधीयमानाः शम-शील-संयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम्।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् ॥७४

अर्थात्—निःकांक्षित अंगका धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकारकी वांछा नहीं करता है कि मैंने जो शम, शील और संयमका अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांछित लक्ष्मीको प्रदान करे, जो नानाप्रकारके सांसारिक सुखोंमें वृद्धि करनेके लिए समर्थ होती है—ऐसी वांछा करनेसे उसका सम्यक्त्व दूषित होता है।

इसी निःकांक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने 'समयसार' में इस प्रकार दिया है—

जो ण करेदि दु कखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २४८ ॥

अर्थात्—जो धर्मकर्म करके उसके फलकी—इन्द्रिय-विषय-सुखादिकी इच्छा नहीं रखता है—यह नहीं चाहता है कि मेरे अमुककर्मका मुझे अमुकलौकिक फल मिले—और न उस फलसाधनकी दृष्टिसे नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोंको ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूपसे धर्मसाधन करता है, उसे 'निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि' समझना चाहिये।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि तत्त्वार्थसूत्रमें क्षमादि दश धर्मोंके साथमें 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दवादिरूपसे दश धर्मोंका निर्देश किया है। यह विशेषण क्यों लगाया गया है? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थ-सिद्धि' टीकामें लिखते हैं—

दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्।

अर्थात्—लौकिक प्रयोजनोंको टालनेके लिए 'उत्तम' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

इससे यह विशेषणपद यहाँ 'सम्यक्' शब्दका प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि किसी लौकिक

प्रयोजनको लेकर—कोई दुनियावी ग़र्ज़ साधनेके लिये—यदि क्षमा, मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंमेंसे किसी भी धर्मका अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्मकी कोटिसे निकल जाता है। ऐसे सकाम-धर्मसाधनको वास्तवमें धर्मसाधन ही नहीं कहते। धर्मसाधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्मविकासके लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझकर किया जाता है, और इसलिये वह निष्काम-धर्मसाधन ही हो सकता है।

इस प्रकार सकामधर्मसाधनके निषेधमें आगमका स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्योंकी खुली आज्ञाएँ होते हुए भी खेद है कि हम आज-कल अधिकांशमें सकाम-धर्मसाधनकी ओर ही प्रवृत्त हो रहे हैं। हमारी पूजा-भक्ति-उपासना, स्तुति-वन्दना-प्रार्थना, जप-तप-दान और संयमादिकका सारा लक्ष लौकिक फलोंकी प्राप्ति ही रहता है—कोई उसे करके धन-धान्यकी वृद्धि चाहता है, तो कोई पुत्रकी संप्राप्ति। कोई रोग दूर करनेकी इच्छा रखता है, तो कोई शरीरमें बल लानेकी। कोई मुकद्दमेमें विजय-लाभके लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रुको परास्त करनेके लिये। कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धिकी साधनामें व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्योंको सफल बनानेकी धुनमें मस्त। कोई इस लोकके सुखोंको चाहता है, तो कोई परलोकमें स्वर्गादिकोंके सुखोंकी अभिलाषा रखता है। और कोई-कोई तो तृष्णाके वशीभूत होकर यहाँ तक अपना विवेक खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवानको भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवन्! आपकी कृपासे यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाएगा तो मैं आपकी पूजा करूँगा, सिद्धचक्रका पाठ थापूँगा, छत्र-चँवरादि भेट करूँगा, रथ-यात्रा निकलवाऊँगा, गज-रथ चलवाऊँगा अथवा मन्दिर बनवा दूँगा!! ये सब धर्मकी विडम्बनाएँ हैं! इस प्रकारकी विडम्बनाओंसे अपनेको धर्मका कोई लाभ नहीं होता और न आत्म-

विकास ही सध सकता है। जो मनुष्य धर्मकी रक्षा करता है—उसके विषयमें विशेष सावधानी रखता हुआ उसे विडम्बित या कलंकित नहीं होने देता—वही धर्मके वास्तविक फलको पाता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की नीतिके अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है और उसके पूर्ण विकासको सिद्ध करता है।

ऐसी हालतमें सकामधर्मसाधनको हटाने और धर्मकी बिडम्बनाओंको मिटानेके लिये समाजमें पूर्ण आन्दोलन होनेकी ज़रूरत है; तभी समाज विकसित तथा धर्मके मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपनी पूर्व गौरव-गरिमाको प्राप्त कर सकेगा। इसके लिये समाजके सदाचारनिष्ठ एवं धर्मपरायण विद्वानोंको आगे आना चाहिये और ऐसे दूषित धर्माचरणोंकी युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाजको सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलोंका परिज्ञान कराना चाहिये तथा भूलोंके सुधारका सातिशय प्रयत्न कराना चाहिये। यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बड़ा ही पुण्यकार्य है। ऐसे आन्दोलन-द्वारा सन्मार्ग दिखलानेके लिये समाजके अनेक प्रमुख पत्रोंको अपनाना—उनका उपयोग करना चाहिये।

२८

सेवा-धर्म

अहिंसाधर्म, दयाधर्म, दशलक्षणधर्म, रत्नत्रयधर्म, सदाचारधर्म, अथवा हिन्दूधर्म, मुसलमानधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म इत्यादि धर्मनामोंसे हम बहुत कुछ परिचित हैं; परन्तु 'सेवाधर्म' हमारे लिये अभी तक बहुत ही अपरिचितसा बना हुआ है। हम प्रायः समझते ही नहीं कि सेवाधर्म भी कोई धर्म है अथवा प्रधान धर्म है। कितनों-ने ही तो सेवाधर्मको सर्वथा शूद्रकर्म मान रक्खा है, वे सेवकको गुलाम समझते हैं और गुलामीमें धर्म कहाँ? इसीसे उनकी उस प्रकारके संस्कारोंमें पली हुई बुद्धि सेवाधर्मको कोई धर्म अथवा महत्वका धर्म माननेके लिये तैय्यार नही—वे समझ ही नहीं पाते कि एक भाड़ेके सेवक, अनिच्छापूर्वक मजबूरीसे काम करनेवाले परतन्त्रसेवक और स्वेच्छासे अपना कर्तव्य समझकर सेवाधर्मका अनुष्ठान करनेवाले अथवा लोकसेवामें दत्तचित्त रहनेवाले स्वयंसेवकमें कितना बड़ा अन्तर है। ऐसे लोग सेवाधर्मको शायद किसी नये धर्मकी ही सृष्टि समझते हों; परन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है। वास्तवमें सेवाधर्म सब धर्मोंमें ओत-प्रोत है और सबमें प्रधान है। विना इस धर्मके सब धर्म निष्प्राण हैं, निःसत्व है और उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। क्योंकि मन-वचन-कायसे स्वेच्छा एवं विवेकपूर्वक ऐसी क्रियाओंका छोड़ना जो किसीके लिये हानिकारक हों और ऐसी क्रियाओंका

करना जो उपकारक हों 'सेवा-धर्म' कहलाता है।

'मेरे द्वारा किसी जीवको कष्ट अथवा हानि न पहुंचे, मैं सावद्य-योगसे विरक्त होता हूँ,' लोकसेवाकी ऐसी भावनाके विना अहिंसा-धर्म कुछ भी नहीं रहता; और 'मैं दूसरोंका दुःख-कष्ट दूर करनेमें कैसे प्रवृत्त हूँ' इस सेवा-भावनाको यदि दया-धर्मसे निकाल दिया जाय तो फिर वह क्या अवशिष्ट रहेगा ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इसी तरह दूसरे धर्मोंका हाल है। सेवाधर्मकी भावनाको निकाल देनेसे वे सब थोथे और निर्जीव हो जाते हैं। सेवाधर्म ही उन सबमें, अपनी मात्राके अनुसार, प्राणप्रतिष्ठा करने-वाला है। इसलिये सेवाधर्मका महत्व बहुत ही बढ़ा चढ़ा है और वह एक प्रकारसे अवर्णनीय है। अहिंसादिक सब धर्म उसके अंग अथवा प्रकार हैं और वह सबमें व्यापक है। ईश्वरादिककी पूजा-भक्ति अथवा उपासना भी उसीमें शामिल (गर्भित) है, जो कि अपने पूज्य एवं उपकारी पुरुषोंके प्रति किये जानेवाले अपने कर्तव्यके पालनादि-स्वरूप होती है। इसीसे उसको 'देवसेवा' भी कहा गया है। किसी देव अथवा धर्म-प्रवर्तकके गुणोंका कीर्तन करना, उसके शासनको स्वयं मानना, सदुपदेशको अपने जीवनमें उतारना और शासनका प्रचार करना, यह सब उस देव अथवा धर्म-प्रवर्तककी सेवा है और इसके द्वारा अपनी तथा अन्य प्राणियोंकी जो सेवा होती है वह सब इससे भिन्न दूसरी आत्मसेवा अथवा लोकसेवा है। इस तरह एक सेवामें दूसरी सेवाएँ भी शामिल होती हैं।

स्वामी समन्तभद्रने अपने इष्टदेव भगवान महावीरके विषयमें अपनी सेवाओंका और अपनेको उनकी फलप्राप्तिका जो उल्लेख एक पद्यमें किया है वह पाठकोंके जानने योग्य है और उससे उन्हें देव-सेवाके कुछ प्रकारोंका बोध होगा और साथ ही यह भी मालूम होगा कि सच्चे हृदयसे और पूर्ण तन्मयताके साथ की हुई वीर-प्रभुकी सेवा कैसे उत्तम फलको फलती है। इसीसे उस पद्यको उनके 'स्तुति-

विद्या' नामक ग्रन्थ (जिनशतक) से यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

इसमें बतलाया है कि—'हे भगवन् ! आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए हैं, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथा सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियों[1] के रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है; इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसीलिये हे तेजःपते ! (केवलज्ञानस्वामिन् !) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति (पुण्यवान्) हूँ ।'

यहाँ पर किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि सेवा तो बड़ोंकी—पूज्य पुरुषों एवं महात्माओंकी—होती है और उसीसे कुछ फल भी मिलता है, छोटों-असमर्थों अथवा दीन-दुखियों आदिकी सेवामें क्या धरा है ? ऐसा समझना भूल होगा । जितने भी बड़े, पूज्य, महात्मा अथवा महापुरुष हुए हैं वे सब छोटों, असमर्थों, असहायों एवं दीन-दुखियोंकी सेवासे ही हुए हैं—सेवा ही सेवकोंको सेव्य बनाती अथवा ऊँचा उठाती है और इसलिये ऐसे महान लोक-सेवकोंकी

१. समन्तभद्रकी देवागम युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र नामकी स्तुतियाँ बड़े ही महत्वकी एवं प्रभावशालिनी हैं और उनमें सूत्ररूपसे जैनागम अथवा वीरशासन भरा हुआ है ।

सेवा अथवा पूजा-भक्तिका यह अभिप्राय नहीं कि हम उनका कोरा गुणगान किया करें अथवा उनकी ऊपरी (औपचारिक) सेवा-चाकरीमें ही अपनेको लगाये रक्खें—उन्हें तो अपने व्यक्तित्वके लिये हमारी सेवाकी ज़रूरत भी नहीं है—कृतकृत्योंको उसकी ज़रूरत भी क्या हो सकती है? इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—'न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे'—अर्थात् हे भगवन्! पूजा-भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि आप वीतरागी हैं—रागका अंश भी आपकी आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-सेवासे आप प्रसन्न होते। वास्तवमें ऐसे महान् पुरुषोंकी सेवा-उपासनाका मुख्य उद्देश्य उपकार-स्मरण और कृतज्ञता-व्यक्तीकरणके साथ 'तद्गुणलब्धि'—उनके गुणोंकी संप्राप्ति—होता है। इसी बातको श्रीपूज्यपादाचार्यने, 'सर्वार्थसिद्धि' के मंगलाचरण ('मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि) में, 'वन्दे तद्गुणलब्धये' पदके द्वारा व्यक्त किया है। तद्गुणलब्धिके लिये तद्रूप आचरणकी ज़रूरत है और इसलिये जो तद्गुण-लब्धिकी इच्छा करता है वह पहले तद्रूप आचरणको अपनाता है—अपने आराध्यके अनुकूल वर्तन करना अथवा उसके नक़शेक़दम पर चलना प्रारम्भ करता है। उसके लिये लोकसेवा अनिवार्य हो जाती है—दीनों, दुःखितों, पीड़ितों, पतितों, असहायों, असमर्थों, अज्ञों और पथभ्रष्टोंकी सेवा करना उसका पहला कर्त्तव्यकर्म बन जाता है। जो ऐसा न करके अथवा उक्त ध्येयको सामने न रखकर ईश्वर-परमात्मा या पूज्य महात्माओंकी भक्तिके कोरे गीत गाता है वह या तो दंभी है या ठग है—अपनेको तथा दूसरोंको ठगता है—और या उन जड़ मशीनोंकी तरह अविवेकी है जिन्हें अपनी क्रियाओं-का कुछ भी रहस्य मालूम नहीं होता। और इसलिये भक्तिके रूपमें उसकी सारी उछल-कूद तथा जयकारोंका—जय-जयके नारोंका—कुछ भी मूल्य नहीं है। वे सब दंभपूर्ण अथवा भावशून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनों (थनो) के समान निरर्थक होते हैं—उनका

कुछ भी वास्तविक फल नहीं होता ।

महात्मा गाँधीजीने कई बार ऐसे लोगोंको लक्ष्य करके कहा है कि 'वे मेरे मुँह पर थूकें तो अच्छा, जो भारतीय होकर भी स्वदेशी वस्त्र नहीं पहनते और सिरसे पैर तक विदेशी वस्त्रोंको धारण किये हुए मेरी जय बोलते हैं।' ऐसे लोग जिस प्रकार गाँधीजीके भक्त अथवा सेवक नहीं कहे जाते बल्कि मज़ाक उड़ानेवाले समझे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग अपने पूज्य महापुरुषोंके अनुकूल आचरण नहीं करते—अनुकूल आचरणकी भावना तक नहीं रखते—खुशीसे विरुद्धाचरण करते हैं और उस कुत्सित आचरणको करते हुए ही पूज्य पुरुषकी वंदनादि क्रिया करते तथा जय बोलते हैं, उन्हें उस महापुरुषका सेवक अथवा उपासक नहीं कहा जा सकता—वे भी उस पूज्य व्यक्तिका उपहास करने-करानेवाले ही होते हैं; अथवा यह कहना होगा कि वे अपने उस आचरणके लिए जड़ मशीनोंकी तरह स्वाधीन नहीं हैं और ऐसे पराधीनोंका कोई धर्म नही होता। सेवा-धर्मके लिये स्वेच्छापूर्वक कार्यका होना आवश्यक है; क्योंकि स्व-परहित-साधनकी दृष्टिसे स्वेच्छापूर्वक अपना कर्तव्य समझकर जो निष्काम-कर्म अथवा कर्म त्याग किया जाता है वह सच्चा सेवाधर्म है।

जब पूज्य महात्माओंकी सेवाके लिये गरीबोंकी–दीन-दुखियोंकी, पीड़ितों-पतितोंकी, असहायों-असमर्थोंकी, अज्ञों और पथभ्रष्टोंकी सेवा अनिवार्य है—उस सेवाका प्रधान अंग है, विना इसके वह बनती ही नहीं—तब यह नहीं कहा जा सकता और न कहना उचित ही होगा कि "छोटों–असमर्थों अथवा दीन-दुखियों आदिकी सेवामें क्या धरा है?" यह सेवा तो अहंकारादि दोषोंको दूर करके आत्माको ऊँचा उठानेवाली है, तद्गुण-लब्धिके उद्देश्यको पूरा करनेवाली है और हर तरह आत्मविकासमें सहायक है, इसलिये परमधर्म है और सेवाधर्मका प्रधान अंग है। जिस धर्मके अनुष्ठानसे अपना कुछ भी आत्मलाभ न होता हो वह तो वास्तवमें धर्म ही नहीं है।

इसके सिवाय, अनादिकालसे हम निर्बल, असहाय, दीन, दुःखित पतित, मार्गच्युत और अज्ञ-जैसी अवस्थाओंमें ही अधिकतर रहे हैं और उन अवस्थाओंमें हमने दूसरोंकी खूब सेवाएं ली हैं तथा सेवा–सहायताकी प्राप्तिके लिये निरन्तर भावनाएं भी की हैं, और इस-लिये उन अवस्थाओंमें पड़े हुए अथवा उनमेंसे गुजरनेवाले प्राणियों-की सेवा करना हमारा और भी ज्यादा कर्त्तव्यकर्म है, जिसके पालनके लिये हमें अपनी शक्तिको ज़रा भी नहीं छिपाना चाहिये — उसमें जी चुराना अथवा आना-कानी करने जैसी कोई बात न होनी चाहिये। इसीको यथाशक्ति कर्त्तव्यका पालन कहते हैं।

एक बच्चा पैदा होते ही कितना निर्बल और असहाय होता है और अपनी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये कितना अधिक दूसरों पर निर्भर रहता अथवा आधार रखता है। दूसरे जन उसकी खिलाने-पिलाने, उठाने-बिठाने, लिटाने-सुलाने, ओढ़ने-बिछाने, दिल-बहलाने, सर्दी-गर्मी आदिसे रक्षा करने और शिक्षा देने-दिलानेकी जो सेवाएं करते हैं वे सब उसके लिये प्राणदानके समान हैं। समर्थ होने पर यदि वह उन सेवाओंको भूल जाता है और घमंडमें आकर अपने उन उपकारी सेवकोंकी—माता-पितादिकोंकी – सेवा नहीं करता - उनका तिरस्कार तक करने लगता है तो समझना चाहिये कि वह पतनकी ओर जा रहा है। ऐसे लोगोंको संसारमें कृतघ्न, गुणमेट और अहसानफ़रामोश जैसे दुर्नामों से पुकारा जाता है। कृतघ्नता अथवा दूसरोंके किये हुए उपकारों और ली हुई सेवाओंको भूल जाना बहुत बड़ा अपराध है और वह विश्वासघातादिकी तरह ऐसा बड़ा पाप है कि उसके भारसे पृथ्वी भी काँपती है। किसी कविने ठीक कहा है :—

करै विश्वासघात जो कोय, कीया कृतको विसरै जोय।
आपद पड़े मित्र परिहरै, तासु भार धरणी थरहरै॥

ऐसे ही पापोंका भार बढ़ जानेसे पृथ्वी अक्सर डोला करती

है--भूकम्प आया करते हैं । और इसीसे जो साधु पुरुष—भले आदमी—होते हैं वे दूसरोंके किये हुए उपकारों अथवा ली हुई सेवाओंको कभी भूलते नहीं हैं--'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'—बदलेमें अपने उपकारियोंकी अथवा उनके आदर्शानुसार दूसरोंकी सेवा करके ऋणमुक्त होते रहते हैं। उनका सिद्धान्त तो 'परोपकाराय सतां विभूतयः' की नीतिका अनुसरण करते हुए प्रायः यह होता है :—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ?
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥

अर्थात्--अपने उपकारियोंके प्रति जो साधुताका—प्रत्युपकारादिरूप सेवाका--व्यवहार करता है उसके उस साधुपनमें कौन बड़ाईकी बात है ?—ऐसा करना तो साधारण-जनोचित मामूली-सी बात है । सत्पुरुषोंने उसे सच्चा साधु बतलाया है जो अपना अपकार एवं बुरा करनेवालोंके प्रति भी साधुताका व्यवहार करता है—उनकी सेवा करके उनके आत्मासे शत्रुताके विषको ही निकाल देना अपना कर्तव्य समझता है ।

ऐसे साधुपुरुषोंकी दृष्टिमें उपकारी, अनुपकारी और अपकारी प्रायः सभी समान होते हैं । उनकी विश्वबन्धुत्वकी भावनामें किसीका अपकार या अप्रिय आचरण कोई बाधा नहीं डालता । 'अप्रियमपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः' इस उदार भावनासे उनका आत्मा सदा ऊँचा उठा रहता है । वे तो सेवाधर्मके अनुष्ठान-द्वारा अपना विकास सिद्ध किया करते है, और इसीसे सेवाधर्मके पालनमें सब प्रकारसे दत्तचित्त होना अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

वास्तवमें, पैदा होते ही जहाँ हम दूसरोंसे सेवाएँ लेकर उनके ऋणी बनते हैं वहाँ कुछ समर्थ होने पर अपनी भोगोपभोगकी सामग्री जुटानेमें, अपनी मान-मर्यादाकी रक्षामें, अपनी कषायोंको पुष्ट करनेमें और अपने महत्व या प्रभुत्वको दूसरों पर स्थापित

करनेकी धुनमें अपराध भी कुछ कम नहीं करते हैं। इस तरह हमारा आत्मा परकृत-उपकार-भार और स्वकृत-अपराध-भारसे बराबर दबा रहता है। इन भारोंके हलका होनेके साथ साथ ही आत्माके विकासका सम्बन्ध है। लोकसेवासे यह भार हलका होकर आत्म-विकासकी सिद्धि होती है। इसीसे सेवाको परमधर्म कहा गया है और वह इतना परम-गहन है कि कभी-कभी तो योगियोंके द्वारा भी अगम्य हो जाता है—उनकी बुद्धि चकरा जाती है, वे भी उसके सामने घुटने टेक देते है और गहरी समाधिमें उतर कर उसके रहस्य को खोजनेका प्रयत्न करते हैं। लोकसेवाके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी उन्हें बहुधा यह कहते हुए सुनते हैं—

"हा दुट्ठकयं ! हा दुट्ठ भासियं ! चिंतियं च हा दुट्ठं !
अंतो अंतो डज्झम्मि पच्छुत्तावेण वेयंतो ॥"

मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिमें जहाँ थोड़ीसी भी प्रमत्तता, असावधानी अथवा त्रुटि लोकहितके विरुद्ध दीख पड़ती है वहाँ उसी समय उक्त प्रकारके उद्गार उनके मुँहसे निकल पड़ते है और वे उनके द्वारा पश्चाताप करते हुए अपने सूक्ष्म अपराधोंका भी नित्य प्रायश्चित्त किया करते है। इसीसे यह प्रसिद्ध है कि—

'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।"

सेवाधर्मकी साधनामें, निःसन्देह, बड़ी सावधानीकी ज़रूरत है और उसके लिये बहुत कुछ आत्मबलि—अपने लौकिक स्वार्थोंकी आहुति—देनी पड़ती है। पूर्णसावधानी ही पूर्णसिद्धिकी जननी है, धर्मकी पूर्णसिद्धि ही पूर्ण आत्मविकासके लिये गारंटी है और यह आत्मविकास ही सेवाधर्मका प्रधान लक्ष्य है, उद्देश्य है अथवा ध्येय है।

मनुष्यका लक्ष्य जब तक शुद्ध नहीं होता तब तक सेवाधर्म उसे कुछ कठिन और कष्टकर ज़रूर प्रतीत होता है, वह सेवा करके अपना अहसान जताता है, प्रतिसेवाकी—प्रत्युपकारकी—वाँछा करता है अथवा अपनी तथा दूसरोंकी सेवाकी मापतौल किया करता

है और जब उसकी माषतौल ठीक नहीं उतरती—अपनी सेवासे दूसरोंकी सेवा कम जान पड़ती है—अथवा उसकी वह वांछा ही पूरी नहीं होती और न दूसरा आदमी उसका अहसान ही मानता है, तो वह एकदम भुंझला उठता है, खेदखिन्न होता है दुःख मानता है, सेवा करना छोड़ देता है और अनेक प्रकारके राग-द्वेषोंका शिकार बनकर अपनी आत्माका हनन करता है। प्रत्युत इसके, लक्ष्यशुद्धिके होते ही यह सब कुछ भी नहीं होता, सेवाधर्म एकदम सुगम और सुखसाध्य बन जाता है, उसके करनेमें आनन्द ही आनन्द आने लगता है और उत्साह इतना बढ़ जाता है कि उसके फलस्वरूप लौकिक स्वार्थोंकी सहजमें ही बलि चढ़ जाती है तथा जरा भी कष्ट-बोध होने नहीं पाता। इस दशामे जो कुछ भी किया जाता है अपना कर्तव्य समझकर खुशीसे किया जाता है और उसके साथमें प्रतिसेवा, प्रत्युपकार अथवा अपने आदर-सत्कार या अहंकारकी कोई भावना न रहनेसे भविष्यमें दुःख, उद्वेग तथा कषाय-भावोंकी उत्पत्तिका कोई कारण ही नहीं रहता; और इसलिये सहजमें ही आत्मविकास सध जाता है। ऐसे लोग यदि किसीको दान भी करते हैं तो नीचे नयन करके करते हैं। किसीने पूछा 'आप ऐसा क्यों करते हैं?' तो वे उत्तर देते हैं:—

"देनेवाला और है, मैं समरथ नहिं देन।
लोग भरम मो करत हैं, याते नीचे नैन॥"

अर्थात्—देनेवाला कोई और ही है और वह इसका भाग्योदय है—मैं खुद कुछ भी देनेके लिये समर्थ नहीं हूँ। यदि मैं दाता होता तो इसे पहले से क्यों न देता? लोग भ्रमवश मुझे व्यर्थ ही दाता समझते हैं, इससे मुझे शरम आती है और मैं नीचे नयन किये रहता हूँ। देखिये, कितना ऊँचा भाव है। आत्मविकासको अपना लक्ष्य बनानेवाले मानवोंकी ऐसी ही परिणति होती है। अस्तु।

लक्ष्यशुद्धिके साथ इस सेवाधर्मका अनुष्ठान हर कोई अपनी

शक्तिके अनुसार कर सकता है। नौकर अपनी नौकरी, दुकानदार दुकानदारी, वकील वकालत, मुख्तार मुख्तारकारी, मुहर्रिर मुहर्रिरी, ठेकेदार ठेकेदारी, ओहदेदार ओहदेदारी, डाक्टर डाक्टरी, हकीम हिकमत, वैद्य वैद्यक, शिल्पकार शिल्पकारी, किसान खेती तथा दूसरे पेशेवर अपने-अपने उस पेशेका कार्य और मज़दूर अपनी मज़दूरी करता हुआ उसीमेंसे सेवाका मार्ग निकल सकता है। सबके कार्योंमें सेवाधर्मके लिये यथेष्ट अवकाश है—गुंजाइश है।

सेवाधर्मके प्रकार और मार्ग

अब मैं संक्षेपमें यह बतलाना चाहता हूँ कि सेवा-धर्म कितने प्रकारका है और उसके मुख्य मार्ग कौन-कौन हैं। सेवा-धर्मके मुख्य भेद दो हैं—एक क्रियात्मक और दूसरा अक्रियात्मक। क्रियात्मकको प्रवृत्तिरूप तथा अक्रियात्मकको निवृत्तिरूप सेवाधर्म कहते हैं। यह दोनों प्रकारका सेवाधर्म मन, वचन तथा कायके द्वारा चरितार्थ होता है, इसलिये सेवाके मुख्य मार्ग मानसिक, वाचिक और कायिक ऐसे तीन ही हैं—धनादिकका सम्बन्ध कायके साथ होनेसे वह भी कायिकमें ही शामिल है। इन्हीं तीनों मार्गोंसे सेवाधर्म अपने कार्यमें परिणत किया जाता है और उसमें आत्म-विकासके लिये सहायक सारे ही धर्म-समूहका समावेश हो जाता है।

निवृत्तिरूप सेवाधर्ममें अहिंसा प्रधान है। उसमें हिंसारूप क्रिया-का—सावद्य-कर्मका—अथवा प्राणव्यपरोपणमें कारणीभूत मन-वचन-कायकी प्रमत्तावस्थाका तथा संकल्पका त्याग किया जाता है। मन-वचन-कायकी इंद्रिय-विषयोंमें स्वेच्छा-प्रवृत्तिका भले प्रकार निरोधरूप 'गुप्ति', गमनादिकमें प्राणि-पीड़ाके परिहाररूप 'समिति', क्रोधकी अनुत्पत्तिरूप 'क्षमा', मानके अभावरूप 'मार्दव', माया अथवा योगवक्रताकी निवृत्तिरूप 'आर्जव', लोभके परित्यागरूप 'शौच', अप्रशस्त एवं असाधु वचनोंके त्यागरूप 'सत्य', प्राणव्यपरोपण और

इन्द्रिय-विषयोंके परिहाररूप 'संयम', इच्छानिरोधरूप 'तप', दुष्ट-विकल्पोंके संत्याग अथवा आहारादिक देय-पदार्थोंमेंसे ममत्वके परि-वर्जनरूप 'त्याग', बाह्य पदार्थोंमें मूर्छाके अभावरूप 'आकिंचिन्य', अब्रह्म अथवा मैथुनकर्मकी निवृत्तिरूप 'ब्रह्मचर्य' (ऐसे 'दशलक्षणधर्म); क्षुधादि-वेदनाओंके उत्पन्न होने पर चित्तमें उद्वेग तथा अशान्तिको न होने देने रूप 'परिषहजय', रागद्वेषादि-विषमताओंकी निवृत्तिरूप 'सामायिक' और कर्म-ग्रहणकी कारणीभूत-क्रियाओंसे विरक्तिरूप 'चारित्र'; ये सब भी निवृत्तिरूप सेवाधर्मके ही अंग हैं, जिनमेंसे कुछ 'हिंसा' और कुछ 'हिंसेतर' क्रियाओंके निषेधको लिये हुए हैं।

इस निवृत्ति-प्रधानसे वाधर्मके अनुष्ठानके लिए किसी भी कौड़ी-पैसेकी पासमें ज़रूरत नही है। इसमें तो अपने मन-वचन-कायकी कितनी ही क्रियाओं तकको रोकना होता है—उनका भी व्यय नहीं किया जाता। हाँ, इस धर्म पर चलनेके लिये नीचे लिखा गुरुमंत्र बड़ा ही उपयोगी है—अच्छा मार्गदर्शक है :—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

'जो जो बाते, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल हैं—जिनके दूसरों-द्वारा किए हुए व्यवहारको तुम अपने लिये पसंद नहीं करते, अहितकर और दुखदाई समझते हो—उनका आचरण तुम दूसरोंके प्रति मत करो।'

यही पापोंसे वचनेका गुरुमंत्र है। इसमें संकेतरूपसे जो कुछ कहा गया है व्याख्या-द्वारा उसे बहुत कुछ विस्तृत तथा पल्लवित करके बतलाया जा सकता है।

प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममें 'दया' प्रधान है। दूसरोंके दुःखों-कष्टोंका अनुभव करके—उनसे द्रवीभूत होकर—उनके दूर करनेके लिए मन-वचन-कायकी जो प्रवृत्ति है—व्यापार है—उसका नाम 'दया' है। अहिंसाधर्मका अनुष्ठाता जहाँ अपनी ओरसे किसीको दुःख-कष्ट नहीं पहुँचाता, वहां दयाधर्मका अनुष्ठाता दूसरोंके द्वारा पहुँचाए

गये दुःख-कष्टोंको भी दूर करनेका प्रयत्न करता है। यही दोनोंमें प्रधान अन्तर है। अहिंसा यदि सुन्दर पुष्प है तो दयाको उसकी सुगंध समझना चाहिए।

दयामें सक्रिय परोपकार, दान, वैय्यावृत्य, धर्मोपदेश और दूसरोंके कल्याणकी भावनाएँ शामिल हैं। अज्ञानसे पीड़ित जनताके हितार्थ विद्यालय-पाठशालाएँ खुलवाना, पुस्तकालय-वाचनालय स्थापित करना, रिसर्च इन्स्टीट्यूटोंका—अनुसन्धान प्रधान संस्थाओं का—जारी कराना, वैज्ञानिक खोजोंको प्रोत्तेजन देना तथा ग्रन्थ-निर्माण और व्याख्यानादिके द्वारा अज्ञानान्धकारको दूर करनेका प्रयत्न करना, रोगसे पीड़ित प्राणियोंके लिए औषधालयों-चिकित्सालयोंकी व्यवस्था करना, बेरोज़गारी अथवा भूखसे संतप्त मनुष्योंके लिए रोज़गार-धन्धेका प्रबन्ध करके उनके रोटीके सवालको हल करना और कुरीतियों, कुसंस्कारों तथा बुरी आदतोंसे जर्जरित एवं पतनोन्मुख मनुष्य-समाजके सुधारार्थ सभा-सोसाइटियोंका क़ायम करना और उन्हें व्यवस्थितरूपसे चलाना, ये सब उसी दया-प्रधान प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मके अङ्ग है। पूज्योंकी पूजा-भक्ति-उपासनाके द्वारा अथवा भक्तियोग-पूर्वक जो अपने आत्माका उत्कर्ष सिद्ध किया जाता है वह सब भी मुख्यतया प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मका अङ्ग है।

इस प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममें भी जहाँ तक अपने मन, वचन और कायसे सेवाका सम्बन्ध है वहाँ तक किसी कौड़ी-पैसेकी ज़रूरत नहीं पड़ती—जहाँ सेवाके लिए दूसरे साधनोंसे काम लिया जाता है वहीं ही उसकी ज़रूरत पड़ती है। और इस तरह यह स्पष्ट है कि अधिकाश सेवाधर्मके अनुष्ठानके लिए मनुष्यको टके-पैसेकी ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत है अपनी चित्तवृत्ति और लक्ष्यको शुद्ध करनेकी, जिसके बिना सेवाधर्म बनता ही नहीं।

इस प्रकार सेवाधर्मका यह संक्षिप्तरूप, विवेचन अथवा दिग्दर्शन है, जिसमें सब धर्मोंका समावेश हो जाता है।

२६

होलीका त्यौहार और उसका सुधार

भारतके त्यौहारोंमें होली भी एक देश-व्यापी मुख्य त्यौहार है। अनेक धर्म-समाजोंमें इसकी जो कथाएँ प्रचलित हैं वे अपनी अपनी साम्प्रदायिक दृष्टिको लेकर भिन्न भिन्न पाई जाती हैं। यहाँ पर उन सबके विचारका अवसर नहीं है। होलीकी कथाका मूलरूप कुछ भी क्यों न रहा हो, परन्तु यह त्यौहार अपने स्वरूपपरसे समता और स्वतंत्रताका एक प्रतीक जान पड़ता है; अथवा इसे सार्वजनिक हँसी-खुशी एवं प्रसन्न रहनेके अभ्यासका देशव्यापी सक्रिय-अनुष्ठान कहना चाहिये।

इस अवसर पर हर एकको बोलने, मनका भाव व्यक्त करने, स्वांग-तमाशों तथा नृत्य-गानादिके रूपमें यथेष्ट चेष्टाएँ करने, आनन्द मनाने और मानाऽपमानका खयाल छोड़कर—बड़ाई-छोटाई अथवा ऊँचता-नीचताकी कल्पना-जन्य व्यर्थका संकोच त्यागकर—एक दूसरे-के सम्पर्कमें आनेकी स्वतंत्रता होती है। साथ ही, किसीके भी रंग डालने, धूल उडाने, हँसी-मजाक करने तथा अप्रिय चेष्टाएँ करने आदिको स्वेच्छापूर्वक खुशीसे सहन किया जाता है—अपनी तौहीन (मानहानि) आदि समझकर उस पर क्रोधका भाव नहीं लाया जाता, न अपनी पोजीशनके बिगडनेका कोई खयाल ही सताता है, और यों एक प्रकारसे समता-सहनशीलताका अभ्यास किया जाता

है। अथवा यों कहिये कि इसके द्वारा राष्ट्रके लिये विघातक ऐसे राग-द्वेषादि-मूलक अनुचित भेद-भावोंको कुछ समयके लिये भुलाया जाता है—उन्हें भुलाने तथा जलाने तकका उपक्रम एवं प्रदर्शन किया जाता है—और इस तरह राष्ट्रीय एकताको बनाये रखने अथवा राष्ट्रीय-समुत्थानके मार्गको साफ़ करनेका यह भी एक कदम अथवा ढंग होता है। 'होलीकी कोई दाद-फ़र्याद नहीं' यह लोकोक्ति भी इसी भावको पुष्ट करती है, और इसलिये इस त्योहारको अपने असली रूपमें समता और स्वतंत्रताका रूपक ही नहीं, किन्तु एक प्रतीक कहना ज्यादा अच्छा मालूम होता है।

समय भी इसके लिये अच्छा चुना गया है, जो कि वसन्त ऋतु-का मध्यकाल होनेसे प्रकृतिके विकासका यौवन-काल है। प्रकृतिके इस विकाससे पदार्थ-पाठ लेकर हमें उसके साथ साथ अपने देश-राष्ट्र एवं आत्माका विकास अथवा उत्थान सिद्ध करना ही चाहिये। उसी-के प्रयत्न-स्वरूप—उसी लक्ष्यको सामने रखकर—यह त्यौहार मनाया जाता था, और तब इसका मनाना बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। परन्तु खेद है कि आज वह बात नहीं रही! उसका वह लक्ष्य और उद्देश्य ही नहीं रहा जो उसके मूलमें काम करता था! उसके पीछे जो शुभ भावनाएँ दृष्टिगोचर होती थीं और जिन्हें लेकर ही वह लोकमें प्रतिष्ठित हुआ था उन सबका आज अभाव है!! आज तो यह त्यौहार इन्द्रिय-वृत्तियोंको पुष्ट करनेका आधार अथवा चित्तकी जघन्य वृत्तियोंको प्रोत्तेजन देनेका साधन बना हुआ है, जो कि व्यक्ति और राष्ट्र दोनोंके पतनका कारण है और त्यौ-हारके रूपमें उसका कोई भी महान ध्येय सामने नहीं है। इसीसे होलीका वर्तमानरूप विकृत कहा जाता है, उसमें प्राण न होनेसे वह देशके लिये भाररूप है और इसलिये उसे उसके वर्तमान रूपमें मनाना उचित नहीं है। उसमें शरीक होना उसके विकृत-रूपको पुष्ट करना है।

यदि समता और स्वतंत्रताके सिद्धान्तपर अवलम्बित राष्ट्रीय-एकता आदिकी दृष्टिसे, चित्तकी शुद्धिको कायम रखते हुए, यह त्यौहार अपने शुद्धस्वरूपमें मनाया जाय और उससे जनताको उदारता एवं सहनशीलतादिका सक्रिय-सजीव-पाठ पढाया जाय तो इसके द्वारा देशका बहुत कुछ हित-साधन हो सकता है और वह अपने उत्थान एवं कल्याणके मार्गपर लग सकता है।

इसके लिये जरूरत है काग्रेस-जैसी राष्ट्रीय सस्थाके आगे आनेकी और इसके शरीरमें घुसे हुए विकारोंको दूर करके उसमें फिरसे नई प्राण-प्रतिष्ठा करनेकी। यदि कांग्रेस इस त्यौहारको हिन्दूधर्मकी दलदलसे निकाल कर विशुद्ध राष्ट्रीयताका रूप दे सके, एक राष्ट्रीय सप्ताह आदिके रूपमें इसके मनानेका विशाल आयोजन कर सके और मनानेके लिये ऐसी मर्यादाएँ स्थिर करके दृढताके साथ उनका पालन करानेमें समर्थ हो सके जिनसे अभ्यासादिके वश कोई भी किसीका अनिष्ट न कर सके और जो व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनोंके उत्थानमें सहायक हों, तो वह इस बहाने समता और स्वतंत्रताका अच्छा वातावरण पैदा करके देशका बहुत कुछ हित-साधन कर सकेगी और सच्चे स्वराज्यको बहुत निकट ला सकेगी। यदि काग्रेस ऐसा करनेके लिये तैयार न हो तो फिर हिन्दू-महासभादि देशकी दूसरी संस्थाओं तथा ग्राम-पंचायतोंको इस त्यौहारके सुधारका भारी प्रयत्न करना चाहिये।

क्या ही अच्छा हो यदि देशके प्रमुख-विद्वान, समाज-सेवक, नेता, मंत्रीगण और पंचजन इस त्यौहारके सुधार-विषयमें अपने अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करें और सुधार-विषयक अपनी अपनी योजनाएँ राष्ट्रके सामने रखकर उसे सुधारके लिये प्रेरित करें।

होली-पर्वके सुधार-विषयमें मेरी दस-सूत्री योजना इस प्रकार है :—

(१) इस पर्वके दिन अशुभ राग तथा द्वेष-मूलक कार्य न किये

जाने चाहियें। ऐसी कोशिश होनी चाहिये कि हम अपने कार्यों तथा चेष्टाओंसे दूसरोंको कितना प्रसन्न, प्रमुदित अथवा आनंदित कर सकते हैं।

(२) ऐसे किसी भी पदार्थका रंगादिके रूपमें प्रयोग न करना चाहिये जो दूसरोंके स्वास्थ्यमें बाधक हो अथवा भारी-अरुचिका विषय हो; जैसे नालियोंका चोडा-कीचड, गन्दा पानी, गोबर, तारकोल, वार्निश रोगन, स्याही तथा दूसरे भद्दे और पक्के रंग।

(३) रंगोंमें प्रायः केसरिया, गुलाबी, टेसू जैसे हल्के सुन्दर तथा कच्चे रंगोंका और गुलाल, अबीर तथा रोली-जैसे कोमल पदार्थोंका प्रयोग होना चाहिये।

(४) किसी अपरिचित व्यक्ति या ऐसे व्यक्ति पर जो होलीके आपके आनंदमें शरीक होना नहीं चाहता—साफ़ इनकार कर रहा है—जबरन रंग डालना या मलना न चाहिये; खासकर ऐसे पैदल या कि सवारी पर जाते हुए यात्रियों पर जो पहलेसे होलीके रंगमें रंगे हुए भी नहीं।

(५) गालियां बकना, अश्लील गीत गाना, भद्दे मज़ाक और असभ्यतामूलक कुचेष्टाएँ न होनी चाहियें, जो सब अशुभ रागकी द्योतक हैं। उनके स्थान पर अच्छे शिक्षाप्रद तथा मांगलिक लोकगीतोंको अपनाना चाहिये।

(६) सबको इस दिन जाति-पांति, ऊँच-नीच और स्पृश्य-अस्पृश्यके असद्भेदभावको भुलाकर बिना किसी संकोचके परस्परमें मिल बैठकर पर्वके समता-कार्यको सम्पन्न करना चाहिए।

(७) होलीके दिन मदिरा तथा दूसरे ऐसे मादक पदार्थोंका सेवन न किया जाना चाहिये जिससे हम अपना विवेक खो बैठें।

(८) होलिका-दहनको दोष-दहनका रूप दिया जाना चाहिये। वर्षभरके अपने दोषों, वैर-विरोधों तथा बुराइयोंको स्थिर न रखकर उन्हें संकल्पपूर्वक त्याग देना अथवा कागज-काष्ठादि पर लिख

कर होलिकाग्निमें उनकी आहुति दे देनी चाहिये और फिर स्वच्छ-हृदयसे प्रेमपूर्वक एक दूसरेसे मिलना चाहिये। ऐसी होली घर-घर जलाई जा सकती है।

(९) किसीका भी कोई काष्ठ, इंधन आदि बिना उसकी इजाजतके चोरीसे या जबरन न लेना चाहिये। इस प्रकारसे ग्रहण किया हुआ पदार्थ होलिकाग्निको दूषित करता है।

(१०) इस पर्वकी आड़में किसीको भी अपनी पुरानी दुश्मनी निकालने या बदला लेनेकी भावनासे अथवा किसीका अनिष्ट करनेकी दृष्टिसे कोई काम न करना चाहिये। ऐसे सब काम द्वेष-मूलक कार्योंमें शामिल हैं, जो पर्वकी पवित्रताको नष्ट करते हैं।

३०

स्व-पर-वैरी कौन ?

स्व-पर-वैरी—अपना और दूसरोंका शत्रु—कौन ? इस प्रश्नका उत्तर संसारमें अनेक प्रकारसे दिया जाता है और दिया जा सकता है। उदाहरणके लिये—

१. स्वपरवैरी वह है जो अपने बालकोंको शिक्षा नहीं देता, जिससे उनका जीवन खराब होता है, और उनके जीवनकी खराबीसे उसको भी दुःख-कष्ट उठाना पड़ता है, अपमान-तिरस्कार भोगना पड़ता है और सत्संततिके लाभोंसे भी वंचित रहना होता है।

२. स्वपरवैरी वह है जो अपने बच्चोंकी छोटी उम्रमें शादी करता है, जिससे उनकी शिक्षामें बाधा पड़ती है और वे सदा ही दुर्बल, रोगी तथा पुरुषार्थहीन—उत्साहविहीन बने रहते हैं अथवा अकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं। और उनकी इन अवस्थाओंसे उसको भी बराबर दुःख-कष्ट भोगना पड़ता है।

३. स्वपरवैरी वह है जो धनका ठीक साधन पासमें न होने पर भी प्रमादादिके वशीभूत हुआ रोजगार-धंधा छोड़ बैठता है—कुटुम्बके प्रति अपनी जिम्मेदारीको भुलाकर आजीविकाके लिये कोई पुरुषार्थ नहीं करता; और इस तरह अपनेको चिन्ताओंमें डालकर दुःखित रखता है और अपने आश्रितजनों—बालबच्चों आदिको भी,

उनकी आवश्यकताएँ पूरी न करके, संकटमें डालता तथा कष्ट पहुँचाता है।

४. स्वपरवैरी वह है जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि दुष्कर्म करता है; क्योंकि ऐसे आचरणोंके द्वारा वह दूसरोंको ही कष्ट तथा हानि नहीं पहुँचाता बल्कि अपने आत्माको भी पतित करता है और पापोंसे बाँधता है, जिनका दुखदाई अशुभ फल उसे इसी जन्म अथवा अगले जन्ममें भोगना पड़ता है।

इसी तरहके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु स्वामी समन्तभद्र इस प्रश्न पर एक दूसरे ही ढंगसे विचार करते हैं और वह ऐसा व्यापक विचार है जिसमें दूसरे सब विचार समा जाते हैं। आपकी दृष्टिमें वे सभी जन स्व-पर-वैरी हैं जो 'एकान्तग्रहरक्त' हैं (एकान्तग्रहरक्ताः स्वपरवैरिणः)। अर्थात् जो लोग एकान्तके ग्रहणमें आसक्त है - सर्वथा एकान्तपक्षके पक्षपाती अथवा उपासक हैं – और अनेकान्तको नही मानते – वस्तुमें अनेक गुण-धर्मोंके होते हुए भी उसे एक ही गुण-धर्मरूप अंगीकार करते हैं, वे अपने और परके वैरी हैं। आपका यह विचार देवागमकी निम्नकारिकाके 'एकान्तग्रहरक्तेषु' 'स्वपरवैरिषु' इन दो पदों परसे उपलब्ध होता है:—

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ! स्व-पर वैरिषु ॥ ८ ॥

इस कारिकामें इतना और भी बतलाया गया है कि ऐसी एकान्त-मान्यतावाले व्यक्तियोमेंसे किसीके यहाँ भी—किसीके भी मतमें—शुभ-अशुभ-कर्मकी, अन्य जन्मकी और 'चकार' से इस जन्मकी, कर्मफलकी तथा बन्ध-मोक्षादिककी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। और यह सब इस कारिकाका सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थकी दृष्टिसे इसमें सांकेतिकरूपसे यह भी संनिहित है कि ऐसे एकान्त-पक्षपातीजन स्वपरवैरी कैसे हैं और क्योंकर उनके शुभ-

अशुभकर्मों, लोक-परलोक तथा बन्ध-मोक्षादिककी व्यवस्था नहीं बन सकती। इस अर्थको अष्टसहस्री-जैसे टीका-ग्रन्थोंमें कुछ विस्तारके साथ खोला गया है। बाकी एकान्तवादियोंकी मुख्य मुख्य कोटियोंका वर्णन करते हुए उनके सिद्धान्तोंको दूषित ठहराकर -उन्हें स्व-पर-वैरी सिद्ध करने और अनेकान्तको स्व-पर-हितकारी सम्यक् सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित करनेका कार्य स्वयं स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थकी अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे किया है। ग्रन्थकी कुल कारिकाएँ (श्लोक) ११४ है, जिनपर आचार्य श्री अकलंकदेवने 'अष्टशती' नामकी आठसौ श्लोक-जितनी वृत्ति लिखी है, जो बहुत ही गूढ-सूत्रोंमें है; और फिर इस वृत्तिको साथमें लेकर श्री विद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है, जो आठ हज़ार श्लोक-परिमाण है और जिसमें मूलग्रन्थके आशयको खोलनेका भारी प्रयत्न किया गया है। यह अष्टसहस्री भी बहुत कठिन है, इसके कठिन पदोंको समझनेके लिये इसपर आठ हजार श्लोक-जितना एक संस्कृत टिप्पण भी बना हुआ है; फिर भी अपने विषयको पूरी तौरसे समझनेके लिये यह अभी तक 'कष्टसहस्री' ही बनी हुई है। और शायद यही वजह है कि इसका अब तक हिन्दी अनुवाद नहीं हो सका। ऐसी हालतमें पाठक समझ सकते है कि स्वामी समन्तभद्रका मूल 'देवागम' ग्रन्थ कितना अधिक अर्थगौरवको लिये हुए है। अकलंकदेवने तो उसे 'सम्पूर्ण पदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाला स्याद्वादरूपी पुण्योदधितीर्थ' लिखा है। इसलिये मेरे जैसे अल्पज्ञों-द्वारा समन्तभद्रके विचारोंकी व्याख्या उनको स्पर्श करनेके सिवाय और क्या हो सकती है ? इसीसे मेरा यह प्रयत्न भी साधारण पाठकोंके लिये है—विशेसज्ञोंके लिये नहीं। अस्तु; इस प्रासंगिक निवेदनके बाद अब मैं पुन' प्रकृत विषय पर आता हूँ और उसको संक्षेपमें ही साधारण जनताके लिये कुछ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

वास्तवमें प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें अनेक अन्त-

धर्म, गुण-स्वभाव, अंग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तु-को एक तरफ़से देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभाव पर दृष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्दृष्टा (उसे ठीक तौरसे देखने-पहचाननेवाला) नहीं कहला सकता। सम्यग्दृष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तों-अंगों-धर्मों अथवा स्वभावों पर नज़र डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पड़ा देखकर वह सिक्का नहीं समझता और इसलिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्तदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है[1]।

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अंग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नहीं करता—और इस तरह अपनी एकान्तधारणा बना लेता है और उसे ही जैसे-तैसे पुष्ट किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक्त', एकांतपक्षपाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध-पुरुषों की तरह आपसमें लड़ते-झगड़ते हैं और एक दूसरेसे शत्रुता धारण करके जहाँ परके वैरी बनते हैं वहाँ अपनेको हाथीके विषयमें अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीसे हाथीका काम लेनेमें समर्थ न हो सकनेवाले उन जन्मान्धों-की तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर, अपना भी अहित साधन करते हैं और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस वस्तुसे उस वस्तुका ठीक काम लेनेमें

---

१. अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

समर्थ नहीं हो सकते, और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोड़ने अथवा उसकी उपेक्षा करने पर स्वसिद्धांत-विरोधी ठहरते हैं; इस तरह दोनों ही प्रकारसे वे अपने भी वैरी होते हैं। नीचे एक उदाहरण-द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है–

एक मनुष्य किसी वैद्यको एक रोगी पर कुचलेका प्रयोग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी सुनता है कि 'कुचला जीवन-दाता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाता है। साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचलेके खाने-से अच्छा तन्दुरुस्त तथा हृष्ट-पुष्ट हो गया। इस परसे वह अपनी यह एकान्त धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाकर मनुष्यको हृष्ट-पुष्ट बनाता है'। उसे मालूम नहीं कि कुचलेमें मारनेका—जीवनको नष्ट कर देनेका—भी गुण है और उसका प्रयोग सब रोगों तथा सब अवस्थाओंमें समानरूपसे नहीं किया जा सकता; न उसे मात्राकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह वैद्य भी कुचलेके दूसरे मारक गुणसे परिचित था, और इसलिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बढ़ानेके काममें लाता था तब वह दूसरी दवाइयोंके साथमें उसका प्रयोग करके उसकी मारक शक्तिको दबा देता था अथवा उसे उन जीव-जन्तुओंके घातके काममें लेता था जो रोगीके शरीरमें जीवनी शक्तिको नष्ट कर रहे हों। और इसलिये वह मनुष्य अपनी उस एकान्त-धारणाके अनुसार अनेक रोगियोंको कुचला देता है तथा जल्दी अच्छा करनेकी धुनमें अधिक मात्रामें भी दे देता है। नतीजा यह होता है कि वे रोगी मर जाते हैं या अधिक कष्ट तथा वेदना उठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दंड पाता है, तथा कभी स्वयं कुचला खाकर अपनी प्राण-हानि भी कर डालता है। इस तरह कुचलेके विषयमें एकान्त आग्रह रखनेवाला जिस प्रकार

स्व-पर-वैरी होता है उसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमें भी एकान्त हठ पकड़नेवालोंको स्व-पर-वैरी समझना चाहिये ।

सच पूछिये तो जो अनेकान्तके द्वेषी हैं वे अपने एकान्तके भी द्वेषी हैं; क्योंकि अनेकान्तके बिना वे एकान्तको प्रतिष्ठित नहीं कर सकते — अनेकान्तके बिना एकान्तका अस्तित्व उसी तरह नहीं बन सकता जिस तरह कि सामान्यके बिना विशेषका या द्रव्यके बिना पर्यायका अस्तित्व नहीं बनता । सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म जिस प्रकार परस्परमें अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव नही बनता — उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्तमें भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है । ये सब सप्रतिपक्षधर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिए हुए होते हैं । उदाहरणके तौर पर अनामिका अंगुली छोटी भी है और बड़ी भी — कनिष्टासे वह बड़ी है और मध्यमासे छोटी है। इस तरह अनामिकामें छोटापन और बड़ापन दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटी है और छोटी नही है ऐसे छोटेपनके अस्तित्व और नास्तित्वरूप दो अविनाभावी धर्म भी उसमें सापेक्षरूपसे पाये जाते हैं—अपेक्षाको छोड़ देने पर दोनोंमेंसे कोई भी धर्म नहीं बनता । इसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमें इस पारपन और उस पारपनके दोनों धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होनेसे ही अविरोधरूप रहते हैं ।

जो धर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिये हुए होते हैं वे अपने और दूसरेके उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा दूसरेकी सत्ताको बनाये रखते हैं । और जो धर्म परस्पर अपेक्षाको लिये हुए नहीं होते वे अपने और दूसरेके अपकारी (शत्रु) होते हैं—स्व पर-प्रणाशक होते हैं, और इसलिये न अपनी सत्ताको क़ायम रख सकते है और न दूसरेकी । इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयंभूस्तोत्रमें भी—

'मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः'

'परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः'

इन वाक्योंके द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट घोषणा की है। आप निरपेक्षनयोंको मिथ्या और सापेक्षनयोंको सम्यक् बतलाते हैं। आपके विचारसे निरपेक्षनयोंका विषय अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है और सापेक्षनयोंका विषय अर्थकृत (प्रयोजनसाधक) होनेसे वस्तुतत्त्व है[१]। इस विषयकी विशेष चर्चा एवं व्याख्या समन्तभद्र-विचारदीपक-में अन्यत्र की जायगी। यहाँ पर सिर्फ़ इतना ही जान लेना चाहिये कि निरपेक्षनयोंका विषय 'मिथ्या एकान्त' और सापेक्षनयोंका विषय 'सम्यक् एकान्त' है। और यह सम्यक् एकांत ही प्रस्तुत अनेकान्तके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए है। जो मिथ्या एकान्तके उपासक होते हैं उन्हें ही 'एकान्त-ग्रहरक्त' कहा गया है, वे ही 'सर्वथा-एकान्तवादी' कहलाते हैं और उन्हें ही यहाँ 'स्व-पर-वैरी' समझना चाहिये। जो सम्यक् एकान्तके उपासक होते हैं उन्हें 'एकान्तग्रहरक्त' नहीं कहते, उनका नेता 'स्यात्' पद होता है, वे उस एकान्तको कथंचित् रूपसे स्वीकार करते हैं; इसलिये उसमें सर्वथा आसक्त नहीं होते और न प्रतिपक्ष-धर्मका विरोध अथव निराकरण ही करते हैं—सापेक्षावस्थामें विचारके समय प्रतिपक्ष-धर्मकी अपेक्षा न होनेसे उसके प्रति एक प्रकारकी उपेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नहीं होता। और इसीसे वे 'स्व-पर-वैरी' नहीं कहे जा सकते। अतः स्वामी समन्तभद्रका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'जो एकान्तग्रहरक्त होते हैं वे स्व-पर-वैरी होते हैं।'

अब देखना यह है कि ऐसे स्वपरवैरी एकान्तवादियोंके मतमें शुभ-अशुभ-कर्म, कर्मफल, सुख-दुख, जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे नहीं बन सकती।

---

१. निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। —देवागम १०८

बात बिल्कुल स्पष्ट है, ये सब अवस्थाएं चूंकि अनेकान्ताश्रित हैं—अनेकान्तके आश्रय बिना इन परस्पर विरुद्ध मालूम पड़नेवाली सापेक्ष अवस्थाओंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा व्यवस्था नहीं बन सकती। इसलिये जो अनेकान्तके बैरी हैं—अनेकान्त-सिद्धान्तसे द्वेष रखते हैं—उनके यहाँ ये सब व्यवस्थाएं सुघटित नहीं हो सकतीं। अनेकान्तके प्रतिषेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिषेध हो जाता है; क्योंकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है। जब अनेकान्त ही नहीं तब क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिस प्रकार गुण-पर्यायकी और वृक्षके अभावमें शीशम, जामन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमें क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है; क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है। और अर्थक्रियाके अभावमें कर्मादिक नहीं बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है। जब शुभ-अशुभ-कर्म ही नहीं बन सकते तब उनका फल सुख-दुख, फल-भोगका क्षेत्र, जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोंसे बंधने तथा छूटनेकी बात तो कैसे बन सकती है? सारांश यह कि अनेकांतके आश्रय बिना ये सब शुभाऽशुभ-कर्मादिक निराश्रित होजाते हैं, और इसलिए सर्वथा नित्यादि एकातवादियोंके मतमें इनकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं बन सकती। वे यदि इन्हें मानते हैं और तपश्चरणादिके अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोंका अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इष्टको अनेकांतका विरोध करके बाधा पहुँचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व-पर-वैरी सिद्ध करते हैं।

वस्तुतः अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोंके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक्-व्यवस्था करनेवाला है; इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—

बिना अनेकांतका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक बनता ही नहीं, और न परस्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है । इसीलिये अनेकांतको परमागमका बीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सबोंके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है[1] । जैनी नीतिका भी वही मूलाधार है । जो लोग अनेकांतका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नहीं होते, उनसे पाप नहीं बनते, उन्हें आपदाएँ नहीं सतातीं और वे लोकमें सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील बने रहते हैं ।

---

१. नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

३१

वीतरागकी पूजा क्यों ?

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजासे प्रसन्न होता है, और प्रसन्नताके फलस्वरूप पूजा करनेवालेका कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोकमें उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजासे किसीका प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके बिना अप्रसन्न रहता हो, या उससे उसकी प्रसन्नतामें कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकारका लाभ पहुँचता हो; परन्तु वीतरागदेवके विषयमें यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता—वे न किसी पर प्रसन्न होते हैं, न अप्रसन्न और न किसी प्रकारकी कोई इच्छा ही रखते हैं, जिसकी पूर्ति-अपूर्तिपर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते हैं—उनकी प्रसन्नतामें किसी भी कारणसे कोई कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा-अपूजासे वीतरागदेव की प्रसन्नता या अप्रसन्नताका कोई सम्बन्ध नहीं—वह उसके द्वारा संभाव्य ही नहीं—तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कैसे की जाय, कब की जाय, किन द्रव्योंसे की जाय, किन मन्त्रोंसे की जाय और उसे कौन करे—कौन न करे ? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अविधिसे पूजा करनेपर कोई अनिष्ट घटित हो जायगा अथवा किसी अधम-अशोभन-अपावन मनुष्यके पूजा कर-

लेने पर वह देव नाराज़ हो जायगा और उसकी नाराज़गीसे उस मनुष्य तथा समूचे समाजको किसी दैवी कोपका भाजन बनना पड़ेगा; क्योंकि ऐसी शंका करने पर वह देव वीतराग ही नहीं ठहरेगा—उसके वीतराग होनेसे इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओंकी तरह रागी-द्वेषी मानना पड़ेगा। इसीसे अक्सर लोग जैनियोंसे कहा करते हैं कि—"जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा-उपासनाकी कोई ज़रूरत नहीं, कर्ता-हर्ता न होनेसे वह किसीको कुछ देता-लेता भी नहीं; तब उसकी पूजा-वन्दना क्यों की जाती है और उससे क्या नतीजा है ?"

इन सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर स्वामी समन्तभद्र, जो कि वीतरागदेवोंको सबसे अधिक पूजाके योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति-स्तोत्रों आदिके द्वारा उनकी पूजामें सदा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं:—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त-वैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्त दुरिताऽञ्जनेभ्यः ॥

अर्थात्—हे भगवन् ! पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि आप वीतरागी हैं—रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दनासे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको ज़रा भी क्षोभ नही आ सकता; क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव-द्वेषांश बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। यह सब कुछ ठीक है; परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा-वंदनादि करते हैं उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा-वंदनादि आपके लिये

नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—, जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पापमलोंसे छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं। इसीसे पद्यके उत्तरार्धमें यह सैद्धातिक घोषणा की गई है कि 'आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण हमारे पापमलसे मलिन आत्माको निर्मल करता है'—उसके विकासमें सचमुच सहायक होता है।

यहाँ वीतराग-भगवानके पुण्य-गुणोंके स्मरणसे पापमलसे मलिन आत्माके निर्मल (पवित्र) होनेकी जो बात कही गई है वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमें जैनधर्मके आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद-जैसे सिद्धान्तोंका बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूपमें संनिहित है। इस विषयमें मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकोंमें किया है—स्वयम्भूस्तोत्रकी प्रस्तावनाके 'भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि-रहस्य' नामक प्रकरणसे भी पाठक उसे जान सकते है। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने वीतरागदेवके जिन पुण्य-गुणोंके स्मरणकी बात कही है वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि आत्माके असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टिसे सब आत्माओंके समान होने पर सबकी समान-सम्पत्ति हैं और सभी भव्यजीव उन्हें प्राप्त कर सकते है। जिन पापमलोंने उन गुणोंको आच्छादित कर रक्खा है वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, योगबलसे जिन महात्माओंने उन कर्ममलोंको दग्ध करके आत्मगुणोंका पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जाते हैं—शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओंमें हैं; और वे अपनी

आत्मनिधिको प्रायः भूले हुए हैं । सिद्धात्माओंके विकसित गुणों परसे वे आत्मगुणोंका परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्हीं साधनों-द्वारा उन गुणोंकी प्राप्तिका यत्न करते हैं जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओंने किया था। और इसलिये वे सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म-विकासके इच्छुक संसारी आत्माओंके लिये 'आदर्शरूप' होते है, आत्मगुणोंके परिचयादिमें सहायक होनेसे उनके 'उपकारी' होते हैं और उस वक्त तक उनके 'आराध्य' रहते हैं जबतक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूपसे विकसित न हो जाँय। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने "ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिनशीतलेड्यसे (स्व० ५०)" इस वाक्यके द्वारा उन बुधजन-श्रेष्ठों तकके लिये वीतरागदेवकी पूजाको आवश्यक बतलाया है जो अपने निःश्रेयसकी—आत्मविकासकी—भावनामें सदा सावधान रहते हैं। और एक दूसरे पद्य 'स्तुतिः स्तोतुः साधोः (स्व० ११६) में वीतरागदेवकी इस पूजा-भक्तिको कुशलपरिणामोंकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही उसी स्तोत्रगत नीचेके एक पद्यमें वे, योगबलसे आठों पापमलोंको दूर करके संसारमें न पाये जानेवाले ऐसे परमसौख्यको प्राप्त हुए सिद्धात्माओंका स्मरण करते हुए, अपने लिये तद्रूप होनेकी स्पष्ट भावना भी करते हैं, जो कि वीतरागदेवकी पूजा-उपासनाका सच्चा रूप है :—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये ॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब विचारोंसे यह भले प्रकार स्पष्ट होजाता है कि वीतरागदेवकी उपासना क्यों की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है।

३२

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

जब वीतराग अर्हन्तदेव परम उदासीन एवं कृतकृत्य होनेसे कुछ करते-धरते नही तब पूजा-उपासनादिके अवसरोंपर उनसे बहुधा प्रार्थनाएँ क्यों की जाती हैं और क्यों उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व-विषयका आरोप किया जाता है ?—जिसे स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंने भी अपनाया है। यह प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और सभीके लिये इसका उत्तर वांछनीय एवं जाननेके योग्य है। अत: इसीके समाधानका यहाँ प्रयत्न किया जाता है।

सबसे पहली बात इस विषयमें यह जान लेनेकी है कि इच्छा-पूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला हीउसका कर्ता नहीं होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक कार्यका करने-वाला भी कर्ता होता है। वह भी कार्यका कर्ता होता है जिसमें इच्छा-बुद्धिका प्रयोग ही नहीं किन्तु सद्भाव (अस्तित्व) भी नहीं अथवा किसी समय उसका संभव भी नहीं है। ऐसे इच्छाशून्य तथा बुद्धिहीन कर्ता कार्योंके प्राय: निमित्तकारण ही होते हैं और प्रत्यक्ष-रूपमें तथा अप्रत्यक्षरूपमें उनके कर्ता जड और चेतन दोनों ही प्रकारके पदार्थ हुआ करते हैं। इस विषयके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं, उन पर जरा ध्यान दीजिये:—

(१) 'यह दवाई अमुक रोगको हरनेवाली है'। यहां दवाईमें कोई इच्छा नहीं और न बुद्धि है, फिर भी वह रोगको हरनेवाली

है—रोगहरण-कार्यकी कर्ता कही जाती है; क्योंकि उसके निमित्तसे रोग दूर होता है।

(२) 'इस रसायनके प्रसादसे मुझे नीरोगताकी प्राप्ति हुई।' यहाँ 'रसायन' जड औषधियोंका समूह होनेसे एक जड पदार्थ है, उसमें न इच्छा है, न बुद्धि और न कोई प्रसन्नता; फिर भी एक रोगी प्रसन्नचित्तसे उस रसायनका सेवन करके उसके निमित्तसे आरोग्य-लाभ करता है और उस रसायनमें प्रसन्नताका आरोप करता हुआ उक्त वाक्य कहता है। यह सब लोक-व्यवहार है अथवा अलंकारकी भाषामें कहनेका एक प्रकार है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुझे इस रसायन या दवाईने अच्छा कर दिया' जब कि उसने बुद्धिपूर्वक या इच्छापूर्वक उसके शरीरमें कोई काम नहीं किया। हाँ उसके निमित्तसे शरीरमें रोगनाशक तथा आरोग्यवर्धक कार्य जरूर हुआ है और इसलिये वह उसका कार्य कहा जाता है।

(३) एक मनुष्य छत्री लिये जा रहा था और दूसरा मनुष्य बिना छत्रीकेसामनेसे आ रहा था। सामनेवाले मनुष्यकी दृष्टि जब छत्री पर पड़ी तो उसे अपनी छत्रीकी याद आ गई और यह स्मरण हो आया कि 'मैं अपनी छत्री अमुक दुकान पर भूल आया हूँ'; चुनाँचे वह तुरन्त वहाँ गया, अपनी छत्री ले आया और आकर कहने लगा—'तुम्हारी इस छत्रीका मैं बहुत आभारी हूँ; इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है।' यहाँ छत्री एक जडवस्तु है, उसमें बोलनेकी शक्ति नहीं, वह कुछ बोली भी नहीं और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेकी वह बात ही सुझाई है; फिर भी चूंकि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृति आदिरूप यह सब कार्य हुआ है इसीसे अलंकृत भाषामें उसका आभार माना गया है।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उसपर आसक्त हो गया, तरह-तरहकी कल्पनाएँ करके दीवाना बन गया और कहने लगा—'उस स्त्रीने मेरा मन हर लिया, मेरा चित्त चुरा

लिया, मेरे ऊपर जादू कर दिया ! मुझे पागल बना दिया ! अब मैं बेकार हूँ और मुझसे उसके बिना कुछ भी करते-धरते नहीं बनता ।' परन्तु उस बेचारी स्त्रीको इसकी कुछ भी खबर नहीं—किसी बातका पता तक नहीं और न उसने उस पुरुषके प्रति बुद्धि-पूर्वक कोई कार्य ही किया है—उस पुरुषने ही कहीं जाते हुए उसे देख लिया है; फिर भी उस स्त्रीके निमित्तको पाकर उस मनुष्यके आत्म-दोषोंको उत्तेजना मिली और उसकी यह सब दुर्दशा हुई। इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीके मत्थे मढ रहा है; जब कि वह उसमें अज्ञातभावसे एक छोटासा निमित्त कारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोष था।

(५) एक दुःखित और पीड़ित गरीब मनुष्य एक संतके आश्रयमें चला गया और बड़े भक्ति-भावके साथ उस संतकी सेवा-सुश्रूषा करने लगा। वह संत संसार-देह-भोगोंसे विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किसीसे कुछ बोलता या कहता नही—सदा मौनसे रहता है। उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिको देखकर पिछले भक्त लोग सब दंग रह गये ! अपनी भक्तिको उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर-सत्कारके साथ उस नवागन्तुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने-अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्य-कताओंकी पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुखसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा और उसका भक्ति-भाव और भी दिन पर दिन बढ़ने लगा। कभी-कभी वह भक्तिमें विह्वल होकर सन्तके चरणोंमें गिर पड़ता और बड़े ही कम्पित स्वरमें गिड़गिड़ाता हुआ कहने लगता—'हे नाथ ! आप ही मुझ दीन-हीनके रक्षक हैं, आप ही मेरे अन्नदाता हैं, आपने मुझे वह भोजन दिया है जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तरकी भूख मिट गई है। आपके चरण-शरणमें आनेसे ही मैं सुखी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दुःख मिटा दिये हैं और मुझे वह दृष्टि प्रदान की है जिससे मैं अपनेको और जगत्को भले

प्रकार देख सकता हूँ। अब दयाकर इतना अनुग्रह और कीजिये कि मैं जल्दी ही इस संसारके पार हो जाऊँ।"

यहाँ भक्त-द्वारा सन्तके विषयमें जो कुछ कहा गया है वैसा उस सन्तने स्वेच्छासे कुछ भी नहीं किया। उसने तो भक्तके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये किसीसे संकेत तक भी नहीं किया और न अपने भोजनमेंसे कभी कोई ग्रास ही उठाकर उसे दिया है; फिर भी उसके भोजनादिकी सब व्यवस्था हो गई। दूसरे भक्तजन स्वयं ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसके भोजनादिकी सुव्यवस्था करनेमें प्रवृत्त हो गये और वैसा करके अपना अहोभाग्य समझने लगे। इसी तरह सन्तने उस भक्तको लक्ष्य करके कोई खास उपदेश भी नहीं दिया; फिर भी वह भक्त उस सन्तकी दिनचर्या और अवाग्विसर्ग (मौनोपदेशरूप) मुख-मुद्रादिक परसे स्वयं ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रबोधको प्राप्त होगया। परन्तु यह सब कुछ घटित होनेमें उस सन्तपुरुषका व्यक्तित्व ही प्रधान निमित्तकारण रहा है - भले ही वह कितना ही उदासीन क्यों न हो। इसीसे भक्त-द्वारा उसका सारा श्रेय उक्त सन्तपुरुषको ही दिया गया है।

इन सब उदाहरणों परसे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि किसी कार्यका कर्ता या कारण होनेके लिये यह लाज़िमी (अनिवार्य) अथवा ज़रूरी नहीं है कि उसके साथमें इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणादिक भी हों, वह उसके बिना भी हो सकता है और होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाकर देने या किसीको उसके देनेकी प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर दिला देनेसे ही कोई मनुष्य दाता नहीं होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है; जब कि उसके निमित्तसे, प्रभावसे, आश्रयमें रहनेसे, सम्पर्कमें आनेसे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमें परमवीतराग श्रीअर्हन्तादिदेवोंमें कर्तृत्वादि-विषयका आरोप

व्यर्थ नहीं कहा जा सकता—भले ही वे अपने हाथसे सीधा किसीका कोई कार्य न करते हों, मोहनीय कर्मके अभावसे उनमें इच्छाका अस्तित्व तक न हो और न किसीको उस कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उनसे बनता हो; क्योंकि उनके पुण्यस्मरण, चिन्तन, पूजन, भजन, कीर्तन, स्तवन और आराधनसे जब पापकर्मोंका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि और आत्माकी विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है— तब फिर कौन कार्य है जो अटका रह जाय ? सभी कार्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं, भक्तजनोंकी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं और इसलिये उन्हें यही कहना पड़ता है कि 'हे भगवन् ! आपके प्रसादसे मेरा यह कार्य सिद्ध हो गया'; जैसे कि रसायनके प्रसादसे आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है।

रसायन औषधि जिस प्रकार अपना सेवन करनेवाले पर प्रसन्न नहीं होती और न इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य ही सिद्ध करती है उसी तरह वीतराग भगवान् भी अपने सेवक पर प्रसन्न नहीं होते और न प्रसन्नताके फलस्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न ही करते हैं। प्रसन्नतापूर्वक सेवन-आराधनके कारण ही रसायन और वीतरागदेवमें प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलंकृत भाषाका कथन है। अन्यथा दोनोंका कार्य वस्तु-स्वभावके वशवर्ती, सयोगोंकी अनुकूलताको लिये हुए, स्वतः होता है—उसमें किसीकी इच्छा-प्रसन्नतादिकी कोई बात नहीं है।

यहाँ पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे एक बात और प्रकट कर देने की है और वह यह कि, संसारी जीव मनसे, वचनसे व कायसे जो क्रिया करता है उससे आत्म प्रदेशोंमें कम्पन (हलन-चलन) होकर द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओंका आत्म-प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रव' कहते हैं। मन-वचन-कायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उससे शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभकर्मका आस्रव होता है। तदनुसार ही बंध होता है। इस तरह कर्म शुभ-अशुभ-

के भेदसे दो भागोंमें बँटा रहता है। शुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रकृति (स्वभाव-शीलता) होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रकृति और अशुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रकृति कहते हैं। शुभाऽशुभ भावोंकी तरतमता और कषायादि परिणामोंकी तीव्रता-मंदतादिके कारण इन कर्मप्रकृतियों-में बराबर परिवर्तन (उलटफेर) अथवा संक्रमण हुआ करता है। जिस समय जिस प्रकारकी कर्मप्रकृतियोंके उदयका प्राबल्य होता है उस समय कार्य प्रायः उन्हींके अनुरूप निष्पन्न होता है। वीतराग-देवकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण एवं चिंतन करने और उनमें अनुराग बढ़ानेसे शुभभावों (कुशलपरि-णामों) की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्यकी पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है। नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रकृतियोंका रस (अनुभाग) सूखता और पुण्यप्रकृतियोंका रस बढ़ता है। पापप्रकृतियोंका रस सूखने और पुण्यप्रकृतियोंमें रस बढ़नेसे 'अन्तरायकर्म' नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पापप्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य (शक्ति-बल) में विघ्नरूप रहा करती है—उन्हें होने नहीं देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्ट-कार्यको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं, बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं और उन सबका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। इसीसे स्तुति-वन्दनादिको इष्टफलकी दाता कहा है; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादिमें उद्धृत किसी आचार्यमहोदयके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति-वन्दनादि कार्य इष्ट फलको

देनेवाले हैं और वीतरागदेवमें कर्तृत्व-विषयका आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नहीं है, बल्कि ऊपरके निर्देशानुसार संगत और सुघटित है—वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादिकी दृष्टिसे कर्ता न होते हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसे कर्ता जरूर हैं और इसलिये उनके विषयमें अकर्तापनका सर्वथा एकान्तपक्ष घटित नहीं होता; तब उनसे तद्विषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओंका किया जाना भी असंगत नहीं कहा जा सकता, जो उनके सम्पर्क तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होजाती हैं अथवा उपासना एवं भक्तिके द्वारा सहज-साध्य होती हैं।

इस विषयमें स्वामी समन्तभद्रका स्वयंभूस्तोत्रगत निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है—

स्वदोष-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥

इसमें बतलाया है कि वे 'भगवान शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—मैं उनकी शरण लेता हूँ—जिन्होंने अपने दोषोंकी—अज्ञान, मोह तथा राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारोंकी शान्ति करके आत्मामें परमशान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुख-स्वरूप स्वाभाविकी स्थिति प्राप्त की है—और इसलिये जो शरणागतोंको शान्तिके विधाता हैं—उनमें अपने आत्मप्रभावसे दोषोंकी शान्ति करके शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक एवं निमित्तभूत हैं। अतः (इस शरणागतिके फलस्वरूप) शान्ति-जिन मेरे संसार-परिभ्रमणका अन्त और सांसारिक क्लेशों तथा भयोंकी समाप्तिमें कारणीभूत होवें।'

यहाँ शान्ति-जिनको शरणागतोंकी शान्तिका जो विधाता (कर्ता) कहा है उसके लिये उनमें किसी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्नके आरोप की जरूरत नहीं है, वह कार्य उनके 'विहितात्मशान्ति' होनेसे स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे

सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिक-जैसा कोई कारण नहीं पड़ता। इच्छा तो स्वयं एक दोष है और वह उस मोहका परिणाम है जिसे स्वयं स्वामीजीने उक्त स्तोत्रमें 'अनन्तदोषाशय-विग्रह' बतलाया है। दोषोंकी शान्ति होजानेसे उसका अस्तित्व ही नहीं बनता। इसलिये अर्हन्तदेवमें बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है। इसी कर्तृत्वको लक्ष्यमें रखकर उन्हें 'शान्ति-के विधाता' कहा गया है—इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिसे वे उसके विधाता नहीं हैं। इस तरह कर्तृत्व-विषयमें अनेकांत चलता है—सर्वथा एकांतपक्ष जैनशासनमें ग्राह्य ही नहीं है।

यहां प्रसंगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पड़ता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणमें सांसारिक क्लेशों तथा भयोंकी शांतिमें कारणीभूत होनेकी जो प्रार्थना की गई है वह जैनी प्रार्थ-नाका मूलरूप है, जिसका और भी स्पष्ट दर्शन नित्यकी प्रार्थनामें प्रयुक्त निम्न प्राचीनतम गाथामें पाया जाता है—

दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहि-लाहो य।
मम होउ तिजगबंधव ! तव जिणवर चरण-सरणेण ॥

इसमें जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—हे त्रिज-गतके (निर्निमित्त) बन्धु जिनदेव ! आपके चरण-शरणके प्रसादसे मेरे दुःखोंका क्षय, कर्मोंका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और सम्यग्द-र्शनादिकका लाभ होवे। इससे यह प्रार्थना एक प्रकारसे आत्मोत्कर्ष-की भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नतापूर्वक जिनदेवके चरणोंका आराधन करनेसे—दुःखोंका क्षय और कर्मोंका क्षयादिक सुख-साध्य होता है। यही भाव समन्तभद्रकी उक्त प्रार्थनाका है। इसी भावको लेकर 'मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ !'(२५) 'भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये' (११५) जैसी दूसरी भी अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं। परन्तु ये ही

प्रार्थनाएँ जब जिनेन्द्रदेवको साक्षात् रूपमें कुछ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती हैं तो वे अलंकृत रूपको धारण किये हुए होती हैं। ऐसी अलंकृतरूपधारिणी प्रार्थनाओंके स्वयंभूस्तोत्रगत कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

१. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः (५)
२. जिन-श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
३. ममार्य ! देयाः शिवतातिमुच्चैः (१५)
४, पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे (४०)
५. श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः (७५)

ये सब प्रार्थनाएँ चित्तको पवित्र करने,जिनश्री तथा शिवसंतति-को देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिये हुए हैं, आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासको लक्ष्य करके की गई हैं। इनमें असंगतता तथा असंभाव्य-जैसी कोई बात नहीं है—सभी जिनेन्द्रदेवके सम्पर्क, प्रभाव तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होनेवाली अथवा भक्ति-उपासनाके द्वारा सहज-साध्य हैं—और इसलिये अलंकारकी भाषामें की गई एक प्रकारकी भावनाएँ ही हैं।

वास्तवमें परमवीतरागदेवसे विवेकीजनकी प्रार्थनाका अर्थ देव-के समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अथवा यों कहिये कि अलंकारकी भाषामें मनःकामनाको व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'वह आपके चरण-शरण एवं प्रभावमें रहकर और उससे कुछ पदार्थ पाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छा कामना या भावनाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि नहीं होता कि वीतरागदेव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रयत्नादि-को काममें लाते हुए स्वयं उसका कोई काम कर देंगे अथवा दूसरों-से प्रेरणादिके द्वारा करा देंगे। ऐसा आशय असंभाव्यको संभाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है।

३३

पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ?

पुण्य-पापका उपार्जन कैसे होता है—कैसे किसीको पुण्य लगता, पाप चढ़ता अथवा पाप-पुण्यका उसके साथ सम्बन्ध होता है; यह एक भारी समस्या है, जिसको हल करनेका बहुतोंने प्रयत्न किया है। अधिकांश विचारकजन इस निश्चय पर पहुँचे हैं और उनकी यह एकान्त धारणा है कि—'दूसरोंको दुख देने, दुख पहुँचाने, दुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह दुखका कारण बननेसे नियमतः पाप होता है—पापका आस्रव-बन्ध होता है; प्रत्युत इसके दूसरोंको सुख देने, सुख पहुँचाने, सुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह सुखका कारण बननेसे नियमतः पुण्य होता है—पुण्यका आस्रव-बन्ध होता है। अपनेको दुख-सुख देने आदिसे पाप-पुण्यके बन्धका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

दूसरोंका इस विषयमें यह निश्चय और यह एकान्त धारणा है कि—'अपनेको दुख देने-पहुँचाने आदिसे नियमतः पुण्योपार्जन और सुख देने आदिसे नियमतः पापोपार्जन होता है—दूसरोंके दुख-सुखका पुण्य-पापके बन्धसे कोई सम्बन्ध नहीं है।'

स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिमें ये दोनों ही विचार एवं पक्ष निरे ऐकान्तिक होनेसे वस्तुतत्त्व नहीं हैं, और इसलिये उन्होंने इन दोनोंको सदोष ठहराते हुए पुण्य-पापकी जो व्यवस्था सूत्ररूपसे

अपने 'देवागम' में (कारिका ६२ से ६५ तक) दी है वह बड़ी ही मार्मिक तथा रहस्यपूर्ण है। आज वह सब ही यहाँ पाठकोंके सामने रक्खी जाती है।

प्रथम पक्षको सदोष ठहराते हुए स्वामीजी लिखते हैं :—

पापं ध्रुवं परे दुःखात्पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ ६२ ॥

'यदि परमें दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका होना निश्चित है—ऐसा एकान्त माना जाय—तो फिर अचेतन पदार्थ और अकषायी (वीतराग) जीव भी पुण्य-पापसे बँधने चाहियें; क्योंकि वे भी दूसरोंमें सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते हैं।'

भावार्थ – जब परमें सुख-दुखका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक-मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष-कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोंके सुख-दुखके कारण बनते हैं, पुण्य-पापके बन्ध-कर्ता क्यों नहीं ? परन्तु इन्हें कोई भी पुण्य-पापके बंधकर्ता नहीं मानता – काँटा पैरमें चुभकर दूसरेको दुख उत्पन्न करता है, इतने मात्रसे उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप-फलदायक कर्मपर-माणु ही उससे आकर चिपटते अथवा बंधको प्राप्त होते हैं। इसी तरह दूध-मलाई बहुतोंको आनंद प्रदान करते है; परंतु उनके इस आनंदसे दूध-मलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और न उनमें पुण्य-फलदायक कर्म-परमाणुओंका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल उन्हें (दूध-मलाईको) बादको भोगना पड़े। इससे उक्त एकान्त सिद्धांत स्पष्ट सदोष जान पड़ता है।

यदि यह कहा जाय कि चेतन ही बंधके योग्य होते हैं अचेतन नहीं, तो फिर कषाय-रहित वीतरागियोंके विषयमें आपत्तिको कैसे टाला जायगा? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोंके दुख-सुखके कारण बनते

हैं। उदाहरणके तौर पर—किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियोंको दुख पहुँचता है। शिष्यों तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोंको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामें स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेज़ीसे उड़ा-चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमें बाधक होनेसे वे उसके दुखके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओंके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन नीरोग होजाते हैं और यथेष्ट सुखका अनुभव करते हैं। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार हैं जिनमें वे दूसरोंके सुख-दुखके कारण बनते हैं। यदि दूसरोंके सुख-दुखका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामें पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमें वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धनसे बच सकते हैं ? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमें पड़ते हैं तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है—

"कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्।"

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"

और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नहीं रहता। कारणके अभावमें कार्यका अभाव हो जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्षके अभावमें बन्धकी भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमें अविनाभाव सम्बन्धको लिये होते हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व

बन नहीं सकता, यह बात इस स्तम्भके प्रथम निबन्धमें भले प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अतः चेतन-प्राणियोंकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त-व्यवस्था सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय जीवोंके दूसरोंको सुख-दुख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नही होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नही होती और न उस विषयमें उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोंके सुख-दुखकी उत्पत्तिमें निमित्त-कारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते; तो फिर दूसरोंमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है, यह एकान्तसिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा; प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखोत्पत्तिसे पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्णसावधानीके साथ फोड़ेका ऑपरेशन करता है परन्तु फोड़ेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचता है, इस दुःखके पहुँचानेसे डाक्टरको पापका बन्ध नही होगा इतना ही नही, बल्कि उसकी दुःखविरोधिनी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य-बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषायभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबड़ापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—"कुबड़े गुण लात लग गई"—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवसे लात मारनेवालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः प्रथमपक्षवालोंका यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुखका

उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है, और इसलिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कह सकते।

अब दूसरे पक्षको दूषित ठहराते हुए आचार्यमहोदय लिखते हैं :—

> **पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।**
> **वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः ॥९३॥**

'यदि अपनेमें दुःखोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव है—निश्चितरूपसे होता है ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे बँधने चाहियें, क्योंकि ये भी अपने सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते हैं।'

भावार्थ—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल-योगादिके अनुष्ठान-द्वारा कायक्लेशादिरूप—दुःखकी और तत्त्वज्ञानजन्य—संतोष-लक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है। जब अपनेमें दुःख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बँधता है तो फिर ये अकषाय जीव पुण्य-पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं ? यदि इनके भी पुण्य-पापका ध्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य-पापके अभावको कभी अवसर नहीं मिल सकता, और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनों बन्धोंके अभावके बिना मुक्ति होती ही नहीं। और मुक्तिके बिना बन्धनादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती; जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। यदि पुण्य-पापके अभाव-बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो संसृतिके—संसार अथवा सांसारिक जीवनके—अभावका प्रसंग आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोंमेंसे किसीको भी इष्ट नहीं है। ऐसी हालतमें आत्म-सुख-दुःखके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त-सिद्धान्त भी सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमें दुख-सुखकी उत्पत्ति

होने पर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोंके पुण्य-पापका बन्ध इसलिये नहीं होता कि उनके दुख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नहीं होता, वैसी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें आसक्ति ही होती है, तो फिर इससे तो अनेकान्त-सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नहीं। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दुख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है, अभिप्रायविहीन दु:ख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नहीं है।

अत: उक्त दोनों एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे बाधित हैं, इष्टके भी विरुद्ध पड़ते हैं और इसलिये ठीक नहीं कहे जा सकते।

इन आपत्तियोंसे बचने आदिके कारण जो लोग दोनों एकान्तोंको अंगीकार करते हैं, परंतु स्याद्वादके सिद्धांतको नहीं मानते—अपेक्षा-अनपेक्षाको स्वीकार नहीं करते—अथवा अवाच्यतैकान्तका अवलम्बन लेकर पुण्य-पापकी व्यवस्थाको 'अवक्तव्य' बतलाते हैं उनकी मान्यतामें—

"विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥"

इस कारिका (नं० ९४) के द्वारा विरोधादि दूषण देनेके अनन्तर, स्वामी समन्तभद्रने स्व-परस्थ सुख-दु:खादिकी दृष्टिसे पुण्य-पापकी जो सम्यक् व्यवस्था अर्हन्मतानुसार बतलाई है उसकी प्रतिपादक-कारिका इस प्रकार है :—

विशुद्धि-संक्लेशाङ्गं चेत्स्व-परस्थं सुखाऽसुखम्।
पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ न चेद् व्यर्थस्तवाऽर्हतः॥९५॥

इसमें बतलाया है कि—'अर्हन्तके मतमें सुख-दु:ख आत्मस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरेको—वह यदि विशुद्धिका अंग है तो उस पुण्यास्रवका, संक्लेशका अंग है तो उस पापास्रवका हेतु है, जो युक्त है—सार्थक अथवा बन्धकर है—और यदि विशुद्धि तथा संक्लेश दोनोंमेंसे किसीका अंग नहीं है तो पुण्य-पापमेंसे किसीके

भी युक्त आस्रवका—बन्धव्यवस्थापक साम्परायिक आस्रवका—हेतु नहीं है। (बन्धाऽभावके कारण) वह व्यर्थ होता है—उसका कोई फल नहीं।

यहाँ 'संक्लेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके परिणामसे है—'आर्त-रौद्र-ध्यानपरिणामः संक्लेशः' ऐसा अकलंकदेवने 'अष्टशती' टीकामें स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानन्दने भी उसे 'अष्टसहस्री' में अपनाया है। 'संक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'संक्लेशाऽभाव' है ('तदभावः विशुद्धिः' इत्यकलंकः)—उस क्षायिकलक्षणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नहीं है जो निरवशेष-रागादिके अभावरूप होती है। उस विशुद्धिमें तो पुण्य-पापबंधके लिये कोई स्थान ही नहीं है। और इसलिये विशुद्धिका आशय यहाँ आर्त-रौद्रध्यानसे रहित शुभपरिणतिका है। वह परिणति धर्म्यध्यान तथा शुक्ल-ध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है। ऐसी परिणतिके होने पर ही आत्मा स्वात्मामें—स्वस्वरूपमें—स्थितिको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अंशोंमें क्यों न हो। इसीसे अकलंकदेवने अपनी व्याख्यामें, इस संक्लेशाभावरूप विशुद्धिको 'आत्मनः स्वात्मन्यव-स्थानम्' रूपसे उल्लिखित किया है। और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमें सहायक होती है, जब कि संक्लेशपरिणतिमें आत्माका विकास नहीं बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अधःपतनका कारण बनती है। इसीलिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअंग' कहते हैं। इसी तरह संक्लेशके कारण, संक्लेशके कार्य तथा स्वभावको 'संक्लेशाङ्ग' कहते हैं। स्व-पर-सुख-दुःख यदि विशु-द्धिअंगको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-रूप शुभ-बन्धका और

संक्लेशांगको लिए हुए होता है तो पाप-रूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नहीं। तत्त्वार्थसूत्रमें, "मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद,कषाय और योगरूपसे बन्धके जिन कारणोंका निर्देश किया है वे सब संक्लेशपरिणाम ही हैं; क्योंकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोंके कारण होनेसे 'संक्लेशाङ्ग'में शामिल हैं; जैसे कि हिंसादि-क्रिया संक्लेशकार्य होनेसे संक्लेशाङ्गमें गर्भित है। अतः स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह 'कायवाङ्मनःकर्म योगः', 'स आस्रवः', 'शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य' इन तीन सूत्रोंके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रवका और अशुभकायादि-व्यापारको पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा विशुद्धित्व-संक्लेशत्वकी व्यवस्थिति है। संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके हैं, विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान उसके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। ऐसी हालतमें स्वपर-दुःखकी हेतुभूत कायादि-क्रियाएँ यदि संक्लेश-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे संक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंको अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती हैं; और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्धयङ्गत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंके शुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण होती हैं। जो शुभफलदायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभफलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य-पाप-कर्मोंके अनेक भेद हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें संपूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्य-पाप-कर्मोंके आस्रव-बन्धका कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था

बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञ-पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

सारांश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुःख दोनों ही, चाहे स्वस्थ हों या परस्थ—अपनेको हों या दूसरोंको—कथंचित् पुण्यरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, विशुद्धिके अंग होनेसे; कथंचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, क्रमार्पित विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् अवक्तव्यरूप हैं, सहार्पित-विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे। और विशुद्धि-संक्लेशका अंग न होने पर दोनों ही बन्धके कारण नहीं हैं। इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नहीं। एकान्तपक्ष सदोष है; जैसा कि ऊपर बतलाया जाचुका है और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नहीं हो सकता।

३४

परिग्रहका प्रायश्चित्त

'प्रायश्चित्त' एक प्रकारका दण्ड अथवा तपोविधान है जो अपनी इच्छासे किया तथा लिया जाता है, और उसका उद्देश्य एवं लक्ष्य होता है आत्मशुद्धि तथा लौकिक जनोंकी चित्तशुद्धि। आत्माकी अशुद्धिका कारण पापमल है—अपराधरूप आचरण है। प्रायश्चित्तके द्वारा पापका परिमार्जन और अपराधका शमन होता है, इसीसे प्रायश्चित्तको पापछेदन, मलापनयन, विशोधन और अपराधविशुद्धि जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया जाता है[1]। इस दृष्टिसे 'प्रायः' का अर्थ पाप-अपराध, और 'चित्त' का अर्थ शुद्धि है। पाप तथा अपराध करनेवाला जनताकी नजरमें गिर जाता है—जनता उसे घृणाकी दृष्टिसे-हिक़ारतकी नजरसे-देखने लगती है और उसके हृदयमें उसका जैसा चाहिए वैसा गौरव नही रहता। परन्तु जब वह प्रायश्चित्त कर लेता है—अपने अपराधका दंड ले लेता है—तो जनताका हृदय भी बदल जाता है और वह उसे ऊँची, प्रेम-

---

१. "रहस्यं छेदनं दण्डो मलापनयनं तपः।
प्रायश्चित्ताभिधानानि व्यवहारो विशोधनम् ॥ ६ ॥"
"प्रायश्चित्तं तपः श्लाघ्यं येन पापं विशुध्यति ॥ १८३ ॥"
—प्रायश्चित्तसमुच्चय

"प्रायाच्चिति चित्तयोरिति सुट् अपराधो प्रायः, चित्तं शुद्धिः। प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तं—अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।" (राजवार्तिक)

की तथा गौरव-भरी दृष्टिसे देखने लगती है। इस दृष्टिसे प्रायः का अर्थ 'लोक' तथा 'लोकमानस' है और चित्तका अर्थ वही 'शुद्धि' अथवा 'चित्तग्राहककर्म' समझना चाहिये[1]।

परिग्रहको शास्त्रकारोंने, यद्यपि, पाप बतलाया है और हिंसादि पंच प्रधान-पापोंमें उसकी गणना की है; फिरभी लोकमें वह आमतौरसे कोई पाप नहीं समझा जाता—हिंसा, झूठ, चोरी और परस्त्री-सेवनादिरूप कुशीलको जिस प्रकार पाप समझा जाता है और अपराध माना जाता है उस प्रकार धन-धान्यादिरूप परिग्रहके संचयको—उसमें रचेपचे रहनेको कोई पाप नही समझता और न अपराध ही मानता है। इसीसे लोकमें परिग्रहके लिए कोई दंड-व्यवस्था नहीं—जो जितना चाहे परिग्रह रख सकता है। भारतीय दंडविधान (Indian penal code) में भी ऐसी कोई धारा नहीं, जिससे किसी भी परिग्रहीको अथवा अधिक धन-दौलत एकत्र करनेवाले तथा संसारकी अधिक सम्पत्ति-विभूति पर अपना अधिकार रखनेवाले गृहस्थको अपराधी एव दंडका पात्र समझा जा सके। प्रत्युत इसके, जो लोग मिलों, कल-कारखानों और व्यापारादिके द्वारा विपुल धन एकत्र करके बहुविभूतिके स्वामी बनते हैं उन्हें लोकमें प्रतिष्ठित समझा जाता है, पुण्याधिकारी माना जाता है और आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। ऐसी हालतमें उनके पापी तथा अपराधी होनेकी कोई कल्पना तक भी नहीं कर सकता—उन्हें वैसा कहने-सुननेकी तो बात ही कहाँ? तब फिर 'परिग्रहका प्रायश्चित्त' कैसा? और उसे पाप बतलाना भी कैसा?

यह ठीक है कि परिग्रहको लोकमें हिंसादिक पापोंकी दृष्टिसे नहीं

---

१. 'प्रायो लोकस्य चित्त मानसं। उक्तं च—
प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहक कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥' (प्रायश्चित्तसमु०)

देखा जाता, सभी उसकी चकाचौंधमें फँसे हैं, सभी उसके इच्छुक हैं और सभी अधिकाधिक रूपसे परिग्रहधारी बनना चाहते हैं। ऐसे अपरिग्रही सच्चे साधु भी प्रायः नहीं हैं जो अपने आचरण-बल और सातिशय-वाणीसे अपरिग्रहके महत्वको लोक-हृदयोंपर भले प्रकार अंकित कर सकते—उन्हें उनकी भूल सुझा सकते, परिग्रहसे उनकी लालसा, गृद्धता एवं आसक्तताको हटा सकते, अनासक्त रहकर उसके उपभोग करने तथा लोकहितार्थ वितरण करते रहनेका सच्चा सजीव पाठ पढ़ा सकते। कितने ही साधु तो स्वयं महापरिग्रहके धारी हैं—मठाधीश, महन्त—भट्टारक बने हुए हैं, और बहुतसे परिग्रहभक्त सेठ-साहूकारोंकी केवल हाँ मे हाँ मिलानेवाले हैं, उनकी कृपाके भिखारी हैं, उनकी असत् प्रवृत्तियोंको देखते हुए भी सदैव उनकी प्रशंसाके गीत गाया करते हैं—उनकी लक्ष्मी, विभूति एवं परिग्रहकी कोरी सराहना किया करते हैं। उनमें इतना आत्मबल नहीं, आत्मतेज नहीं, हिम्मत नहीं, जो ऐसे महापरिग्रही धनिकोंकी आलोचना कर सकें—उनकी त्याग-शून्य निरर्गल धन-दौलतके संग्रहकी प्रवृत्तिको पाप या अपराध बतलासकें। इस प्रकार जब सभी परिग्रहकी कीचमें थोड़े बहुत धँसे हुए या सने हुए हैं तब फिर कौन किसीकी तरफ़ अंगुली उठावे और उसे अपराधी-पापी ठहरावे? ऐसी हालतमें परिग्रहको आमतौर पर यदि पाप नही समझा जाता और न अपराध ही माना जाता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी परिग्रह पापकी—अपराधकी—कोटिमे निकल नहीं जाता। उसे पाप या अपराध न मानना अथवा तद्रूप न देखना दृष्टिविकारका ही एकमात्र परिणाम जान पड़ता है। धतूरा खाकर दृष्टिविकारको प्राप्त हुआ मनुष्य अथवा पीलियारोगका रोगी यदि सफेद शंखको भी पीला देखता है तो उससे वह शंख पीला नहीं हो जाता और न उसका शुक्ल गुण ही नष्ट हो जाता है। अथवा ठगोंका समाज यदि झूठ बोलने और

चोरी करनेको पाप नहीं समझता तो उससे झूठ और चोरी पापकी कोटिसे नहीं निकल जाते। ठीक इसी तरह मोह-मदिरा पीकर दृष्टि-विकारको प्राप्त हुआ संसार यदि परिग्रहको पापरूपमें नहीं देखता और न उसे कोई अपराध ही समझता है तो सिर्फ इतनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि परिग्रह कोई पाप या अपराध ही नहीं रहा, और इसलिए उसका प्रायश्चित्त भी न होना चाहिए। वास्तवमें मूर्छा, ममत्व-परिणाम अथवा 'ममेदं' (यह मेरा) के भावको लिए हुए परिग्रह एक बहुत बड़ा पाप है, जो आत्माको सब ओरसे पकड़े-जकड़े रहता है और उसका विकास नही होने देता। इसीसे श्रीपूज्य-पाद और अकलंकदेव जैसे महान् आचार्योंने सर्वार्थसिद्धि तथा राज-वार्तिक आदि ग्रन्थोंमें 'तन्मूलाः सर्वे दोषाः', 'तन्मूलाः सर्वदोषा-नुषंगाः' इत्यादि वाक्योंके द्वारा परिग्रहको सर्वदोषोंका मूल बतलाया है[1]। और यह बिल्कुल ठीक है—परिग्रहके होनेपर उसके संरक्षण-अभिवर्धनादिकी ओर प्रवृत्ति होती है; संरक्षणादि करनेके लिये अथवा उसमें योग देते हुए हिंसा करनी पड़ती है, झूठ बोलना पड़ता है, चोरी करनी होती है, मैथुनकर्ममें चित्त देना पड़ता है, चित्त विक्षिप्त रहता है, क्रोधादिक कषायें जाग उठती हैं, राग-द्वेषा-दिक सताते हैं, भय सदा घेरे रहता है, रौद्रध्यान बना रहता है, तृष्णा बढ़ जाती है, आरम्भ बढ़ जाते हैं, नष्ट होने अथवा क्षति पहुँचनेपर शोक-संताप आ दबाते हैं, चिन्ताओंका ताँता लगा रहता है और निराकुलता कभी पास नहीं फटकती। नतीजा इस सबका होता है अन्तमें नरकका वास, जहाँ नाना प्रकारके दारुण दुःखोंसे पाला पड़ता है और कोई भी रक्षक एवं शरण नज़र नहीं आता।

---

१. ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्राचार्यने बाह्य परिग्रहको 'निःशेषानर्थ-मन्दिर' लिखा है; क्योंकि उसके कारण अविद्यमान होते हुए भी रागा-दिक शत्रु क्षणमात्रमें उत्पन्न होकर अनिष्ट अथवा अनर्थ कर डालते हैं।

इसीसे परमागममें बहुआरम्भी — बहुपरिग्रहीको नरकका अधिकारी बतलाया है; क्योंकि बहुआरम्भ (प्राणिपीडा-हेतु-व्यापार) और बहुपरिग्रह दोनों ही सिद्धान्तमें नरकायुके आस्रवके कारण कहे गये हैं[1]। ऐसी हालतमें परिग्रहको पाप न मान कर उसका प्रायश्चित्त न करना और उसे भविष्यकी ओरसे आँखें बन्द करके बराबर बढ़ाते रहना, निःसन्देह, बड़ी भारी भूल है—आत्म-वंचना है। इस भूलके वश परिग्रह-पापकी पोट बढ़ते बढ़ते मनुष्यको घोर श्वभ्र-सागर अथवा दुःखसागरमें ले डूबती है, जहाँसे उद्धार पाना फिर

---

१. इस विषयमें पुरातन आचार्योंके निम्न वाक्य भी ध्यानमे रखने योग्य है, जिनसे इस विषयकी कितनी ही पुष्टि होती है :—

"के पुनस्ते सर्वदोषानुषङ्गाः ? ममेदमिति हि सति संकल्पे संरक्षणादयः संजायन्ते । तत्र च हिंसाऽवश्यंभाविनी, तदर्थमनृत जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रयतते । तत्तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः । इहाऽपि अनुपरतव्यसनमहार्णवाऽवगाहनम् ।"

—राजवार्तिक-भाष्ये, अकलंकः

"परिग्रहवना सतां भयमवश्यमापद्यते,
प्रकोप-परिहिंसने च परुषाऽनृत-व्याहृती ।
ममत्वमथ चोरता स्वमनसश्च विभ्रान्तता,
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्ल-सद्ध्यानता ॥४२॥—पात्रकेसरिस्तोत्र

"बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः" (तत्त्वार्थसूत्र ६-१५)

"एतदुक्तं भवति—परिग्रहप्रणिधानप्रयुक्ताः तीव्रतरपरिणामा हिंसापरा बहुशो विज्ञप्ताश्चानुमताः भाविताश्च तत्कृतकर्मात्मसात्करणात् तप्तायःपिण्डवत् अहितक्रोधाद्यर्था नारकस्यायुषः आस्रव इति संक्षेपः । तद्विस्तरस्तु……।" (राजवार्तिक-भाष्य)

"आरम्भो जन्तुघातश्च कषायश्च परिग्रहात् ।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥" (ज्ञानार्णव)

बहुत ही कठिन, गुरुतर-कष्टसाध्य तथा असंख्य वर्षोंका कार्य हो जाता है। और इसलिए वे ही मनुष्य विवेकी हैं, वे ही बुद्धिमान हैं और वे ही आत्महितैषी एवं धर्मात्मा हैं जो इस भूल तथा आत्म-वंचनाके चक्करमें न पड़कर अनासक्तिके द्वारा परिग्रहका अधिकभार अपने आत्मा पर पड़ने नहीं देते, और प्रायश्चित्तादिके द्वारा बराबर उसकी काट-छांट करके अपने आत्माको सदैव हलका रखते हैं।

अब देखना यह है कि परिग्रहका प्रायश्चित्त क्या है ? परिग्रह-का समुचित प्रायश्चित्त अनासक्तिके साथ साथ उसका त्याग है, जो ग्रहणकी विपरीत दिशाको लिए हुए होनेसे यथार्थ जान पड़ता है। शीतका प्रतिकार जिस प्रकार उष्णसे और उष्णका प्रतिकार शीत-से होता है, उसी प्रकार ग्रहणरूप परिग्रहका प्रतिकार उसके त्याग-से ही ठीक बनता है। प्रायश्चित्तके दस अथवा नव भेदोंमें 'त्याग' नामका भी एक प्रायश्चित्त है, जिसे 'विवेक' भी कहते हैं[1]। त्याग-का दूसरा नाम 'दान' है, और इसलिए परिग्रहसे मोह हटाकर अथवा अपनी धन-सम्पत्तिसे ममत्वपरिणामको दूर करके लोक-सेवाके कामोंमें उसका वितरण करना—दे डालना, यह परिग्रहका समुचित प्रायश्चित्त है। परन्तु यह दान अथवा त्याग ख्याति-लाभ-पूजादिककी दृष्टिसे न होना चाहिये और न इसमें दूसरों पर अनुग्रह और कृपाकी कोई अहंभावना ही रहनी चाहिये। जो दान ख्याति-लाभ-पूजादिक-की दृष्टिसे दिया जाता है अथवा जिसमें दूसरों पर अनुग्रह और कृपाकी अहंभावना रहती है वह प्रायश्चित्तकी कोटिमें नहीं आता—वह दूसरे प्रकारका साधारण दान है। प्रायश्चित्तकी दृष्टि तो अपने पापका संशोधन अथवा अपराधका परिमार्जन करके आत्मशुद्धि

---

१. आलोचना प्रतिक्रान्तिद्वयं त्यागो विसर्जनं।
तपःछेदोऽपि मूलं च परिहारोऽभिरोचनम्॥ (प्रायश्चित्तसमु० १८५)
"आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग०" (तत्त्वार्थसूत्र ६-२०)

करनेकी ओर होती है। और इसलिए उसका करनेवाला दान करके किसी पर कोई अहसान-अनुग्रह नहीं बतलाता और न उससे अपना कोई लौकिक लाभ ही लेना चाहता है। वह तो समझता है कि—मैंने अपनी जरूरतसे अधिक परिग्रहका संचय करके दूसरोंको उसके भोग-उपभोगसे वंचित रखनेका अपराध किया है, उसके अर्जन वर्द्धन-रक्षणादिमें मुझे कितने ही पाप करने पड़े हैं, उसका निरर्गल बढ़ते रहना पापका—आत्माके पतनका—कारण है।' और इसलिये वह विवेकको अपनाकर तथा ममत्वको घटाकर अपनेको पाप-भारसे हलका रखनेकी दृष्टिसे उसका लोक-हितार्थ त्याग करता है—दान करता है। दानके इन दोनों प्रकारोंमें परस्पर कितना बडा अन्तर है, इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं।]

निःसन्देह, परिग्रहमें पापबुद्धिका होना, उसके प्रायश्चित्तकी बराबर भावना रखना और समय-समयपर उसे करते रहना विवेकका—अनासक्तिका सूचक है और साथ ही आत्माकी जागृतिका—उत्थानका द्योतक है। यदि समाजमें दानके पीछे प्रायश्चित्त-जैसी सद्भावनाएँ काम करने लगे तो उसका शीघ्र ही उत्थान हो सकता है और वह ठीक अर्थमें सचमुच ही एक आदर्श धार्मिक-समाज बन सकता है। सद्गृहस्थोंकी नित्य-नियमसे की जानेवाली देवपूजादि षट् आवश्यक क्रियाओंमें जो दानका विधान (समावेश) किया गया है उसका आशय संभवतः यही जान पड़ता है कि नित्यके आरम्भ-परिग्रह-जनित पापका नित्य ही थोड़ा-बहुत प्रायश्चित्त होता रहे जिससे पापका बोझा अधिक बढ़ने न पावे और गृहस्थजन निरा-कुलता-पूर्वक धर्मका साधन कर सकें—उसमें बाधा न आवे।

हार्दिक भावना है कि देश तथा समाजमें बहुलतासे ऐसे आदर्श त्यागी एवं दानी पैदा हों, जो परिग्रहको पाप समझते हुए उसमें आसक्ति न रखते हों और प्रायश्चित्तके रूपमें अपनी धन-सम्पत्तिका सदा लोकसेवाके कार्योंमें समुचित विनियोग करते रहें।

३५

छोटापन और बड़ापन

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने, अपने विद्यार्थियोंको नया पाठ पढ़ानेके लिये, बोर्डपर तीन-इंचकी एक लाइन खींचकर विद्यार्थीसे पूछा—

'बतलाओ यह लाइन छोटी है या बड़ी ?'

विद्यार्थीने चटसे उत्तर दिया—'यह तो छोटी है।'

इसपर अध्यापकने उस लाइनके नीचे एक-इंचकी दूसरी लाइन बनाकर फिरसे पूछा— १

'अब ठीक देखकर बतलाओ कि २ ऊपरकी लाइन नं० १ बड़ी है या छोटी ?'

विद्यार्थी देखते ही बोल उठा—'यह तो साफ़ बड़ी नज़र आती है।'

अध्यापक—अभी तुमने इसे छोटी बतलाया था ?

विद्यार्थी—हाँ, बतलाया था, वह मेरी भूल थी।

इसके बाद अध्यापकने, प्रथम लाइन नं० १ के ऊपर पाँच-इंचकी लाइन बनाकर और नीचेवाली एक-इंची लाइनको मिटाकर फिरसे पूछा— ३

'अच्छा, अब बतलाओ, १ नीचेकी लाइन नं० १ छोटी है या बड़ी ?'

विद्यार्थी कुछ असमंजसमें पड़ गया और आखिर तुरत ही कह उठा—'यह तो अब छोटी हो गई है।'

'छोटी कैसे हो गई? क्या किसीने इसमेंसे कोई टुकड़ा तोड़ा है या इसके किसी अंशको मिटाया है?—हमने तो इसे छुआ तक भी नहीं। अथवा तुमने इसे जो पहले 'बड़ी' कहा था वह कहना भी तुम्हारा गलत था?' अध्यापक ने पूछा।

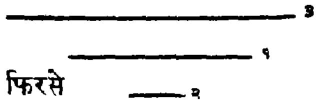
'पहले जो मैंने इसे 'बड़ी' कहा था वह कहना मेरा गलत नहीं था और न उस लाइनमेंसे किसीने कोई टुकड़ा तोड़ा है या उसके किसी अंशको मिटाया है—वह तो ज्योंकी त्यों अपने तीन-इचीके रूपमें स्थित है। पहले आपने इसके नीचे एक-इंचकी लाइन बनाई थी, इससे यह बड़ी नज़र आती थी और इसीलिये मैंने इसे बड़ी कहा था, अब आपने उस एक-इंचकी लाइनको मिटाकर इसके ऊपर पाँच इंचकी लाइन बना दी है, इससे यह तीन-इंचकी लाइन छोटी हो पड़ी—छोटी नज़र आने लगी, और इसीसे मुझे कहना पड़ा कि 'यह तो अब छोटी हो गई है।' विद्यार्थीने उत्तर दिया।

अध्यापक—अच्छा, सबसे पहिले तुमने इस तीन-इंची लाइनको जो छोटी कहा था उसका क्या कारण था?

विद्यार्थी—उस समय मैंने यह देखकर कि बोर्ड बहुत बड़ा है और यह लाइन उसके एक बहुत छोटेसे हिस्सेमें आई है, इसे 'छोटी' कह दिया था।

अध्यापक—फिर इसमें तुम्हारी भूल क्या हुई? यह तो ठीक ही है—यह लाइन बोर्डसे छोटी है, इतना ही क्यों? यह तो टेबिलसे भी छोटी है, कुर्सीसे भी छोटी है, इस कमरेके किवाड़से भी छोटी है, दीवारसे भी छोटी है, और तुम्हारी-मेरी लम्बाईसे भी छोटी है।

विद्यार्थी—इस तरह तो मेरे कहनेमें भूल नहीं थी—भूल मान लेना ही भूल थी।



अब अध्यापकने उस मिटाई हुई एक-इंची लाइनको फिरसे नोचे बना दिया और सवाल किया कि—

'तीनों लाइनोंकी इस स्थितिमें तुम बीचकी उसी नम्बर १ वाली लाइनको छोटी कहोगे या बड़ी ?'

विद्यार्थी—मैं तो अब यूँ कहूँगा कि यह ऊपरवाली लाइन नं०३ से छोटी और नीचेवाली लाइन नं० २ से बड़ी है।

अध्यापक—अर्थात् इसमें छोटापन और बड़ापन दोनों हैं और दोनों गुण एक साथ हैं ?

विद्यार्थी—हाँ, इसमें दोनों गुण एक साथ हैं।

अध्यापक—एक ही चीज़को छोटी और बड़ी कहनेमें क्या तुम्हें कुछ विरोध मालूम नहीं होता ? जो वस्तु छोटी है वह बड़ी नहीं कहलाती और जो बड़ी है वह छोटी नहीं कही जाती। एक ही वस्तुको 'छोटी' कहकर फिर यह कहना कि 'छोटी नहीं, बड़ी है' यह कथन तो लोक-व्यवहारमें विरुद्ध जान पड़ेगा। लोकव्यवहारमें जिस प्रकार 'हाँ' कहकर 'ना' कहना अथवा विधान करके निषेध करना परस्पर विरुद्ध, असंगत और अप्रामाणिक समझा जाता है उसी प्रकार तुम्हारा यह एक चीज़को छोटी कहकर बड़ी कहना अथवा एक ही वस्तुमें छोटेपनका विधान करके फिर उसका निषेध कर डालना—उसे बड़ी बतलाने लगना—क्या परस्पर विरुद्ध, असंगत और अप्रामाणिक नहीं समझा जायगा ? और जिस प्रकार अन्धकार तथा प्रकाश दोनों एक साथ नहीं रहते उसी प्रकार छोटापन और बड़ापन दोनों गुणों (धर्मों) के एक साथ रहनेमें क्या विरोध नहीं आएगा ?

यह सब सुनकर विद्यार्थी कुछ सोच-सीमें पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा; इतनेमें अध्यापकजी उसकी

विचार-समाधिको भंग करते हुए बोल उठे—

'इसमें अधिक सोचने-विचारनेकी बात क्या है ? एक ही चीज़को छोटी-बड़ी दोनों कहनेमें विरोध तो तब आता है जब जिस दृष्टि अथवा अपेक्षासे किसी चीज़को छोटा कहा जाय उसी दृष्टि अथवा अपेक्षासे उसे बड़ा बतलाया जाय। तुमने मध्यकी तीन-इंची लाइनको ऊपरकी पाँच-इंची लाइनसे छोटी बतलाया है, यदि पाँच-इंचवाली लाइनकी अपेक्षा ही उसे बड़ी बतला देते तो विरोध आ जाता, परन्तु तुमने ऐसा न करके उसे नीचेकी एक इंच-वाली लाइनसे ही बड़ा बतलाया है, फिर विरोधका क्या काम ? विरोध वहीं आता है जहाँ एक ही दृष्टि (अपेक्षा) को लेकर विभिन्न प्रकारके कथन किए जायँ, जहाँ विभिन्न प्रकारके कथनोंके लिये विभिन्न दृष्टियों—अपेक्षाओंका आश्रय लिया जाय वहाँ विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। एक ही मनुष्य अपने पिताकी दृष्टिसे पुत्र है और अपने पुत्रकी दृष्टिसे पिता है—उसमें पुत्रपन और पितापनके दोनों धर्म एक साथ रहते हुए भी जिस प्रकार दृष्टिभेद होनेसे विरोधको प्राप्त नहीं होते उसी प्रकार एक दृष्टिसे किसी वस्तुका विधान करने और दूसरी दृष्टिसे निषेध करने अथवा एक अपेक्षासे 'हाँ' और दूसरी अपेक्षासे 'ना' करनेमें भी विरोधकी कोई बात नहीं है। ऐसे ऊपरी अथवा शब्दोंमें ही दिखाई पड़नेवाले विरोधको 'विरोधाभास' कहते हैं—वह वास्तविक अथवा अर्थकी दृष्टिसे विरोध नहीं होता; और इसलिये पूर्वापरविरोध तथा प्रकाश-अन्धकार-जैसे विरोधके साथ उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। और इसीलिये तुमने जो बात कही वह ठीक है। तुम्हारे कथनमें दृढता लानेके लिए ही मुझे यह सब स्पष्टीकरण करना पड़ा है। आशा है अब तुम छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब समझ गये होगे।

विद्यार्थी—हाँ, खूब समझ गया, अब नहीं भूलूँगा।

अध्यापक—अच्छा, तो इतना और बतलाओ—'इन ऊपर-

नीचेकी दोनों बड़ी-छोटी लाइनोंको यदि मिटा दिया जाय और मध्यकी उस नं० १ वाली लाइनको ही स्वतन्त्र रूपमें स्थिर रक्खा जाय—दूसरी किसी भी बड़ी-छोटी चीज़के साथ उसकी तुलना या अपेक्षा न की जाय, तो ऐसी हालतमें तुम इस लाइन नं० १ को स्वतन्त्रभावसे—कोई भी अपेक्षा अथवा दृष्टि साथमें न लगाते हुए—छोटी कहोगे या बड़ी ?'

विद्यार्थी—ऐसी हालतमें तो मैं इसे न छोटी कह सकता हूँ और न बड़ी।

अध्यापक—अभी तुमने कहा था 'इसमें दोनों (छोटापन और बड़ापन) गुण एक साथ हैं' फिर तुम इसे छोटी या बड़ी क्यों नहीं कह सकते ? दोनों गुणोंको एक साथ कहनेकी वचनमें शक्ति न होनेसे यदि युगपत् नहीं कह सकते तो क्रमसे तो कह सकते हो ? वे दोनों गुण कहीं चले तो नहीं गये ? गुणोंका तो अभाव नहीं हुआ करता—भले ही तिरोभाव (आच्छादन) हो जाय, कुछ समय-के लिये उनपर पर्दा पड़ जाय और वे स्पष्ट दिखलाई न पड़ें।

विद्यार्थी फिर कुछ रुका और सोचने लगा ! अन्तको उसे यही कहते हुए बन पड़ा—'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बड़ा कैसे कहा जासकता है ? पहले जो मैंने इस लाइनको 'छोटी' तथा 'बड़ी' कहा था वह अपेक्षासे ही कहा था, अब आप अपेक्षाको बिल्कुल ही अलग करके पूछ रहे हैं तब मैं इसे छोटी या बड़ी कैसे कह सकता हूँ, यह मेरी कुछ भी समझमें नहीं आता। आप ही समझाकर बतलाइये।'

अध्यापक—तुम्हारा यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बड़ा कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जासकता। अपेक्षा ही छोटेपन या बड़ेपनका मापदण्ड है—मापनेका गज़ है ? जिस अपेक्षा-गज़से किसी वस्तुविशेषको मापा जाता है वह गज़ यदि उस वस्तुके एक अंशमें आजाता है—उसमें

समा जाता है—तो वह वस्तु 'बड़ी' कहलाती है। और यदि उस वस्तुसे बढ़ा रहता—बाहरको निकला रहता—है तो वह 'छोटी' कही जाती है। वास्तवमें कोई भी वस्तु स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी नहीं है—स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी होने पर वह सदा छोटी या बड़ी रहेगी; क्योंकि स्वभावका कभी अभाव नहीं होता। और इसलिये किसी भी वस्तुमें छोटापन और बड़ापन ये दोनों गुण परतन्त्र, पराश्रित, परिकल्पित, आरोपित, सापेक्ष अथवा परापेक्षिक ही होते हैं, स्वाभाविक नहीं। छोटेके अस्तित्व-बिना बड़ापन और बड़ेके अस्तित्व-बिना छोटापन कहीं होता ही नहीं। एक अपेक्षासे जो वस्तु छोटी है वही दूसरी अपेक्षासे बड़ी है और जो एक अपेक्षासे बड़ी है वही दूसरी अपेक्षासे छोटी है। इसीलिये कोई भी वस्तु सर्वथा (बिना अपेक्षाके) छोटी या बड़ी न तो होती है और न कही जा सकती है। किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहना 'एकान्त' है। जो मनुष्य किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहता है वह उसको सब ओरसे अवलोकन नहीं करता—उसके सब पहलुओं अथवा अंगोंपर दृष्टि नहीं डालता—न सब ओरसे उसकी तुलना ही करता है, सिक्केकी एक साइड (side) को देखनेकी तरह वह उसे एक ही ओरसे देखता है और इसलिये पूरा देख नहीं पाता। इसीसे उसकी दृष्टिको 'सम्यक्‌दृष्टि' नहीं कह सकते और न उसके कथनको 'सच्चा कथन' ही कहा जा सकता है। जो मनुष्य वस्तुको सब ओरसे देखता है, उसके सब पहलुओं अथवा अंगों पर दृष्टि डालता है और सब ओरसे उसकी तुलना करता है वह 'अनेकान्तदृष्टि' है—'सम्यक्‌दृष्टि' है। ऐसा मनुष्य यदि किसी वस्तुको छोटी कहना चाहता है तो कहता है—'एक प्रकारसे छोटी है,' 'अमुककी अपेक्षा छोटी है', 'कथंचित् छोटी है' अथवा 'स्यात् छोटी' है। और यदि छोटी-बड़ी दोनों कहना चाहता है तो कहता है—'छोटी भी है

और बड़ी भी, एक प्रकारसे छोटी है–दूसरे प्रकारसे बड़ी है, अमुक-की अपेक्षा छोटी और अमुककी अपेक्षा बड़ी है अथवा कथंचित् छोटी और बड़ी दोनों है।' और उसका यह वचन-व्यवहार एकान्त-कदाग्रहकी ओर न जाकर वस्तुका ठीक प्रतिपादन करनेके कारण 'सच्चा' कहा जाता है। मैं समझता हूँ कि अब तुम इस विषयको और अच्छी तरहसे समझ गये होगे।

विद्यार्थी—(पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए) हाँ, बहुत अच्छी तरहसे समझ गया हूँ। पहले समझनेमें जो कचाई रह गई थी वह भी अब आपकी इस व्याख्यासे दूर हो गई है। आपने मेरा बहुत कुछ अज्ञान दूर किया है, और इसलिये मैं आपके आगे नत-मस्तक हूँ।

अध्यापक वीरभद्रजी अभी इस विषय पर और भी कुछ प्रकाश डालना चाहते थे कि इतनेमें घंटा बज गया और उन्हें दूसरी कक्षा-जाना पड़ा।

३६

बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा

अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामें पहुँच कर उस कक्षाके विद्यार्थियोंको भी वही नया पाठ पढ़ाना चाहा जिसे वे अभी अभी इससे पूर्वकी एक कक्षामें पढ़ाकर आये थे; परन्तु यहाँ उन्होंने पढ़ानेका कुछ दूसरा ही ढंग अख्तियार किया। वे बोर्ड पर तीन-इंचकी लाइन खींचकर एक विद्यार्थीसे बोले—'क्या तुम इस लाइनको छोटी कर सकते हो?'

विद्यार्थीने उत्तर दिया—'हाँ, कर सकता हूँ' और वह उस लाइनको इधर-उधरसे कुछ मिटानेकी चेष्टा करने लगा।

यह देख कर अध्यापकमहोदयने कहा— 'हमारा यह मतलब नहीं है कि तुम इस लाइनके सिरोंको इधर-उधरसे मिटाकर अथवा इसमेंसे कोई टुकड़ा तोड़कर इसे छोटी करो। हमारा आशय यह है कि यह लाइन अपने स्वरूपमें ज्योंकी त्यों स्थिर रहे, इसे तुम छुओ भी नहीं और छोटी कर दो।

यह सुन कर विद्यार्थी कुछ भौंचक-सा रह गया! तब अध्यापकने कहा—'अच्छा, तुम इसे छोटी नहीं कर सकते तो क्या बिना छुए बड़ी कर सकते हो?'

विद्यार्थीने कहा—'हाँ, कर सकता हूँ, और यह कहकर उसने दो इंचकी एक लाइन उस लाइनके बिल्कुल सीधमें उसके एक

सिरेसे सटाकर बनादी और इस तरह उसे पाँच इंचकी लाइन कर दिया।

इस पर अध्यापकमहोदय बोल उठे—

'यह क्या किया ? हमारा अभिप्राय यह नहीं था कि तुम इसमें कुछ टुकड़ा जोड़कर इसे बड़ी बनाओ, हमारी मन्शा यह है कि इसमें कुछ भी जोड़ा न जाय, लाइन अपने तीन इंचके स्वरूपमें ही स्थिर रहे—पाँच-इंची जैसी न होने पावे—और बिना छुए ही बड़ी कर दी जाय।'

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है ? ऐसा तो कोई जादूगर ही कर सकता है।

अध्यापक—(दूसरे विद्यार्थियोंसे) अच्छा, तुम्हारेमेंसे कोई विद्यार्थी इस लाइनको हमारे अभिप्रायानुसार छोटी या बड़ी कर सकता है ?

सब विद्यार्थी—हमसे यह नहीं हो सकता। इसे तो कोई जादूगर या मंत्रवादी ही कर सकता है।

अध्यापक—जब जादूगर या मंत्रवादी इसे बड़ी-छोटी कर सकता है और यह बड़ी-छोटी हो सकती है तब तुम क्यों नहीं कर सकते ?

विद्यार्थी—हमें बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा करनेका वह जादू या मंत्र आता नहीं।

'अच्छा, हमें तो वह जादू करना आता है। बतलाओ इस लाइनको पहले छोटी करें या बड़ी ?' अध्यापकने पूछा।

'जैसी आपकी इच्छा, परन्तु आप भी इसे छूएँ नहीं और इसे अपने स्वरूपमें स्थिर रखते हुए छोटी या बड़ी करके बतलाएँ,' विद्यार्थियोंने उत्तरमें कहा।

'ऐसा ही होगा' कहकर, अध्यापकजीने विद्यार्थियोंसे कहा—'तुम इसके दोनों ओर मार्क कर दो—पहचानका कोई चिन्ह बना

दो, जिससे इसमें कोई तोड़-जोड़ या बदल-सदल न हो सके और यदि हो तो उसका शीघ्र पता चलजाय।' विद्यार्थीने दोनों ओर दो फूलकेसे चिन्ह बना दिये। फिर अध्यापकजीने कहा 'फुटा रखकर इसकी पैमाइश भी करलो और वह इसके ऊपर लिखदो।' विद्यार्थीने फुटा रखकर पैमाइश की तो लाइन ठीक तीन इंचकी निकली और वही लाइनके ऊपर लिख दिया गया।

इसके बाद अध्यापकजीने बोर्ड-पर एक ओर कपड़ा डालकर कहा—

३ इंच
——————

'अब हम पहले इस लाइनको छोटी बनाते हैं और छोटी होनेका मंत्र बोलते है।' साथ ही, कपड़ेको एक ओरसे उठा कर 'होजा छोटी, होजा छोटी!' का मंत्र बोलते हुए वे बोर्ड पर कुछ बनानेको ही थे कि इतनेमें विद्यार्थी बोल उठे--

'आप तो पर्देकी ओटमें लाइनको छूते हैं। पर्देको हटाकर सबके सामने इसे छोटा कीजिये।'

अध्यापकजीने बोर्ड पर डाला हुआ कपड़ा हटाकर कहा—

'अच्छा, अब हम इसे खुले आम छोटा किये देते हैं और किसी मंत्रका भी कोई सहारा नही लेते। यह कह कर उन्होंने उस तीन-इंची लाइनके ऊपर पाँच-इंचकी लाइन बनादी और विद्यार्थियोंसे पूछा—

५ इंच
————————

३ इंच
——————

'कहो, तुम्हारी मार्क की हुई नीचेकी लाइन ऊपरकी लाइनसे छोटी है या कि नहीं? और बिना किसी अंशके मिटाए या तोड़े अपने तीन इंचके स्वरूपमें स्थिर रहते हुए भी छोटी हो गई है या कि नहीं?'

सब विद्यार्थी—हाँ हो गई है। यह रहस्यकी बात पहले हमारे ध्यानमें ही नहीं आई थी कि, इस तरह भी बड़ीसे छोटी और छोटीसे बड़ी चीज हुआ करती है। अब तो आप नीचे छोटी लाइन बना कर इसे बड़ी भी कर देंगे।

अध्यापकजीने तुरत ही नीचे एक-इंचकी लाईन बना कर उसे साक्षात् बड़ा करके बतला दिया।

५ इंच

३ इंच

* *

१ इंच

अब अध्यापक वीरभद्रने फिर उसी विद्यार्थीसे पूछा—

'तीनों लाइनोंकी इस स्थितिमें तुम अपनी मार्क की हुई उस बीचकी लाइनको, जो बड़ीसे छोटी और छोटीसे बड़ी हुई है, क्या कहोगे—छोटी या बड़ी ?'

विद्यार्थी—यह छोटी भी है और बड़ी भी।

अध्यापक—दोनों एक साथ कैसे ?

विद्यार्थी—ऊपरकी लाइनसे छोटी और नीचेकी लाइनसे बड़ी है अर्थात् स्वयं तीन-इंची होनेसे पाच-इंची लाइनकी अपेक्षा छोटी और एक-इंची लाइनकी अपेक्षा बड़ी है। और यह छोटापन तथा बड़ापन दोनों गुण इसमें एक साथ प्रत्यक्ष होनेसे इनमें परस्पर विरोध तथा असंगति-जैसी भी कोई बात नही है।

अध्यापक—अगर कोई विद्यार्थी इस बीचकी लाइनको एक वार ऊपरकी लाइनसे छोटी और दूसरी वार ऊपरकी लाइनसे ही बड़ी बतलावे, और इस तरह इसमें छोटापन तथा बड़ापन दोनोंका विधान करे तब भी विरोधकी क्या कोई बात नहीं है ?

विद्यार्थी—इसमें जरूर विरोध आएगा। एक तो उसके कथनमें

पूर्वापर-विरोध आएगा; क्योंकि पहले उसने जिसको जिससे छोटी कहा था उसीको फिर उससे बड़ी बतलाने लगा। दूसरे उसका कथन प्रत्यक्षके भी विरुद्ध ठहरेगा; क्योंकि ऊपरकी लाइन नीचेकी लाइनसे साक्षात् बड़ी नज़र आती है, उसे छोटी बतलाना दृष्ट-विरुद्ध है।

अध्यापक—यह क्या बात है कि तुम्हारे बड़ी-छोटी बतलानेमें तो विरोध नहीं और दूसरेके बड़ी-छोटी बतलानेमें विरोध आता है?

विद्यार्थी—मैने एक अपेक्षासे छोटी और दूसरी अपेक्षासे बड़ी बतलाया है। इस तरह अपेक्षाभेदको लेकर भिन्न कथन करनेमें विरोधके लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। दूसरा जिसे एक अपेक्षासे छोटी बतलाता है, उसीकी अपेक्षासे उसे बड़ी बतलाता है, इसलिये अपेक्षाभेद न होनेके कारण उसका भिन्न कथन विरोधसे रहित नहीं हो सकता—वह स्पष्टतया विरोध-दोषसे दूषित है।

अध्यापक—तुम ठीक समझ गये। अच्छा अब इतना और बतलाओ कि तुम्हारी इस मार्क की हुई बीचकी लाइनको एक विद्यार्थी 'छोटी ही है' ऐसा बतलाता है और दूसरा विद्यार्थी कहता है कि 'बड़ी ही है'; तुम इन दोनों कथनोंको क्या कहोगे? तुम्हारे विचारसे इनमेंसे कौनसा कथन ठीक है और क्योंकर?

विद्यार्थी—दोनों ही ठीक नहीं है। मेरे विचारसे जो 'छोटी ही' (सर्वथा छोटी) बतलाता है उसने नीचेकी एक-इंची लाइनको देखा नहीं, और जो 'बड़ी ही' (सर्वथा बड़ी) बतलाता है उसने ऊपरकी पाच-इंची लाइन पर दृष्टि नहीं डाली। दोनोंकी दृष्टि एक तरफ़ा होनेसे एकाङ्गी है, एकान्त है, सिक्के अथवा ढालकी एक ही साइड (side) को देखकर उसके स्वरूपका निर्णय करलेने-जैसी है, और इसलिये सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि है। जो अनेकान्तदृष्टि होती है वह वस्तुको सब ओरसे देखती है—उसके सब पहलुओं पर नज़र डालती है—इसीलिये उसका निर्णय ठीक होता है और वह 'सम्यग्दृष्टि' कहलाती है। यदि उन्होंने ऊपर-नीचे दृष्टि डालकर

भी वैसा कहा है तो कहना चाहिये कि वह उनका कदाग्रह है—हठ-धर्मी है; क्योंकि ऊपर-नीचे देखते हुए मध्यकी लाइन सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी प्रतीत नहीं होती और न स्वरूपसे कोई वस्तु सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी हुआ करती है।

अध्यापक—मानलो, तुम्हारे इस दोष देनेसे बचनेके लिये एक तीसरा विद्यार्थी दोनों एकान्तोंको अपनाता है—'छोटी ही है और बडी भी है' ऐसा स्वीकार करता है; परन्तु तुम्हारी तरह अपेक्षा-वादको नहीं मानता। उसे तुम क्या कहोगे?

विद्यार्थी थोड़ा सोचने लगा, इतनेमें अध्यापकजी विषयको स्पष्ट करते हुए बोल उठे—

'इसमें सोचनेकी क्या बात है? उसका कथन भी विरोध-दोषसे दूषित है; क्योंकि जो अपेक्षावाद अथवा स्याद्वाद-न्यायको नहीं मानता उसका उभय-एकान्तको लिए हुए कथन विरोध-दोषसे रहित हो ही नही सकता—अपेक्षावाद अथवा 'स्यात्' शब्द या स्यात् शब्दके आशयको लिये हुए 'कथंचित्' (एक प्रकारसे) जैसे शब्दोंका साथमें प्रयोग ही कथनके विरोध-दोषको मिटानेवाला है। 'कोई भी वस्तु सर्वथा छोटी या बड़ी नहीं हुआ करती यह बात तुम अभी स्वयं स्वीकार कर चुके हो और वह ठीक है; क्योंकि कोई भी वस्तु स्वतंत्ररूपसे अथवा स्वभावसे सर्वथा छोटी या बड़ी नहीं है—किसी भी वस्तुमें छोटेपन या बड़ेपनका व्यवहार दूसरेके आश्रय अथवा पर-निमित्तसे ही होता है और इसलिये उस आश्रय अथवा निमित्त-की अपेक्षाके बिना वह नहीं बन सकता। अतः अपेक्षासे उपेक्षा धारण करनेवालोंके ऐसे कथनमें सदा ही विरोध बना रहता है। वे 'ही' की जगह 'भी' का भी प्रयोग करदें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्युत उसके जो स्याद्वादन्यायके अनुयायी हैं—एक अपेक्षासे छोटा और दूसरी अपेक्षासे बड़ा मानते हैं—वे साथमें यदि 'ही' शब्दका भी प्रयोग करते हैं तो उससे कोई बाधा नहीं आती—

विरोधको ज़रा भी अवकाश नहीं मिलता; जैसे 'तीन-इंची लाइन पाँच-इंची लाइनकी अपेक्षा छोटी ही है और एक-इंची लाइनकी अपेक्षा बड़ी ही है' इस कहनेमें विरोधकी कोई बात नहीं है। विरोध वहीं आता है जहाँ छोटापन और बड़ापन जैसे सापेक्ष-धर्मों अथवा गुणोंको निरपेक्षरूपसे कथन किया जाता है। मै समझता हूँ अब तुम इस विरोध-अविरोधके तत्त्वको भी अच्छी तरहसे समझ गये होगे ?'

विद्यार्थी—हाँ, आपने खूब समझा दिया है और मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ।

अध्यापक—अच्छा, अब मैं एक बात और पूछता हूँ—कल तुम्हारी कक्षामें जिनदास नामके एक स्याद्वादी—स्याद्वादन्यायके अनुयायी—आए थे और उन्होंने मोहन लड़केको देखकर तथा उसके विषयमें कुछ पूछ-ताछ करके कहा था 'यह तो छोटा है'। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'यह छोटा ही है' यह भी नहीं कहा कि 'वह सर्वथा छोटा है' और न यही कहा कि वह 'अमुकको अपेक्षा अथवा अमुक-विषयमें छोटा है', तो बतलाओ उनके इस कथनमें क्या कोई दोष आता है ? और यदि नहीं आता तो क्यों नहीं ?

इस प्रश्नको सुनकर विद्यार्थी कुछ चक्करसेमें पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा। जब उसे कई मिनट हो गये तो अध्यापकजी बोल उठे—

'तुम तो बड़ी सोचमें पड़ गये ! इस प्रश्नपर इतने सोच-विचार-का क्या काम ? यह तो स्पष्ट ही है कि जिनदास स्याद्वादी हैं, उन्होंने स्वतंत्ररूपसे 'ही' तथा 'सर्वथा' शब्दोंका साथमें प्रयोग भी नहीं किया है, और इसलिये उनका कथन प्रकट रूपमें 'स्यात्' शब्दके प्रयोगको साथमें न लेते हुए भी 'स्यात्' शब्दसे अनुशासित है—किसी अपेक्षा-विशेषको लिये हुए है। किसीसे किसी प्रकारका छोटापन उन्हें विवक्षित था, इसीसे यह जानते हुए भी कि मोहन अनेकोंसे

अनेक विषयोंमें 'बड़ा' है, उन्होंने अपने विवक्षित अर्थके अनुसार उसे उस समय 'छोटा' कहा है। इस कथनमें दोषकी कोई बात नहीं है। तुम्हारे हृदयमें शायद यह प्रश्न उठ रहा है कि जब मोहनमें छोटापन और बड़ापन दोनों थे तब जिनदासजीने उसे छोटा क्यों कहा, बड़ा क्यों नहीं कह दिया ? इसका उत्तर इतना ही है कि— मोहन उम्रमें, क़दमें, रूपमें, बलमें, विद्यामें, चतुराईमें और आचार-विचारमें बहुतोंसे छोटा है और बहुतोंसे बड़ा है। जिनदासजीको जिसके साथ जिस विषय अथवा जिन विषयोंमें उसकी तुलना करनी थी उस तुलनामें वह छोटा पाया गया, और इसलिये उन्हें उस समय उसको छोटा कहना ही विवक्षित था, वही उन्होंने उसके विषयमें कहा। जो जिस समय विवक्षित होता है वह 'मुख्य' कहलाता है और जो विवक्षित नहीं होता वह 'गौण' कहा जाता है। मुख्य-गौणकी इस व्यवस्थासे ही वचन-व्यवहारकी ठीक व्यवस्था बनती है। अतः जिनदासजीके उक्त कथनमें दोषापत्तिके लिये कोई स्थान नहीं है। अनेकान्तके प्रतिपादक स्याद्वादियोंका 'स्यात्' पदका आश्रय तो उनके कथनमें अतिप्रसंग-जैसा गड़बड़-घुटाला भी नहीं होने देता। बहुतसे छोटेपनों और बहुतसे बड़ेपनोंमें जो जिस समय कहनेवालेको विवक्षित होता है उसीका ग्रहण किया जाता है—शेषका उक्त पदके आश्रयसे परिवर्जन (गौणीकरण) हो जाता है। ...

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या अभी चल ही रही थी कि इतनेमें घंटा बज गया और वे दूसरी कक्षामें जानेके लिये उठने लगे। यह देखकर कक्षाके सब विद्यार्थी एकदम खड़े हो गये और अध्यापकजीको अभिवादन करके कहने लगे—'आज तो आपने तत्त्वज्ञानकी बड़ी बड़ी गंभीर तथा सूक्ष्म बातोंको ऐसी सरलता और सुगमरीतिसे बातकी बातमें समझा दिया है कि हम उन्हें जीवनभर भी नहीं भूल सकते। इस उपकारके लिये हम आपके आजन्म ऋणी रहेंगे।

३७

बड़ा दानी कौन ?

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने कक्षामें पहुँचकर विद्यार्थियोंसे पूछा—'बड़े-छोटेका जो तत्त्व तुम्हें कई दिनसे समझाया जा रहा है उसे तुम खूब अच्छी तरह समझ गये हो या कि नहीं ?' विद्यार्थियोंने कहा–'हाँ,हम खूब अच्छी तरह समझ गये हैं।'

'अच्छा, यदि खूब अच्छी तरह समझ गये हो तो आज मेरे कुछ प्रश्नोंका उत्तर दो, और उत्तर देनेमें जो विद्यार्थी सबसे अधिक चतुर हो वह मेरे सामने आ जाय, शेष विद्यार्थी उत्तर देनेमें उसकी मदद कर सकते हैं और चाहें तो पुस्तक खोलकर उसकी भी मदद ले सकते हैं', अध्यापक महोदयने कहा।

इस पर मोहन नामका एक विद्यार्थी, जो कक्षामें सबसे अधिक होशियार था सामने आगया और तब अध्यापकजीने उससे पूछा–

'बतलाओ, बड़ा दानी कौन है ?'

विद्यार्थी–जो लाखों रुपयोंका दान करे वह बड़ा दानी है।

अध्यापक—तुम्हारे इस उत्तरसे तीन बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि दो चार हजार रुपयेका या लाख रुपयेसे कमका दान करनेवाला बड़ा दानी नहीं; दूसरी यह कि लाखोंकी रकमका दान करनेवालोंमें जो समान रकमके दानी हैं वे परस्परमें समान हैं–उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं; और तीसरी बात यह कि रुपयोंका

दान करनेवाला ही बड़ा दानी है, दूसरी किसी चीजका दान करनेवाला बड़ा दानी नही।

विद्यार्थी—मेरा यह मतलब नही कि दूसरी किसी चीज़का दान करनेवाला बड़ा दानी नही, यदि उस दूसरी चीज़की—जायदाद मकान वगैरहकी—मालियत उतने रुपयों जितनी है तो उसका दान करनेवाला भी उसी कोटिका बड़ा दानी है।

अध्यापक—जिस चीज़का मूल्य रुपयोंमें न आँका जा सके उसके विषयमें तुम क्या कहोगे ?

विद्यार्थी—ऐसी कौन चीज है, जिसका मूल्य रुपयोंमें न आँका जा सके ?

अध्यापक—निःस्वार्थ प्रेम, सेवा और अभयदानादि; अथवा क्रोधादि कषायोंका त्याग और दयाभाव बहुतसी ऐसी चीजे हैं जिनका मूल्य रुपयोंमें नही आँका जा सकता। उदाहरणके लिये एक मनुष्य नदीमें डूब रहा है, यह देखकर तट पर खड़ा हुआ एक नौजवान, जिसका पहलेसे उस डूबनेवालेके साथ कोई सम्बन्ध तथा परिचय नही है, उसके दुःखसे व्याकुल हो उठता है, दयाका स्रोत उसके हृदयमें फूट पड़ता है, मानवीय कर्तव्य उसे आ धर दबाता है और वह अपने प्राणोंकी कोई पर्वाह न करता हुआ—जान जोखोंमें डालकर भी—एकदम चढी हुई नदीमें कूद पड़ता है और उस डूबनेवाले मनुष्यका उद्धार करके उसे तट पर ले आता है। उसके इस दयाभाव-परिणत आत्मत्याग और उसकी इस सेवाका कोई मूल्य नहीं और यह अमूल्यता उस समय और भी बढ़ जाती है जब यह मालूम होता है कि वह उद्धार पाया हुआ मनुष्य एक राजाका इकलौता पुत्र है और उद्धार करनेवाले साधारण ग़रीब आदमीने बदलेमें कृतज्ञता-रूपसे पेश किये गये भारी पुरस्कारको भी लेनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त की है। ऐसा दयादानी आत्मत्यागी मनुष्य लाखों रुपयोंका दान करनेवाले दानियोंसे कम बड़ा

नहीं है, वह उससे भी बड़ा है जो पुरस्कारमें आधे राज्यकी घोषणाको पाकर अपनी जान पर खेला हो और ऐसे ही किसी डूबते हुए राजकुमारका उद्धार करनेमें समर्थ होकर जिसने आधा राज्य प्राप्त किया हो। इसी तरह सैनिकों-द्वारा जब लूट-खसोटके साथ क़त्ले-आम हो रहा हो तब एक राजाकी अभयघोषणाका उस समय रुपयोंमें कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता—वह लाखों-करोड़ों और अर्बों-खर्बों रुपयोंके दानसे भी अधिक होती है, और इसलिये एक भी रुपया दान न करके ऐसी अभय-घोषणा-द्वारा सर्वत्र अमन और शान्ति स्थापित करनेवालेको छोटा दानी नही कह सकते। ऐसी ही स्थिति निःस्वार्थ-भावसे देश तथा समाज-सेवाके कार्योंमें दिन-रात रत रहनेवाले और उसीमें अपना सर्वस्व होम देनेवाले छोटी पूँजीके व्यक्तियोंकी है। उन्हें भी छोटा दानी नहीं कहा जा सकता।

अभी अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल रही थी और वे यह स्पष्ट करके बतला देना चाहते थे कि 'क्रोधादि कषायोंके सम्यक् त्यागी एक पैसेका भी दान न करते हुए कितने अधिक बड़े दानी होते है' कि इतनेमे उन्हें विद्यार्थीके चेहरे पर यह दीख पड़ा कि 'उसे बड़े दानीकी अपनी सदोष परिभाषा पर और अपने इस कथन पर कि उसने बड़े-छोटेके तत्त्वको खूब अच्छी तरहसे समझ लिया है कुछ संकोच तथा खेद होरहा है,' और इसलिये उन्होंने अपनी व्याख्याका रुख बदलते हुए कहा—

'अच्छा, अभी इस गंभीर और जटिल विषयको हम यहीं रहने देते हैं—फिर किसी अवकाशके समय इसकी स्वतन्त्र-रूपसे व्याख्या करेंगे—और इस समय तुम्हारी समान-मालियतके दान-द्रव्यकी बातको ही लेते हैं। एक दानी सेनाके लिये दो लाख रुपयेका मांस दान करता है, दूसरा आक्रमणके लिये उद्यत सेनाके वास्ते दो लाख रुपयेके नये हथियार दान करता है, तीसरा अपने ही आक्रमणमें घायल हुए सैनिकोंकी मर्हमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेकी दवा-दारू-

का सामान दान करता है और चौथा बंगालके अकालपीड़ितों एवं अन्नाभावके कारण भूखसे तड़प-तड़पकर मरनेवाले निरपराध प्राणियोंकी प्राणरक्षाके लिये दो लाख रुपयेका अन्नदान करता है। बतलाओ इन चारोंमें बड़ा दानी कौन है? अथवा सबके दान-द्रव्यकी मालियत दो लाख रुपये समान होनेसे सब बराबरके दानी हैं—उनमें कोई विशेष नहीं, बड़े-छोटेका कोई भेद नहीं है ?'

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ भौंचकसा रह गया और उसे शीघ्र ही यह समझ नहीं पड़ा कि क्या उत्तर दूँ, और इसलिये वह उत्तरकी खोजमें मन-ही-मन कुछ सोचने लगा—दूसरे विद्यार्थी भी सहसा उसकी कोई मदद न कर सके—कि इतनेमें अध्यापकजी बोल उठे—

'तुम तो बड़ी सोचमें पड़ गये हो! क्या तुम्हें दानका स्वरूप और जिन कारणोंसे दानमें विशेषता आती है—अधिकाधिक फलकी निष्पत्ति होती है—उनका स्मरण नहीं है? और क्या तुम नहीं जानते कि जिस दानका फल बड़ा होता है वह दान बड़ा है और जो बड़े दानका दाता है वह बड़ा दानी है? तुमने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्याय और उसकी टीकामें पढ़ा है:—स्व-परके अनुग्रह-उपकारके लिये जो अपनी धनादिक किसी वस्तुका त्याग किया जाता है उसे 'दान' कहते हैं और दानमें विधि, द्रव्य, दाता और पात्रके विशेषसे विशेषता आती है—दानके तरीके, दानमें दी जानेवाली वस्तु, दाताके परिणाम और पानेवालेमें गुण-संयोगके भेदसे दानके फलमें कमी-वेशी होती है[1]; तब इस तात्विक दृष्टिको लेकर तुम क्यों नहीं बतलाते कि इन चारोंमें दान-द्रव्यकी समानता होते हुए भी कौन बड़ा है ?'

अध्यापकजीके इन प्रेरणात्मक शब्दोंको सुनकर विद्यार्थीको

---

१. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥
विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥ (त० सू०)

होश आगया, उसकी स्मृति काम करने लगी और इसलिये वह एक दम बोल पड़ा—

'इन चारोंमें बड़ा दानी वह है जिसने बेबसीकी हालतमें पड़े हुए बंगालके अकालपीड़ितोंको दो लाख रुपयेका अन्नदान किया है।'

अध्यापक—वह बड़ा दानी कैसे है? जरा समझाकर बतलाओ। और खासकर इस बातको स्पष्ट करके दिखलाओ कि वह घायल सैनिकोंके लिये मरहमपट्टीका सामान दान करनेवाले दानीसे भी बड़ा दानी क्योंकर है?

विद्यार्थी—मांसकी उत्पत्ति प्रायः जीवघातसे होती है। जो मांसका दान करता है वह दूसरे निरपराध जीवोंके घातमें सहायक होता है और इसलिये मानवतासे गिरकर हिंसात्मक अपराधका भागी बनता है, जिससे उसका अपना उपकार न होकर अपकार होता है। और जिन्हें मांसभोजन कराया जाता है वे भी उस जीवघातके अनुमोदक तथा प्रकारान्तरसे सहायक होकर अपराधके भागी बनते हैं। साथ ही, मांस-भोजनसे उनके हृदयमें निर्दयता-कठोरता-स्वार्थपरतादि-मूलक तामसी भाव उत्पन्न होता है, जो आत्मविकासमें बाधक होकर उन्हें पतनकी ओर ले जाता है, और इसलिये मांस-दानसे मांसभोजीका भी वास्तविक उपकार नहीं होता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि अन्नादिक दूसरे निर्दोष एवं सात्त्विक भोजनोंसे पेट भले प्रकार भरा जा सकता है और उससे शारीरिक बल एवं बौद्धिक शक्तिमें भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतः ऐसे दानका पारमार्थिक अथवा आत्मोपकार-साधनकी दृष्टिसे कोई अच्छा फल नहीं कहा जा सकता—भले ही उसके करनेवालेको लोकमें स्वार्थी राजा-द्वारा किसी ऊपरी पद या मन्सब-की प्राप्ति हो जाय। जब पारमार्थिक अथवा आत्मोपकारकी दृष्टिसे ऐसे दानका कोई बड़ा फल नहीं होता तो ऐसा दान देनेवाला बड़ा दानी भी नहीं कहा जा सकता।

हथियार हिंसाके उपकरण होनेसे उनका दान करनेवाला हिंसामें—परपीड़ामें—सहायक तथा उसका अनुमोदक होता है और जिसे दान दिया जाता है उसे उनके कारण हिंसामें प्रोत्साहन मिलता है और वे प्रायः दूसरोंके घातमें ही काम आते हैं। इस तरह दाता और पात्र दोनोंके ही लिये वे आत्महितका कोई साधन न होकर आत्महनन एवं पतनके ही कारण बनते हैं, और इसलिये हथियारोंका दान पारमार्थिक दृष्टिसे कोई महान् दान नहीं होता—आक्रमणात्मक-युद्धके सैनिकोंके लिये तो वह और भी सदोष ठहरता है; तब उसका दानी बड़ा दानी कैसे हो सकता है ?

घायल सैनिकोंको मर्हम-पट्टीके लिये स्वेच्छासे दवादारूका दान देनेवाला पिछले दो दानियों—मांसदानी और हथियारदानीसे बड़ा जरूर है, परन्तु वह बंगालके घोर अकालसे पीडित प्राणियोंकी रक्षार्थ अन्नका दान करनेवालेसे बड़ा नहीं है। क्योंकि अन्यके राष्ट्र पर आक्रमण करनेके लिये उद्यत सैनिक दूसरोंको घायल करने और स्वयं घायल होनेकी ज़िम्मेदारीको खुद अपने सिर पर उठाते हैं, अपराध करते हुए घायल होते हैं और अच्छे होने पर आगे भी अपराध करनेकी—अनेक निरपराध प्राणियों तकका घात करनेकी इच्छा रखते हैं, इसलिये वे उतने दयाके पात्र नहीं जितने कि बंगालके उक्त अकाल-पीडित दयाके पात्र है, जिनका अकालके बुलानेमें कोई हाथ नहीं, कोई अपराध नहीं और जिन पर अकाल लादा गया है अथवा किसी ज़िम्मेदार बड़े अधिकारीकी भारी लापर्वाही और गफ़लतसे लद गया है। ऐसी स्थितिमें मुझे तो बंगालके अकाल-पीडितोंको दो लाख रुपयेका अन्न दान करनेवाला ही चारोंमें बड़ा दानी मालूम होता है।

अध्यापक—जिस दृष्टिको लेकर तुमने उक्त अन्नदानीको बड़ा दानी बतलाया है वह एक प्रकारसे ठीक है; परन्तु इस विषयमें कई विकल्प उत्पन्न होते अथवा सवाल पैदा होते हैं, उनमेंसे यहाँ पर

दो विकल्पोंको ही रक्खा जाता है, जिनमेंसे पहला विकल्प अथवा सवाल इस प्रकार है—

'मानलो, बंगालके अकाल-पीडितोंके लिये दो-दो लाख रुपयेका अन्न दान करनेवाले चार सेठ हैं, जिनमेंसे (१) एकने स्वेच्छासे दान नहीं दिया, वह दान देना ही नही चाहता था, उस पर किसी उच्च अधिकारीने भारी दबाव डाला और यह धमकी दी कि यदि तुम दो लाख रुपयेका अन्न दानमें नहीं दोगे तो तुम्हारा अन्नका सब स्टाक ज़ब्त कर लिया जायगा, तुम्हारे ऊपर इनकमटक्स दुगुना-चौगुना कर दिया जायगा और भी अनेक कर बढ़ा दिये जावेंगे अथवा डिफेंस आफ इंडिया ऐक्टके अधीन तुम्हारा चालान करके तुम्हें जेलमें डाल दिया जायगा, तुम्हारी जायदाद जब्त करली जायगी और तुम जेलमें पड़े पड़े सड़ जाओगे।' और इसलिये उसने धमकीके भयसे तथा दबावसे मजबूर होकर वह दान दिया है। (२) दूसरेने इस इच्छा तथा आशाको लेकर दान दिया है कि उसके दानसे गवर्नर साहब या कोई दूसरे उच्चाधिकारी प्रसन्न होंगे और उस प्रसन्नताके उपलक्षमें उसे ऑनरेरी मजिस्ट्रेट या रायबहादुर-जैसा कोई पद प्रदान करेंगे अथवा उसके बढते हुए करोंमें कमी होगी और अमुक केसमें उसके अनुकूल फ़ैसला हो सकेगा। (३) तीसरेने कुछ ईर्षा-भाव तथा व्यापारिक दृष्टिको लक्ष्यमें रखकर दान दिया है। उसके पड़ौसी अथवा प्रतिद्वंद्वीने ५० हजारका अन्न दान किया था, उसे नीचा दिखाने, उसकी प्रतिष्ठा कम करने और अपनी धाक तथा साख जमाकर कुछ व्यापारिक लाभ उठानेकी तरफ़ उसका प्रधान लक्ष्य रहा है। (४) चौथेका हृदय सचमुच अकाल-पीडितोंके दुःखसे द्रवीभूत हुआ है और उसने मानवीय कर्तव्य समझ कर स्वेच्छासे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमें रखे वह दान दिया है। बतलाओ इन चारोंमें बड़ा दानी कौनसा सेठ है? और जिस अन्नदानी-की तुमने अभी बड़ा दानी बतलाया है वह यदि इनमेंसे पहले नम्बर-

का सेठ हो तब भी क्या वह उस दानीसे बड़ा दानी है जिसने स्वेच्छासे बिना किसी दबावके घायल सैनिकोंकी बुरी हालतको देखकर उन पर रहम खाते हुए और उनके अपराधादिकी बातको भी ध्यानमें न लाते हुए उनकी मर्हमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेका दान दिया है ?'

विद्यार्थी--इन चारोंमें बड़ा दानी चौथे नम्बरका सेठ है, जो दानकी ठीक स्पिरिटको लिये हुए है। बाकी तो दानके व्यापारी हैं। पहले नम्बरके सेठको तो वास्तवमें दानी ही न कहना चाहिये, उससे तो दो लाख रुपयेका अन्न एक प्रकारसे छीना गया है, वह तो दान-फलका अधिकारी भी नहीं है, और इसलिये घायल सैनिकोंकी मर्हमपट्टीके लिये स्वेच्छासे दयाभावपूर्वक दो लाखका दान करनेवालेसे वह बड़ा दानी कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

अध्यापक—मालूम होता है अब तुम विषयको ठीक समझ रहे हो। अच्छा, दूसरे विकल्पके रूपमें, अब इतना और जानलो कि—'चौथे नम्बरका सेठ करोड़ोंकी सम्पत्तिका धनी है, उसके यहाँ प्रतिदिन लाखों रुपयोंका व्यापार होता है और हर साल सब खर्च देकर उसे दस लाख रुपयेके करीबकी बचत रहती है। उसने दो लाख रुपयेके दानसे अपना एक भोजनालय खुलवा दिया है, भोजन वितरण करनेके लिये कुछ नौकर छोड़ दिये है और यह आर्डर जारी कर दिया है कि जो कोई भी भोजनके लिये आवे उसे भोजन दिया जावे; नतीजा यह हुआ कि उसके भोजनालय पर अधिकतर ऐसे संडे-मुसंडे और गुंडे लोगोंकी भीड़ लगी रहती है जो स्वयं मजदूरी करके अपना पेट भर सकते है—दयाके अथवा मुफ्त भोजन पानेके पात्र नहीं, जो धक्कामुक्की करके अधिकांश गरीब भुखमरोंको भोजनशालाके द्वार तक भी पहुँचने नहीं देते और स्वयं खा-पीकर चले जाते हैं तथा कुछ भोजन साथ भी ले जाते हैं। और इस तरह जिन गरीबोंके वास्ते भोजनशाला खोली गई है उन्हें बहुत ही कम

भोजन मिल पाता है। प्रत्युत इसके, धनीराम नामके एक पांचवें सेठ है, जो ३-४ लाख रुपयेकी सम्पत्तिके ही मालिक हैं। उनका भी हृदय बंगालके अकाल-पीडितोंको देखकर वास्तवमें द्रवीभूत हुआ है, उन्होंने भी मानवीय कर्तव्य समझकर स्वेच्छासे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमें रक्खे दो लाखका दान दिया है और उससे अपनी एक भोजनशाला खुलवाई है। साथ ही, भोजनशालाकी ऐसी विधि-व्यवस्था की है, जिससे वे भोजन-पात्र गरीब भुखमरे ही भोजन पा सकें, जिनको लक्ष्य करके भोजनशाला खोली गई है। उसने भोजनशालाका प्रबन्ध अपने दो योग्य पुत्रोंके सुपर्द कर दिया है, जिनकी सुव्यवस्थासे कोई संडा-मुसडा अथवा अपात्र व्यक्ति भोजन-शालाके अहातेके अन्दर घुसने भी नहीं पाता, जिसके जो योग्य है वही सात्त्विक भोजन उसे दिया जाता है और उन दीन-अनाथों तथा विधवा-अपाहिजोंको उनके घर पर भी भोजन पहुँचाया जाता है जो लज्जाके मारे भोजनशालाके द्वार तक नहीं आ सकते और इसलिये जिन्हें भोजनके अभावमें घर पर ही पड़े पड़े मर जाना मंजूर है। अब बतलाओ इन दोनों सेठोंमें कौन बड़ा दानी है? वही चौथे नम्बरवाला सेठ क्या बड़ा दानी है जिसे तुमने अभी बहुतोंकी तुलनामें बड़ा बतलाया है? अथवा पाचवें नम्बरका यह सेठ धनीराम बड़ा दानी है? कारण-सहित प्रकट करो।

विद्यार्थी उत्तरके लिए कुछ सोचने ही लगा था कि इतनेमें अध्यापकजी बोल पड़े—'इसमें तो सोचनेकी ज़रा भी बात नहीं है। यह स्पष्ट है कि चौथे नम्बरवाले सेठकी पोजीशन बड़ी है, उसकी माली हालत सेठ धनीरामसे बहुत बढ़ी चढी है, फिर भी धनीरामने उसके बराबर ही दो लाखका दान दिया है, दीन-दुखियोंकी पुकारके मुकाबलेमें अधिक धन संचित कर रखना उसे अनुचित जँचा है और उसने थोड़ी सम्पत्तिमें ही सन्तोष धारण करके उसीसे अपना निर्वाह कर लेना इस विषम-परिस्थितिमें उचित समझा है। अतः

उसका दानद्रव्य समान होने पर भी उसका मूल्य अधिक है और उसके दानकी विधि-व्यवस्थाने तथा पात्रोंके ठीक चुनावने उसका मूल्य और भी अधिक बढ़ा दिया है। वह ऐसी स्थितिमें यदि एक लाख नहीं किन्तु अर्धलाख भी दान करता तो भी उसका मूल्य उस चौथे नम्बरवाले सेठके दानसे बढ़ा रहता; क्योंकि दानका मूल्य दानकी रकम अथवा दान-द्रव्यकी मालियत पर ही अवलम्बित नहीं रहता, उसके लिये दान-द्रव्यकी उपयोगिता, दाताके भाव तथा उसकी तत्कालीन स्थिति, दानकी विधि-व्यवस्था और जिसे दान दिया जाता है उसमें पात्रत्वादि गुणोंके संयोगकी भी आवश्यकता होती है। बिना इनके यों ही अधिक द्रव्य लुटा देनेसे बड़ा दान नहीं बनता। सेठ धनीरामके दानमें बड़ेपनकी इन सब बातोंका संयोग पाया जाता है, और इसलिये उसके दानका मूल्य करोड़पति सेठ न० ४ के दानसे भी अधिक होनेके कारण वह उक्त सेठ साहबकी अपेक्षा भी बड़ा दानी है।'

मैं समझता हूँ अब तुम इस बातको भले प्रकार समझ गये होगे कि समान-रकम अथवा समान-मालियतके द्रव्यका दान करनेवाले सभी दानी समान नहीं होते—उनमें भी अनेक कारणोंसे छोटा-बड़ापन होता है; जैसा कि दो लाखके अनेक दानियोंके उदाहरणोंको सामने रखकर स्पष्ट किया जा चुका है। अतः समान-मालियतके द्रव्यका दान करनेवालोंको सर्वथा समान दानी समझना 'एकान्त' और उन्हें विभिन्न दृष्टियोंसे छोटा-बड़ा दानी समझना 'अनेकान्त' है। साथ ही, यह भी समझ गये होगे कि जिस चीज़का मूल्य रुपयोंमें नहीं आँका जा सकता उसका दान करनेवाले कभी-कभी बड़ी-बड़ी रकमोंके दानियोंसे भी बड़े दानी होते हैं। और इसलिये बड़े दानीकी जो परिभाषा तुमने बाँधी है, और जिसका एक अंश (परिभाषासे फलित होनेवाली तीन बातोंमेंसे पहली बात) अभी और विचारणीय है, वह ठीक नहीं है।

इस पर विद्यार्थी (जिसे पहले ही अपनी सदोष परिभाषा पर खेद हो रहा था) नतमस्तक होकर बोला—'आपने जो कुछ कहा है वह सब ठीक है। आपके इस विवेचन, विकल्पोद्भावन और स्पष्टीकरणसे हम लोगोंका बहुतसा अज्ञान दूर हुआ है। हमने जो छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब अच्छी तरह समझ लेनेकी बात कही थी वह हमारी भूल थी। जान पड़ता है अभी इस विषयमें हमें बहुत कुछ सीखना-समझना बाकी है ! लाइनोंके द्वारा आपने जो कुछ समझाया था वह इस विषयका 'सूत्र' था, अब आप उस सूत्रका व्यवहारशास्त्र हमारे सामने रख रहे हैं। इससे सूत्रके समझनेमें जो त्रुटि रही हुई है वह दूर होगी, कितनी ही उलझनें सुलझेंगी और चिरकालकी भूलें मिटेंगी। इस कृपा एवं ज्ञान-दानके लिये हम सब आपके बहुत ही ऋणी और कृतज्ञ हैं।'

मोहनके इस कथनका दूसरे विद्यार्थियोंने भी खड़े होकर समर्थन किया।

घंटेको बजे कई मिनट हो गये थे, दूसरे अध्यापकमहोदय भी कक्षामें आ गये थे, इससे अध्यापक वीरभद्रजी शीघ्र ही दूसरी कक्षामें जानेके लिये बाध्य हुए।

३८

बड़ा और छोटा दानी

उसी दिन अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामें जाकर उस कक्षाके विद्यार्थियोंकी भी इस विषयमें जाँच करनी चाही कि वे बड़े और छोटेके तत्त्वको, जो कई दिनसे उन्हें समझाया जा रहा है, ठीक समझ गये हैं या कि नहीं अथवा कहाँ तक उसे हृदयंगम कर सके हैं, और इसलिये उन्होंने कक्षाके एक सबसे अधिक चतुर विद्यार्थीको पासमें बुलाकर पूछा—

एक मनुष्यने पाँच लाखका दान किया है और दूसरेने दस हज़ारका; बतलाओ, इन दोनोंमें बड़ा दानी कौन है ?

विद्यार्थीने झटसे उत्तर दिया—'जिसने पाँच लाखका दान किया है वह बड़ा दानी है।' इस पर अध्यापकमहोदयने एक गंभीर प्रश्न किया—

'क्या तुम पाँच लाखके दानीको छोटा दानी और दस हज़ारके दानीको बड़ा दानी कर सकते हो ?'

विद्यार्थी—हाँ, कर सकता हूँ।

अध्यापक—कैसे ? करके बतलाओ।

विद्यार्थी—मुझे सुखानन्द नामके एक सेठका हाल मालूम है जिसने अभी दस लाखका दान दिया है, उससे आपका यह पाँच लाखका दानी छोटा दानी है। और एक ऐसे दातारको भी मैं

जानता हूँ जिसने पाँच हज़ारका ही दान दिया है, उससे आपका यह दस हज़ारका दानी बड़ा दानी है। इस तरह दस हज़ारका दानी एककी अपेक्षासे बड़ा दानी और दूसरेकी अपेक्षासे छोटा दानी है, तदनुसार पाँच लाखका दानी भी एककी अपेक्षासे बड़ा और दूसरे-की अपेक्षासे छोटा दानी है।

अध्यापक—हमारा मतलब यह नहीं जैसा कि तुम समझ गये हो, दूसरोंकी अपेक्षाका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। हमारा पूछनेका अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि क्या किसी तरह इन दोनों दानियों-मेंसे पाँच लाखका दानी दस हज़ारके दानीसे छोटा और दस हज़ार-का दानी पाँच लाखके दानीसे बड़ा दानी हो सकता है? और तुम उसे स्पष्ट करके बतला सकते हो?

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है? यह तो उसी तरह असंभव है जिस तरह पत्थरकी शिला अथवा लोहेका पानी पर तैरना।

अध्यापक—पत्थरकी शिलाको लकड़ीके स्लीपर या मोटे तख्ते पर फ़िट करके अगाध जलमें तिराया जा सकता है और लोहेकी लुटिया, नौका अथवा कनस्टर बनाकर उसे भी तिराया जा सकता है। जब युक्तिसे पत्थर और लोहा भी पानी पर तैर सकते हैं और इसलिये उनका पानी पर तैरना सर्वथा असंभव नहीं कहा जासकता, तब क्या तुम युक्तिसे दस हज़ारके दानीको पाँच लाखके दानीसे बड़ा सिद्ध नहीं कर सकते।

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ गहरी सोचमें पड़ गया और उससे शीघ्र कुछ उत्तर न बन सका। इस पर अध्यापकमहोदयने दूसरे विद्यार्थियोंसे पूछा—'क्या तुममेंसे कोई ऐसा कर सकता है?' वे भी सोचते-से रह गये। और उनसे भी शीघ्र कुछ उत्तर न बन पड़ा। तब अध्यापकजी कुछ कड़ककर बोले—

'क्या तुम्हें तत्त्वार्थसूत्रके दान-प्रकरणका स्मरण नहीं है? क्या तुम्हें नहीं मालूम कि दानका क्या लक्षण है और उस लक्षणसे गिर-

कर दान दान नहीं रहता ? क्या तुम्हें उन विशेषताओंका ध्यान नहीं है जिनसे दानके फलमें विशेषता--कमी-बेशी--आती है और जिनके कारण दानका मूल्य कमो-बेश हो जाता अथवा छोटा-बड़ा बन जाता है ? और क्या तुम नहीं समझते हो कि जिस दानका मूल्य बड़ा--फल बड़ा--वह दान बड़ा है, उसका दानी बड़ा दानी है, और जिस दानका मूल्य कम--फल कम वह दान छोटा है, उसका दानी छोटा दानी है--दानद्रव्यकी संख्या पर ही दानका छोटा-बड़ापन निर्भर नहीं है ?'

इन शब्दोंके आघातसे विद्यार्थी-हृदयके कुछ कपाट खुल गये, उसकी स्मृति काम करने लगी और वह ज़रा चमककर कहने लगा--

'हाँ, तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें दानका लक्षण दिया है और उन विशेषताओंका भी उल्लेख किया है जिनके कारण दानके फलमें विशेषता आती है और उस विशेषताकी दृष्टिसे दानमें भेद उत्पन्न होता है अर्थात् किसी दानको उत्तम-मध्यम-जघन्य अथवा बड़ा-छोटा आदि कहा जा सकता है। उसमें बतलाया है कि 'अनुग्रहके लिये--स्व-पर-उपकारके वास्ते--जो अपने धनादिकका त्याग किया जाता है उसे 'दान' कहते हैं और उस दानमें विधि, द्रव्य, दाता तथा पात्रके विशेषसे विशेषता आती है--दानके ढंग, दानमें दिये जानेवाले पदार्थ, दातारकी तत्कालीन स्थिति और उसके परिणाम तथा पाने-वालेमें गुणसंयोगके भेदसे दानके फलमें कमी-वेशी होती है । ऐसी स्थितिमें यह ठीक है कि दानका छोटा-बड़ापन केवल दानद्रव्यकी संख्या पर निर्भर नहीं होता, उसके लिये दूसरी कितनी ही बातोंको देखनेकी जरूरत होती है, जिन्हें ध्यानमें रखते हुए द्रव्यकी अधिक-संख्यावाले दानको छोटा और अल्प-संख्यावाले दानको खुशीसे बड़ा कहा जा सकता है। अतः अब आप कृपाकर अपने दोनों दानियोंका कुछ विशेष परिचय दीजिये, जिससे उनके छोटे-बड़ेपनके विषयमें कोई बात ठीक कही जा सके।

अध्यापक—हमें पाँच-पाँच लाखके दानी चार सेठोंका हाल मालूम है जिनमेंसे (१) एक सेठ डालचन्द हैं, जिनके यहाँ लाखोंका व्यापार होता है और प्रतिदिन हज़ारों रुपये धर्मादाके जमा होते हैं, उसी धर्मादाकी रकममेंसे उन्होंने पाँच लाख रुपये एक सामाजिक विद्या-संस्थाको दान दिये हैं और उनके इस दानमें यह प्रधान-दृष्टि रही है कि वे उस समाजके प्रेमपात्र तथा विश्वासपात्र बनें और लोकमें प्रतिष्ठा तथा उदारताकी धाक जमाकर अपने व्यापारको उन्नत करें। (२) दूसरे सेठ ताराचन्द हैं, जिन्होंने ब्लैक-मार्केट-द्वारा बहुत धन संचय किया है और जो सरकारके कोप-भाजन बने हुए थे—सरकार उन पर मुक़दमा चलाना चाहती थी। उन्होंने एक उच्चाधिकारीके परामर्शसे पाँच लाख रुपये 'गाँधी-मेमोरियल-फंड' को दान दिये हैं और इससे उनकी सारी आपत्ति टल गई है। (३) तीसरे सेठ रामानन्द हैं, जो एक बडी मिलके मालिक हैं जिसमें 'वनस्पति-घी' भी प्रचुर परिमाणमें तय्यार होता है। उन्होंने एक उच्चाधिकारीको गुप्तदानके रूपमें पाँच लाख रुपये इसलिये भेंट किये हैं कि वनस्पति-घीका चलन बन्द न किया जाय और न उसमें किसी रंगके मिलानेका आयोजन ही किया जाय। (४) चौथे सेठ विनोदीराम हैं, जिन्हें 'रायबहादुर' तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' बननेकी प्रबल इच्छा थी। उन्होंने जिलाधीशसे (कलक्टरसे) मिलकर उन ज़िलाधीशके नाम पर एक अस्पताल (चिकित्सालय) खोलनेके लिये पाँच लाखका दान किया है और वे ज़िलाधीशकी सिफारिश पर रायबहादुर तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट बना दिये गये हैं।

इसी तरह हमें चार ऐसे दानी सज्जनोंका भी हाल मालूम है जिन्होंने दस-दस हज़ारका ही दान किया है। उनमेंसे (१) एक तो हैं सेठ दयाचन्द, जिन्होंने नगरमें योग्य चिकित्सा तथा दवाईका कोई समुचित प्रबन्ध न देखकर और साधारण ग़रीब जनताको उनके अभावमें दुःखित एवं पीडित पाकर अपनी निजकी कमाईमेंसे दस

हज़ार रुपये दानमें निकाले हैं और उस दानकी रकमसे एक धर्मार्थ-शुद्ध-औषधालय स्थापित किया है, जिसमें ग़रीब रोगियोंकी सेवा-सुश्रूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता है और उन्हें दवाई मुफ्त दी जाती है। सेठ साहब औषधालयकी सुव्यवस्था पर पूरा ध्यान रखते हैं और अक्सर स्वयं भी सेवाके लिये औषधालयमें पहुँच जाया करते है। (२) दूसरे सेठ ज्ञानानन्द हैं, जिन्हें सम्यग्ज्ञान-वर्धक साधनोंके प्रचार और प्रसारमें बड़ा आनन्द आया करता है। उन्होंने अपनी गाढ़ी कमाईमेंसे दस हज़ार रुपये प्राचीन जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोंके उद्धारार्थ प्रदान किये हैं और उस द्रव्यकी ऐसी सुव्यवस्था की है जिससे उत्तम सिद्धान्त-ग्रन्थ बराबर प्रकाशित होकर लोकका हित कर रहे हैं। (३) तीसरे सज्जन लाला विवेकचन्द है, जिन्हें अपने समाजके बेरोज़गार (आजीविका-रहित) व्यक्तियोंको कष्टमें देखकर बड़ा कष्ट होता था और इसलिये उन्होंने उनके दुःख-मोचनार्थ अपनी शुद्ध कमाईमेंसे दस हजार रुपये दान किये हैं। इस द्रव्यसे बेरोज़-गारोंको उनके योग्य रोज़गारमें लगाया जाता है—दुकानें खुलवाई जाती हैं, शिल्पके साधन जुटाये जाते हैं, नौकरियाँ दिलवाई जाती हैं और जब तक आजीविकाका कोई समुचित प्रबन्ध नहीं बैठता तब तक उनके भोजनादिकमें कुछ सहायता भी पहुँचाई जाती है। इससे कितने ही कुटुम्बोंकी आकुलता मिटकर उन्हें अभयदान मिल रहा है। (४) चौथे सज्जन गवर्नमेंटके पेंशनर बाबू सेवाराम हैं, जिन्होंने गवर्नमेंटके साथ अपनी पेंशनका दस हज़ार नक़दमें समझौता कर लिया है और उस सारी रकमको उन समाजसेवकोंकी भोजन-व्यवस्थाके लिये दान कर दिया है जो निःस्वार्थभावसे समाज-सेवाके लिये अपनेको अर्पित कर देना चाहते हैं परन्तु इतने साधन-सम्पन्न नहीं हैं कि उस दशामें भोजनादिकका खर्च स्वयं उठा सकें। इससे समाजमें निःस्वार्थ सेवकोंकी वृद्धि होगी और उससे कितना ही सेवा एवं लोकहितका कार्य सहज सम्पन्न हो सकेगा। बाबू सेवारामजीने

स्वयं अपनेको भी समाजसेवाके लिये अर्पित कर दिया है और अपने दानद्रव्यके सदुपयोगकी व्यवस्थामें लगे हुए हैं।

अब बतलाओ दस-दस हज़ारके इन चारों दानियोंमेंसे क्या कोई दानी ऐसा है जिसे तुम पाँच-पाँच लाखके उक्त चारों दानियोंमेंसे किसीसे भी बड़ा कह सको ? यदि है तो कौन-सा है और वह किससे बड़ा है ?

विद्यार्थी—मुझे तो ये दस-दस हज़ारके चारों ही दानी उन पाँच-पाँच लाखके प्रत्येक दानीसे बड़े दानी मालूम होते हैं।

अध्यापक—कैसे ? ज़रा समझाकर बतलाओ ?

विद्यार्थी—पाँच लाखके प्रथम दानी सेठ डालचन्दने जो द्रव्य दान किया है वह उनका अपना द्रव्य नहीं है, वह वह द्रव्य है जो ग्राहकोंसे मुनाफेके अतिरिक्त धर्मादाके रूपमें लिया गया है, न कि वह द्रव्य जो अपने मुनाफेमेंसे दानके लिये निकाला गया हो। और इसलिये उसमें सैकड़ों व्यक्तियोंका दानद्रव्य शामिल है। अतः दानके लक्षणानुसार सेठ डालचन्द उस द्रव्यके दानी नहीं कहे जा सकते—दानद्रव्यके व्यवस्थापक हो सकते हैं। व्यवस्थामें भी उनकी दृष्टि अपने व्यापारकी रही है और इसलिये उनके उस दानका कोई विशेष मूल्य नहीं है—वह दानके ठीक फलोंको नहीं फल सकता। पाँच लाखके दानी शेष तीन सेठ तो दानके व्यापारी मात्र हैं—दानकी कोई स्पिरिट, भावना और आत्मोपकार तथा परोपकारको लिये हुए अनुग्रहदृष्टि उनमें नहीं पाई जाती और इसलिये उनके दानको वास्तवमें दान कहना ही न चाहिये। सेठ ताराचन्दने तो ब्लैक-मार्केट-द्वारा बहुतोंको सताकर कमाये हुए उस अन्याय-द्रव्यका दान करके उसका बदला भी अपने ऊपर चलनेवाले एक मुकदमेको टलानेके रूपमें चुका लिया है और सेठ विनोदीरामने बदलेमें 'रायबहादुर' तथा 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट' के पद प्राप्त कर लिये हैं अतः पारमार्थिक-दृष्टिसे उनके उस दानका कोई मूल्य नहीं है। प्रत्युत इसके,

दस-दस हज़ारके उन चारों दानियोंके दान दानकी ठीक स्पिरिट, भावना तथा स्व-परकी अनुग्रहबुद्धि आदिको लिये हुए हैं और इस-लिये दानके ठीक फलको फलनेवाले सम्यक्दान कहे जानेके योग्य हैं। इसीसे मैं उनके दानी सेठ दयाचन्द, सेठ ज्ञानानन्द, ला० विवेकचन्द और बाबू सेवारामजीको पाँच-पाँच लाखके दानी उन चारों सेठों डालचन्द, ताराचन्द, रामानन्द, और विनोदीरामसे बड़े दानी समझता हूँ। इनके दानका फल हर हालतमें उन तथाकथित बड़े दानियोंके दान-फलसे बड़ा है और इसलिये उन दस-दस हज़ारके दानियोंमेंसे प्रत्येक दानी उन पाँच-पाँच लाखके दानियोंसे बड़ा है।

यह सुनकर अध्यापक वीरभद्रजी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले—'परन्तु सेठ रामानन्दजीने तो दान देकर अपना नाम भी नहीं चाहा, उन्होंने गुप्तदान दिया है और गुप्तदानका महत्व अधिक कहा जाता है, तुमने उन्हें छोटा दानी कैसे कह दिया? ज़रा उनके विषयको भी कुछ स्पष्ट करके बतलाओ।

विद्यार्थी—सेठ रामानन्दका दान तो वास्तवमें कोई दान ही नहीं है—उस पर दानका कोई लक्षण घटित नहीं होता और इसलिये वह दानकी कोटिमें ही नहीं आता—गुप्तदान कैसा? वह तो स्पष्ट रिश्वत अथवा घूस है, जो एक उच्चाधिकारीको लोभमें डालकर उसके अधिकारोंका दुरुपयोग कराने और अपना बहुत बड़ा लौकिक स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दी गई है और उस स्वार्थसिद्धिकी उत्कट भावनामें इस बातको बिल्कुल ही भुला दिया गया है कि वनस्पतिघीके प्रचार-से लोकमें कितनी हानि हो रही है—जनताका स्वास्थ्य कितना गिर गया तथा गिरता जाता है और वह नित्य नई कितनी व कितने प्रकारकी बीमारियोंकी शिकार होती जाती है, जिन सबके कारण उसका जीवन भाररूप हो रहा है। उस सेठने सबके दुख-कष्टोंकी ओरसे अपनी आंखें बन्द कर ली हैं—उसकी तरफ़से बूढ़ा मरो चाहे जवान उसे अपनी हत्यासे काम! फिर दानके अंगस्वरूप किसीके

अनुग्रह उपकारकी बात तो उसके पास कहाँ फटक सकती है ? वह तो उससे कोसों दूर है । महात्मा गान्धी-जैसे सन्तपुरुष वनस्पति-घीके विरोधमें जो कुछ कह गये हैं उसेभी उसने ठुकरा दिया है और उस अधिकारीको भी ठुकरानेके लिये राजी कर लिया है जो बात-बातमें गांधीजीके अनुयायी होनेका दम भरा करता है और दूसरोंको भी गांधीजीके आदेशानुसार चलनेकी प्रेरणा किया करता है। ऐसा ढोंगी, दम्भी बगुला-भगत उच्चाधिकारी जो तुच्छ लोभमें पड़कर अपने कर्त्तव्यसे च्युत, पथसे भ्रष्ट और अपने अधिकारका दुरुपयोग करनेके लिये उतारू हो जाता है वह दानका पात्र भी नहीं है। इस तरह पारमार्थिक दृष्टिसे सेठ रामानन्दका दान कोई दान नहीं है। और न लोकमें ही ऐसे दानको दान कहा जाता है। यदि द्रव्यको अपनेसे पृथक् करके किसीको दे देने मात्रके कारण ही उसे दान कहा जाय तो वह सबमें निकृष्ट दान है, उसका उद्देश्य बुरा एवं लोकहितमें बाधक होनेसे वह भविष्यमें घोर दुःखों तथा आपदाओंके रूपमें फलेगा। और इसलिये पाँच-पाँच लाखके उक्त चारों दानियोंमें सेठ रामानन्दको सबसे अधिक निकृष्ट, नीचे दर्जेका तथा अधम दानी समझना चाहिये।

अध्यापक—शाबास ! मालूम होता है अब तुम बड़े और छोटेके तत्त्वको बहुत कुछ समझ गये हो। हाँ, इतना और बतलाओ कि जिन चार दानियोंको तुमने पाँच पांच लाखके दानियोंसे बड़े दानी बतलाया है वे क्या दस-दस हजारकी समान रकमके दानसे परस्परमें समान दानी हैं, समान-फलके भोक्ता होंगे और उनमें कोई परस्परमें बड़ा-छोटा दानी नहीं है ?

विद्यार्थी उत्तरकी खोजमें मन-ही-मन कुछ सोचने लगा, इतनेमें अध्यापकजी बोल उठे—'इसमें अधिक सोचनेकी बात नहीं, इतना तो स्पष्ट ही है कि जब अधिक द्रव्यके दानी भी अल्प द्रव्यके दानीसे छोटे हो जाते हैं और दानद्रव्यकी संख्या पर ही दान-तथा

दानीका बड़ा-छोटापन निर्भर नहीं है तब समान द्रव्यके दानी परस्परमें समान और एक ही दर्जेके होंगे ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता—वे समान भी हो सकते हैं और असमान भी। इस तरह उनमें भी बड़े-छोटेका भेद संभव है और वह भेद तभी स्पष्ट हो सकता है जब कि सारी परिस्थिति सामने हो अर्थात् यह पूरी तौरसे मालूम हो कि दानके समय दातारकी कौटुम्बिक तथा आर्थिक आदि स्थिति कैसी थी, किन भावोंकी प्रेरणासे दान किया गया है, किस उद्देश्यको लेकर तथा किस विधि-व्यवस्थाके साथ दिया गया है और जिन्हें लक्ष्य करके दिया गया है वे सब पात्र हैं, कुपात्र हैं या अपात्र, अथवा उस दानकी कितनी उपयोगिता है। इन सबकी तरतमता पर ही दान तथा उसके फलकी तरमता निर्भर है और उसीके आधार पर किसी प्रशस्त दानको प्रशस्ततर या प्रशस्ततम अथवा छोटा-बड़ा कहा जा सकता है। जिनके दानोंका विषय ही एक दूसरेसे भिन्न होता है उनके दानी प्रायः समान फलके भोक्ता नहीं होते और न समान फलके अभोक्ता होनेसे ही उन्हें बड़ा-छोटा कहा जा सकता है। इस दृष्टिसे उक्त दस-दस हजारके चारों दानियोंमेंसे किसीके विषयमें भी यह कहना सहज नहीं है कि उनमें कौन बड़ा कौन छोटा दानी है। चारोंके दानका विषय बहुत उपयोगी है और उन सबकी अपने अपने दानविषयमें पूरी दिलचस्पी पाई जाती है।'

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल ही रही थी, कि इतनेमें घंटा बज गया और वे यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि—'दान और दानीके बड़े-छोटेपनके विषयमें आज बहुत कुछ विवेचन दूसरी कक्षामें किया जा चुका है उसे तुम मोहनलाल विद्यार्थीसे मालूम कर लेना, उससे रही-सही कचाई दूर होकर तुम्हारा इस विषयका ज्ञान और भी परिपुष्ट हो जायगा और तुम एकान्त-अभिनिवेशके चक्करमें न पड़ सकोगे।' अध्यापकजीको उठते देखकर सब विद्यार्थी खड़े होगये और बड़े विनीतभावसे उनका आभार व्यक्त करने लगे।

३६

भारतकी स्वतन्त्रता, उसका झंडा और कर्तव्य

कोई एक हजार वर्षकी गुलामीके बाद भारत १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्र हुआ—उसकी गर्दन परसे अवांछनीय विदेशी-शासनका जूआ उतरा, इसके पैरोंकी बेड़ियाँ हाथोंकी हथकड़ियाँ कटीं और शरीर तथा मन परके दूसरे बन्धन भी टूटे, जिन सबके कारण वह पराधीन था, स्वेच्छासे कहीं जा आ नहीं सकता था, बोल नहीं सकता था यथेष्टरूपमें कुछ कर नहीं सकता था और न उसे कहीं सम्मान ही प्राप्त था। उसमें अनेक उपायोंसे फूटके बीज बोए जाते थे और उनके द्वारा अपना उल्लू सीधा किया जाता था। साथ ही उस पर करों आदिका मनमाना बोझा लादा जाता था, तरह तरहके अन्याय-अत्याचार किये जाते थे, अपमानों-तिरस्कारोंकी बौछारें पड़ती थीं और उन सबके विरोधमें ज़बान खोलने तकका उसे कोई अधिकार नहीं था। उसके लिये सत्य बोलना भी अपराध था। और इसलिये वह मजबूर था झूठ, चोरी, बेईमानी, घूसखोरी और ब्लैकमार्केट-जैसे कुकर्मोंके लिये। इसीसे उसका नैतिक और धार्मिक पतन बड़ी तेज़ीके साथ हो रहा था, सारा वातावरण गंदा एवं दूषित हो गया था और कहीं भी सुखपूर्वक साँस लेनेके लिये स्थान नहीं था।

धन्य है भारतकी उन विभूतियोंको जिन्होंने परतन्त्रताके इस

दोषको समझा, स्वतन्त्रताका मूल्य आँका और उस मूल्यको चुकानेके लिये अहिंसाके साथ तप, त्याग तथा बलिदानका मार्ग अपनाया। परिणामस्वरूप जिन्हें घोर यातनाएँ सहनी पड़ीं, महीनों-वर्षों जेलोंकी कालकोठरियोंमें सड़ना पड़ा, सारे सुख-चैन और आरामको तिलाञ्जलि देनी पड़ी, सम्पत्तिका अपहरण देखना पड़ा और हृदयको व्यथित करनेवाली देशीय तथा आत्मीय जनोंकी करुण-पुकारों एवं कष्ट-कहानियोंको सुनना पड़ा। साथ ही, देशसे निर्वासित होना पड़ा, गोलियां खानी पड़ीं और फाँसीके तख्तोंपर भी लटकना पड़ा। परन्तु इन सब अवस्थाओंमेंसे गुजरते हुए जो कभी अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं हुए, वेदनाओं तथा प्रलोभनोंके सामने जिन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया, अहिंसाकी नीतिको नहीं छोड़ा, सतानेवालोंके प्रति भी उनके हृदय-परिवर्तन तथा उनमें मानवताके संचारके लिये सदा शुभ कामनाएँ ही कीं, और जो अपने प्रणके पक्के, वचनके सच्चे तथा संकल्पमें अडोल रहे और जिन्होंने सब कुछ गँवाकर भी अपनी तथा देशकी प्रतिष्ठाको कायम रक्खा। यहाँ उन विभूतियोंके नामोंको गिनानेकी जरूरत नहीं और न उन्हें गिनाया ही जा सकता है; क्योंकि जो सुप्रसिद्ध विभूतियाँ हैं उनके नामोंसे तो सभी परिचित हैं, दूसरी विभूतियोंमें कितनी ही ऐसी विभूतियाँ भी हैं जो गुप्तरूपसे काम करती रही हैं और जिनका तप-त्याग एवं बलिदान किसी भी प्रसिद्ध बड़ी विभूतिसे कम नहीं है। अकसर बड़ी विभूतियोंको तो जेलमें बन्द रहते हुए भी उतने कष्ट सहन नहीं करने पड़े हैं जितने कि किसी-किसी छोटी विभूतिको सहन करने पड़े हैं। अतः यहाँ पर किसीका भी नाम न देकर उन सभी छोटी-बड़ी, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध विभूतियोंको सादर प्रणामाञ्जलि समर्पित है जो भारतको मुक्तिके लिये बराबर प्रयत्न करती रही हैं और जिनके सत्प्रयत्नोंके फलस्वरूप ही देशको आज वह स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है जिसके कारण भारतवासी अब आज़ादीके साथ खुले वातावरणमें

साँस ले सकेंगे, यथेच्छ रूपमें चल-फिर सकेंगे, खुली आवाज़से बोल सकेंगे, बिना संकोचके लिख-पढ़ सकेंगे, बिना किसी रोक-टोकके अपनी उन्नति एवं प्रगतिके साधनोंको जुटा सकेंगे। ऐसी स्वतन्त्रता किसे प्यारी नहीं होगी ? कौन उसका अभिनन्दन नहीं करेगा ? कौन उसे पाकर प्रसन्न नहीं होगा ? और कौन उसके लिये आनन्दोत्सव नहीं मनाएगा ?

यही वजह है कि उस दिन १५ अगस्तको स्वतन्त्रता-दिवस मनानेके लिये जगह-जगह—नगर-नगर और ग्राम-ग्राममें—जन-समूह उत्सवके लिये उमड़ पड़ा था, जनतामें एक अभूतपूर्व उत्साह दिखाई पड़ता था, लम्बे-लम्बे जलूस निकाले गये थे, तरह-तरहके बाजे बज रहे थे, नेताओं और शहीदोंकी जयघोषके नारे लग रहे थे, बालकोंको मिठाइयाँ बँट रही थीं, कहीं कहीं दीन-दुःखित जनोंको अन्न-वस्त्र भी बाँटे जा रहे थे, घर-द्वार, सरकारी इमारतें और मन्दिर-बाजारादिक सब सजाये गये थे, उन पर रोशनी की गई थी—दीपावली मनाई गई थी—और हजारों कैदी जेलोंसे मुक्त होकर इन उत्सवोंमें भाग ले रहे थे और अपने नेताओंकी इस भारी सफलता पर गर्व कर रहे थे और उन्हें हृदयसे धन्यवाद दे रहे थे।

इन उत्सवोंकी सबसे बड़ी विशेषता भारतके उस तिरंगे झंडेकी थी जिसका अशोकचक्रके साथ नव-निर्माण हुआ है। घर घर, गली-गली और दुकान-दुकान पर उसे फहराया गया था। कोई भी सरकारी इमारत, सार्वजनिक संस्था और मन्दिर मस्जिदकी बिल्डिङ्ग ऐसी दिखाई नहीं पड़ती थी, जो इस राष्ट्रीय पताकाको अपने सिर पर अथवा अपनी गोदमें धारण किये हुए न हो। जलूसोंमें बहुतसे लोग अपने-अपने हाथोंमें इस झंडेको थामे हुए थे, जिन्हें हाथोंमें लेनेके लिये झंडे नहीं मिल सके वे इस झंडेकी मूर्तियों या चित्रोंको अपनी-अपनी टोपियों अथवा छातियों पर धारण किये हुए थे। जिधर देखो उधर ये राष्ट्रीय झंडे ही झंडे फहराते हुए नज़र आते

थे और उनकी सारे देशमें एक बाढ़ सी आगई थी। जहाँ कहीं भी किसी खास स्थान पर समूहके मध्यमें झंडेको लहरानेकी रस्म अदा की गई वहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख जैन, पारसी और ईसाई आदि सभीने मिलकर बिना किसी भेद-भावके झंडेका गुणगान किया, उसे सिर झुकाकर प्रणाम किया और सलामी दी।

उस वक्तका यह सार्वजनिक और सार्वभौमिक मूर्तिपूजाका दृश्य बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। और हृदयमें रह-रहकर ये विचार तरङ्गित हो रहे थे कि जो लोग मूर्तिपूजाके सर्वथा विरोधी हैं उसमें कृत्रिमता और जड़ता जैसे दोष देकर उसका निषेध किया करते हैं—वे समय पर इस बातको भूल जाते हैं कि 'हम भी किसी न किसी रूपमें मूर्तिपूजक हैं', क्योंकि राष्ट्रका झंडा भी, जिसकी वे उपासना करते हैं, एक प्रकारकी जड़मूर्ति है और राष्ट्रके प्रतिनिधि नेताओं-द्वारा निर्मित होनेसे कृत्रिम भी है।

परन्तु देवमूर्ति जिस प्रकार कुछ भावोंकी प्रतीक होती है, जिनकी उसमें प्रतिष्ठा की जाती है, उसी प्रकार यह राष्ट्रपताका भी उन राष्ट्रीय भावनाओंकी प्रतीक है जिनकी कुछ रङ्गों तथा चिन्हों आदिके द्वारा इसमें प्रतिष्ठा की गई है, और इसीसे देवमूर्तिके अपमानकी तरह इस प्रतिष्ठित राष्ट्रमूर्तिके अपमानको भी इसका कोई उपासक सहन नहीं कर सकता। इसी बातको लेकर 'झंडेको सदा ऊँचा रखने और प्राण देकर भी उसकी प्रतिष्ठाको बराबर क़ायम रखनेकी' सामूहिक तथा व्यक्तिगत प्रतिज्ञाएँ कराई गई थीं। अतः झंडेकी पूजा-वन्दना करनेवालोंको भूलकर भी मूर्तिपूजाका सर्वथा विरोध नहीं करना चाहिये—वैसा करके वे अपना विरोध आप घटित करेंगे।

उन्हें दूसरोंकी भावनाओंको भी समझना चाहिये और अनुचित आक्षेपादिके द्वारा किसीके भी मर्मको नहीं दुखाना चाहिये; बल्कि राष्ट्रीय झंडेकी इस सामूहिक वन्दनासे पदार्थ-पाठ लेकर सबके साथ

प्रेमका व्यवहार करना चाहिये और कोई भी काम ऐसा नहीं करना चाहिये जिससे राष्ट्रकी एकता भङ्ग हो अथवा उसके हितको बाधा पहुँचे। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिये कि संसारमें ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो किसी न किसी रूपमें मूर्तिकी पूजा-उपासना न करता हो—बिना मूर्ति-पूजाके अथवा आदरके साथ मूर्तिको अपनाये बिना किसीका भी काम नहीं चलता। शब्द और अक्षर भी एक प्रकारकी मूर्तियाँ— पौद्गलिक आकृतियाँ— हैं, जिनसे हमारे धर्म-ग्रन्थ निर्मित हैं और जिनके आगे हम सदा ही सिर झुकाया करते हैं। यह सिर झुकाना, वन्दना करना और आदर-सत्कार-रूप प्रवृत्त होना ही 'पूजा' है; पूजाके और कोई सींग नहीं होते।

झंडेमें जिस अशोकचक्रकी स्थापना की गई है उसका रहस्य अभी बहुत कुछ गुप्त है। भारतके प्रधान मन्त्री माननीय पंडित जवाहरलालजी नेहरूने उस दिन वर्तमान राष्ट्रीय झंडेका रूप उपस्थित करते और उसे पास कराते हुए जो कुछ कहा है वह बहुत कुछ सामान्य, संक्षिप्त तथा रहस्यके गाम्भीर्यकी सूचना-मात्र है—उससे अशोकचक्रको अपनानेका पूरा रहस्य खुलता नहीं है। सम्भव है सरकारकी ओरसे किसी समय उस पर विशेष प्रकाश डाला जाय। जैनकुलोत्पन्न सम्राट् अशोक किन संस्कारोंमें पले थे, कौनसी परिस्थितियाँ उनके सामने थीं, उन्होंने किन-किन भावोंको लेकर इस चक्रकी रचना की थी, चक्रका कौन-कौन अंग किस-किस भावका प्रतिनिधित्व करता है—खासकर उसके आरोंकी २४ संख्या किस भावका द्योतन करती है, जैन तीर्थंकरोंके 'धर्मचक्र' और बुद्ध भगवानके 'धर्मचक्र' के साथ इसका क्या तथा कितना सम्बन्ध है और भारतके भरतादि चक्रवर्तियों तथा कृष्णादि नारायणोंके 'सुदर्शन-चक्र' के साथ इस चक्रका कहाँ तक सादृश्य है अथवा उसके किस-किस रूपको किस दृष्टिसे इसमें अपनाया गया है, ये सब बातें प्रकट होनेके योग्य हैं।

कितनी ही बातें इनमें ऐसी भी हो सकती हैं जो अभी इतिहासके गर्भमें हैं और जिन्हें आगे चलकर किसी समय इतिहास प्रकट करेगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह चक्र बड़ा ही महत्वपूर्ण है, भारतकी प्राचीन संस्कृतिका द्योतक है और उसकी विजयका चिन्ह है। इसीसे विजयके अवसर पर उसे राष्ट्रीय पताकामें धारण किया गया है। वह जहाँ धार्मिक चक्रवर्तियोंकी धर्म-विजयका और लौकिक चक्रवर्तियोंकी लोक-विजयका चिन्ह रहा है वहाँ वर्तमान मशीन-युगके भी वह अनुरूप ही है और उसका प्रधान अंग है। नई पुरानी अधिकांश मशीनें चक्रोंसे ही चलती हैं—चक्रके बिना उनकी गति नहीं। यदि चक्रका उपयोग बिल्कुल बन्द कर दिया जाय तो प्रायः सारा यातायात और उत्पादन एकदम रुक जाय। क्योंकि रथ, गाड़ी, ताङ्गा, मोटर, साईकिल, रेल, एंजिन, जहाज, रहट, चाक, चर्खा, चर्खी, कर्घा और कल-मिल आदि सभी साधनोंमें प्रायः चक्रका उपयोग होता है, और इसलिये चक्रको श्रम-जीवन तथा श्रमोन्नतिका प्रधान प्रतीक भी समझना चाहिये, जिसके बिना सारा संसार बेकार है।

अतः जब तक अशोकचक्रको, जिसमें थोड़ासा परिवर्तन भी किया जान पड़ता है, प्रतिष्ठित करनेवाले अधिकारियों-द्वारा इसके रहस्यका उद्घाटन नहीं किया जाता तब तक सर्व साधारण जन इस चक्रमें सूर्यकी, सुदर्शनचक्रकी, जैन तथा बौद्धोंके धर्मचक्रोंमेंसे किसीकी, वर्तमान युगके मशीनी चक्रकी अथवा सभीके समावेशकी कल्पना कर सकते हैं और तदनुकूल उसका दर्शन भी कर सकते हैं। परन्तु मुझे तो अशोककी दृष्टिसे इस चक्रका मध्यवृत्त (बीचका गोला) समता (शान्ति) और ज्योति (ज्ञान) का प्रतीक जान पड़ता है, बाह्यवृत्त संसारकी—मध्यलोककी अथवा जम्बूद्वीपकी परिधिके रूपमें प्रतीत होता है, संसारमें समता और ज्योतिका प्रसार जिन २४ किरणों-द्वारा हुआ तथा होरहा है वे मुख्यतः ऋष-

आदि महावीर पर्यन्त २४ जैन तीर्थंकर मालूम होते हैं—दूसरों-द्वारा बादको माने गये २४ अवतारोंका भी उनमें समावेश है—और परिधिके पास तथा किरणोंके मध्यमें जो छोटे-छोटे स्तूपाकार उभार हैं वे इस लोककी आबादी (नगरादि) के प्रतीक जान पड़ते हैं और उनके शिरोभाग जो मध्यवृत्तका कुछ गुलाईको लिये हुए हैं वे इस बातको सूचित करते हैं कि उन पर मध्यवृत्तका असर पड़ा है और वे उसकी समता तथा ज्योतिके प्रभावसे प्रभावित हैं। साथ ही, विजय-चिन्हके रूपमें सुदर्शनचक्रका भी उसमें समावेश हो सकता है और प्रकारान्तरसे सूर्यका भी, जो सब पर समानरूपसे अपना प्रकाश डालता है, स्फूर्ति-उत्साह-प्रदायक है और सबकी उन्नति-प्रगतिमें सहायक है।

झंडेके तीन रंगोंमें एक सफेद रंग भी है जो शुद्धिका प्रतीक है। वह यदि आत्मशुद्धिका प्रतीक होता तो उसे सर्वोपरि स्थान दिया जाता, मध्यमें स्थान दिया जानेसे वह हृदय-शुद्धिका द्योतक जान पड़ता है—हृदयका स्थान भी शरीरके मध्यमें है। इस सफ़ेद रंगके मध्यमें ही अशोकचक्र अथवा विजयचक्रकी स्थापना की गई है, जिसका स्पष्ट आशय यह जान पड़ता है कि विजय अथवा अशोक-का सम्बन्ध चित्तशुद्धिसे है—चित्तशुद्धिके बिना न तो स्थायी विजय मिलती है और न अशोक-दशाकी ही प्राप्ति होती है। अस्तु।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भारतको यह जो कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है वह अभी तक बाह्य शत्रुओंसे ही प्राप्त हुई है—अन्तरंग (भीतरी) शत्रुओंसे नहीं—और वह भी एक समझौतेके रूपमें। समझौतेके रूपमें इतनी बड़ी स्वतन्त्रताका मिलना इतिहासमें अभूतपूर्व समझा जाता है और उसका प्रधान श्रेय महात्मा गांधीजीके द्वारा राजनीतिमें अहिंसाके प्रवेशको प्राप्त है। इस विषयमें महात्माजीका कहना है कि जनताने अहिंसाको एक नीतिके रूपमें ऊपरी तौर पर अपनाया है, उसका इतना फल है। यदि अहिंसाको हृदयसे पूरी तौर पर अपनाया होता तो स्वराज्य कभीका

मिल जाता और वह स्थिर रहनेवाला स्वराज्य होता। यदि अहिंसा-को छोड़ दिया और हिंसाको अपनाया गया तो जो स्वराज्य आज प्राप्त हुआ है वह कल हाथसे निकल जायगा। अतः इस समय सर्वोपरि प्रश्न प्राप्त हुई स्वतन्त्रताकी सुरक्षा तथा स्थिरताका है।

जिस दिनसे यह स्वतन्त्रता मिली है उस दिनसे भीतरी शत्रुओंने और भी जोरके साथ सिर उठाया है—जिधर देखो उधर मार-काट, लूट-खसोट, मन्दिर-मूर्तियोंकी तोड़-फोड़ और आग लगानेकी घटनाएँ हो रही हैं। इन घटनाओंको पहले पाकिस्तानने शुरू किया, पाकिस्तान गैर-मुसलिमोंकी संपत्तिको छीनकर अथवा उसे नष्ट-भ्रष्ट करके ही सन्तुष्ट रहना नहीं चाहता बल्कि उनकी युवास्त्रियों तथा लड़कियोंसे बलात्कार करने और उन्हें घरमे डालने तकमें प्रवृत्त हो रहा है शेष सबको बच्चों-समेत क़त्ल कर देने अथवा जबरन उनका धर्म-परिवर्तन करनेके लिये उतारू है। और इस तरह गैर-मुसलमानोंकी अथवा अपनी बोलीमें काफ़िरोंकी संख्याको एकदम कम कर देना चाहता है! चुनांचे अगर कोई किसी तरह भाग-बचकर किसी की शरणमें अथवा शरणार्थी-शिविरमें पहुँच जाता है तो वहाँ तक उसका पीछा किया जाता है और हिन्दुस्तानमें आनेवाले शरणार्थियोंकी ट्रेनों, बसों तथा हवाई जहाजों तक पर हमला किया जाता है और कितने ही ऐसे मुसीबतज़दा बेघरबार एवं निरपराधी शरणार्थियोंको भी मौतके घाट उतार दिया जाता है!! इस घोर अन्याय-अत्याचार और अमानुषिक व्यवहारकी खबरोंसे सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है, बदलेकी भावनाएँ दिन-पर-दिन जोर पकड़ती जा रही है और लोग 'जैसेको तैसा' की नीति पर अमल करनेके लिये मजबूर हो रहे हैं सारा वातावरण क्षुब्ध और सशंक बना हुआ है, कहीं भी अपनेको कोई सुरक्षित नहीं समझता। कहाँ पर किस समय क्या होजाय, यही आशंका लोगोंके हृदयोंमें घर किये हुए है। सारा व्यापार चौपट है और किसीको भी ज़रा चैन नहीं है; इस तरह

यह स्वतन्त्रता एक प्रकारका अभिशाप बन रही है और साधारण अदूरदर्शी एवं अविवेकी लोगोंको यह कहनेका अवसर मिल रहा है कि 'इस स्वतन्त्रतासे तो परतन्त्रता अच्छी थी'। इधर पास खड़े कुछ बाहरी शत्रु भी आगमें ईंधन डालकर उसे भड़का रहे हैं और इस बातकी फ़िकरमें हैं कि इन भारतवासियोंको स्वराज्यके अयोग्य करार देकर फिरसे इनकी गर्दन पर सवारी की जाय—अपने निरंकुश शासनका जूआ उन पर रक्खा जाय।

ऐसी हालतमें नेताओंका कार्य बड़ा ही कठिन और जटिल हो रहा है। उन्हें सुखकी नींद सोना तो दूर रहा, सुखपूर्वक सांस लेनेका भी अवसर नहीं मिल रहा है। उनकी जो शक्ति रचनात्मक, व्यवस्थात्मक और देशको ऊपर उठानेके कार्योंमें लगती और जिनसे उनकी असाधारण क़ाबलियत (योग्यता) जानी जाती, वह आज इस व्यर्थके गृह-कलहके पीछे उलझी हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि पाकिस्तानने हिन्दुस्तान (भारत) के साथ विश्वासघात किया है और नेताओंको सख्त धोखा हुआ है; परन्तु इसमें भी संदेह नहीं है कि भारतके पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल-जैसे नेता बड़ी तत्परताके साथ काम कर रहे हैं और उन्होंने दिन-रात एक करके थोड़े ही समयमें वह काम करके दिखलाया है जो अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञ और कार्यकुशल व्यक्तियोंके लिये ईर्षाकी वस्तु हो सकती है। इस समय उनकी सारी शक्ति हिन्दू, सिख आदि शरणार्थियोंको पाकिस्तानसे निकालने और पूर्वी पंजाबसे मुसलमान शरणार्थियोंको सुरक्षितरूपमें पाकिस्तान भिजवानेमें लगी हुई है। वे हिन्दुस्तानमें पाकिस्तानकी पक्षपातपूर्ण और धर्मान्ध साम्प्रदायिक विद्वेषकी नीतिको किसी तरह भी अपनाना नहीं चाहते। उनकी दृष्टिमें सारी प्रजा—चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, ईसाई, पारसी आदि कोई भी क्यों न हो—समान है और वह सभीके हितके लिये काम करके दुनियामें एक आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं।

परन्तु इस गृह-कलहके,जिसके विष-बीज विदेशियोंने चिरकालसे बो रक्खे हैं, दूर हुए बिना कुछ भी नहीं हो सकता। इसके लिये अन्तरङ्ग शत्रुओंसे युद्ध करके उनका नाश करना होगा। जब तक अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश नहीं होगा तब तक भारतको सच्ची स्वाधीनताकी प्राप्ति नहीं कही जा सकती और न उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति ही हो सकती है। परन्तु इन शत्रुओंका नाश उनके मारनेसे नहीं होगा बल्कि उनकी शत्रुताको मारनेसे होगा, जिसके लिये देशमें परस्पर प्रेम, सद्भाव और विश्वासकी भावनाओंके प्रचारकी और उसके द्वारा विद्वेषके उस विषको निकाल देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है जो अधिकांश व्यक्तियोंकी रगोंमें समाया हुआ है। इसीके लिये नेताओंको जनताका सहयोग वाञ्छनीय है। वे चाहते हैं कि जनता प्रतिहिंसा अथवा बदलेकी भावनासे प्रेरित होकर कोई काम न करे और दंडादिके कानूनको अपने हाथमें न लेवे। उसे आततायियोंसे अपनी जान और मालकी रक्षाका खुला अधिकार प्राप्त है और उस अधिकारको अमलमें लाते हुए, जरूरत पड़ने पर, वह आततायियोंकी जान भी ले सकती है, परन्तु किसी आततायीके अन्याय-अत्याचारका बदला उसकी जातिके निरपराध व्यक्तियों—बालबच्चों तथा स्त्रियों आदिको मारकर चुकाना उन्हें किसी तरह भी सहन नहीं हो सकता। बदलेकी ऐसी कार्रवाइयोंसे शत्रुताकी आग उत्तरोत्तर बढ़ती है, नेताओंका कार्य कठिनसे कठिनतम हो जाता है और कभी शान्ति तथा सुव्यवस्था नहीं हो पाती। बदलेकी ऐसी कार्रवाई करनेवाले एक प्रकारसे अपने ही दूसरे भाइयोंकी हत्या और मुसीबतके कारण बनते हैं।

अतः भारतकी स्वतन्त्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके भविष्यको समुज्वल बनानेके लिये इस समय जनता तथा भारत-हितैषियोंका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने नेताओंको उनके कार्योंमें पूर्ण सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई भी कार्य न करें जिस-

से नेताओंका कार्य कठिन तथा जटिल बने। इसके लिये सबसे बड़ा प्रयत्न देशमें धर्मान्धता अथवा मज़हबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका है। इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश होकर देशमें शान्ति एवं सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतन्त्रता स्थिर रह सकेगी।

देशमें ऐसी सद्भावनाओंको उत्पन्न करने और फैलानेका काम, मेरी रायमें, उन सच्चे साधुओंको अपने हाथमें लेना चाहिये जो सभी सम्प्रदायोंमें थोड़े बहुत रूपमें पाये जाते हैं। उनके ऊपर देशका बहुत बड़ा ऋण है, जिसे उनको इस प्रकारकी सेवाओं-द्वारा अब चुकाना चाहिये। इस समय उनकी सेवाओंकी ख़ास ज़रूरत है, जिससे धर्मान्ध-गुरुओं और बहके हुए स्वार्थपरायण मौलवी-मुल्लाओंके ग़लत प्रचारसे व्याप्त हुए विषको देशकी रगोंसे निकाला जा सके। उन्हें वर्तमानमें आत्म-साधनाको भी गौण करके लोकसेवाके मैदानमें उतर आना चाहिये, महात्मा गांधीकी तरह सच्चे दिलसे निर्भय होकर अपेक्षित सेवाकार्योंमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि देशका वातावरण शान्त हुए बिना वे आत्म-साधना तो क्या, कोई भी धर्मसाधनका कार्य नहीं कर सकेंगे। अपनी सेवाओं-द्वारा वे लोकके धर्मसाधनमें तथा आजकलकी हवामें सच्चे धर्मसे च्युत हुए प्राणियोंको सन्मार्ग दिखानेमें बहुत कुछ सहायक हो सकेंगे। और इसलिये उनका इस समय यह सर्वोपरि कर्तव्य है। यदि ऐसे कर्तव्यपरायण सत्साधुओंकी टोलियोंकी टोलियाँ देशमें घूमने लगें तो देशका दूषित वातावरण शीघ्र ही शुद्ध तथा स्वच्छ हो सकता है। आशा है सत्साधुओंका ध्यान ज़रूर इस ओर जायगा और वे अपने वर्तमान कर्तव्यको समझकर नेताओंको अपना वास्तविक सहयोग प्रदान करनेमें कोई बात उठा नहीं रक्खेंगे।

४०

महावीरका सर्वोदय-तीर्थ

विक्रमकी प्राय: दूसरी शताब्दीके महान् विद्वान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें, जो कि आप्त कहे जानेवाले समस्त तीर्थप्रवर्तकोंकी परीक्षा करके और उस परीक्षा-द्वारा श्री-महावीर-जिनको सत्यार्थ आप्तके रूपमें निश्चित करके तदनन्तर उनकी स्तुतिके रूपमें लिखा गया है, महावीर भगवान्को (मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंका अभाव हो जानेसे) अतुलित-शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिके उदयकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ एवं ब्रह्मपथका नेता लिखा है और इसीलिये उन्हें 'महान्' बतलाया है। साथ ही उनके अनेकान्त-शासन (मत) के विषयमें लिखा है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्त ध्यान) की निष्ठा-तत्परताको लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट सुनिश्चित करनेवाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खंडित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नहीं है। यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये वह अद्वितीय है।' जैसा कि ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाओंसे प्रकट है:—

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाऽव्यतीतां जिन शान्तिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशा: ॥४॥

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं, नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

इनसे अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्वको और उसके द्वारा वीर-जिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीर-जिन-द्वारा इस शासनमें वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोंमें निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको ही सिद्ध करनेमें असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ-पाठकोंके लिये बड़ा ही रोचक और वीरजिनेन्द्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्तव्यापिनी बनानेवाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनों और उनके अवान्तर कितने ही वादोंका सूत्र अथवा संकेतादिके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आगया है। यह विषय ३९ वीं कारिका तक चलता रहा है। इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें ९ वीं शताब्दीके विद्वान् श्रीविद्यानन्दाचार्यने वहाँ तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है :—

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषत.
सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

अर्थात्—यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासनस्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीर-जिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका संक्षेपमें निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।

इसके आगे, ग्रन्थके उत्तरार्धमें, वीरशासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके

मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जातीं, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्दके प्रयोग-अप्रयोगके रहस्यकी बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे महावीरके तत्त्वज्ञान-को समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। महावीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रन्थमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—संसार-समुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी भव्यजीव पार उतर जाते हैं और जो सबोंके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें परम सहायक है। इस विषयकी कारिका निम्न प्रकार है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

इसमें स्वामी समन्तभद्र भगवान महावीरकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि—'(हे भगवन्!) आपका यह तीर्थ-प्रवचनरूप शासन या परमागमवाक्य, जिसके द्वारा दुःखमय संसार-समुद्रको तिरा जाता है—सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध (भाव-अभाव), एक-अनेक (अद्वैत-द्वैत), नित्य-क्षणिक आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है; एकान्ततः किसी एक ही धर्मको अपना विषय किये हुए नहीं है—और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथ-में लिये हुए है—एक धर्म किसी समय मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है; जो गौण है वह निरात्मक नहीं होता और जो मुख्य है उससे व्यवहार चलता है; इसीसे सब धर्म सुव्यवस्थित हैं; उनमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था

ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सब दुःखोंका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है—किसी भी सर्वथैकान्तात्मक मिथ्यादर्शनके द्वारा खंडनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा 'सर्वोदयतीर्थ' है—जो शासन सर्वथा एकान्तपक्षको लिये हुए हैं उनमेंसे कोई भी सर्वोदयतीर्थ' पदके योग्य नहीं हो सकता।'

यहाँ 'सर्वोदयतीर्थ' यह पद सर्व, उदय और तीर्थ इन तीन शब्दोंसे मिलकर बना है। 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्णका वाचक है; 'उदय' ऊँचे-ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकासको कहते हैं; और 'तीर्थ' उसका नाम है जिसके निमित्तसे संसारमहासागरको तिरा जाय[1]। वह तीर्थ वास्तवमें धर्मतीर्थ है जिसका सम्बन्ध जीवात्मासे है, उसकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत जो आगम अथवा आप्तवाक्य है वही यहाँ 'तीर्थ' शब्दके द्वारा परिगृहीत है। और इसलिये इन तीनों शब्दोंके सामासिक योगसे बने हुए 'सर्वोदयतीर्थ' पदका फलितार्थ यह है कि—जो आगमवाक्य जीवात्माके पूर्ण उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें तथा सब जीवोंके उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें सहायक है वह 'सर्वोदयतीर्थ' है। आत्माका उदय-उत्कर्ष अथवा विकास उसके ज्ञान-दर्शन-सुखादिक स्वाभाविक गुणोंका ही उदय उत्कर्ष अथवा विकास है। और गुणोंका वह उदय-उत्कर्ष अथवा विकास दोषोंके अस्त-अपकर्ष अथवा विनाशके बिना नहीं होता। अतः सर्वोदयतीर्थ जहाँ ज्ञानादि गुणोंके विकासमें सहायक है वहाँ अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारण ज्ञानावरणादिक कर्मोंके विनाशमें भी सहायक है—वह उन सब रुकावटोंको दूर करनेकी व्यवस्था करता है जो किसीके विकासमें बाधा डालती हैं। यह

---

१. 'तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति' —विद्यानन्दः

तीर्थको सर्वोदयका निमित्त कारण बतलाया गया है। तब उसका उपादान कारण कौन है? उपादान कारण वे सम्यग्दर्शनादि आत्म-गुण ही हैं जो तीर्थका निमित्त पाकर मिथ्यादर्शनादिके दूर होने पर स्वयं विकासको प्राप्त होते हैं। इस दृष्टिसे 'सर्वोदयतीर्थ' पदका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है और वह यह कि 'समस्त अभ्युदय-कारणोंका—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप त्रिरत्न-धर्मों-का-जो हेतु है-उनकी उत्पत्ति अभिवृद्धि आदिमें (सहायक) निमित्त-कारण है— वह 'सर्वोदयतीर्थ' है[1]। इस दृष्टिसे ही, कारणमें कार्य-का उपचार करके इस तीर्थको धर्मतीर्थ कहा जाता है और इसी दृष्टिसे वीरजिनेन्द्रको धर्मतीर्थका कर्ता (प्रवर्तक) लिखा है; जैसा कि ९वीं शताब्दीकी बनी हुई 'जयधवला' नामकी सिद्धान्तटीकामें उद्धृत निम्न प्राचीन गाथासे प्रकट है—

णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ॥

इस गाथामें वीर-जिनको जो 'निःसंशयकर'— संसारी प्राणियोंके सन्देहोंको दूरकर उन्हें सन्देहरहित करनेवाला—'महावीर'—ज्ञान-वचनादिकी सातिशय-शक्तिसे सम्पन्न—'जिनोत्तम'— जितेन्द्रियों तथा कर्मजेताओंमें श्रेष्ठ - और 'रागद्वेष-भयसे-रहित' बतलाया है वह उनके धर्मतीर्थ-प्रवर्तक होनेके उपयुक्त ही है। बिना ऐसे गुणोंकी सम्पत्तिसे युक्त हुए कोई सच्चे धर्मतीर्थका प्रवर्तक हो ही नहीं सकता। यही वजह है कि जो ज्ञानादिशक्तियोंसे हीन होकर राग-द्वेषादिसे अभिभूत एवं आकुलित रहे है उनके द्वारा सर्वथा एकान्त-शासनों—मिथ्यादर्शनोंका ही प्रणयन हुआ है, जो जगतमें अनेक भूल-भ्रान्तियों एवं दृष्टिविकारोको जन्म देकर दुःखोंके जालको विस्तृत

---

१. 'सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदानां हेतु-त्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः।' —विद्यानन्दः

करनेमें ही प्रधान कारण बने हैं। सर्वथा एकान्तशासन किस प्रकार दोषोंसे परिपूर्ण हैं और वे कैसे दुःखोंके विस्तारमें कारण बने हैं इस विषयकी चर्चाका यहाँ अवसर नहीं है। इसके लिये स्वामी समन्तभद्रके देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र जैसे ग्रन्थों तथा अष्ट-सहस्री जैसी टीकाओंको और सिद्धसेन, अकलंकदेव, विद्यानन्द आदि महान् आचार्योंके तर्कप्रधान ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जो तीर्थ—शासन—सर्वान्तवान् नहीं—सर्वधर्मोंको लिये हुए और उनका समन्वय अपनेमें किये हुए नहीं है—वह सबका उदयकारक अथवा पूर्ण-उदयविधायक हो ही नहीं सकता और न सबके सब दुःखोंका अन्त करनेवाला ही बन सकता है; क्योंकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है—अनेकानेकगुणों-धर्मोंको लिये हुए है। जो लोग उसके किसी एक ही गुण-धर्म पर दृष्टि डालकर उसे उसी एक रूपमें देखते और प्रतिपादन करते हैं उनकी दृष्टियाँ उन जन्मान्ध पुरुषोंकी दृष्टियोंके समान एकांगी हैं जो हाथीके एक-एक अंगको पकड़कर—देखकर उसी एक-एक अंगके रूपमें हाथीका प्रतिपादन करते थे, और इस तरह परस्परमें लड़ते, झगड़ते, कलहका बीज बोते और एक दूसरेके दुःखका कारण बने हुए थे। उन्हें हाथीके सब अंगों पर दृष्टि रखनेवाले सुनेत्र पुरुषने उनकी भूल सुझाई थी और यह कहते हुए उनका विरोध मिटाया था कि 'तुमने हाथीके एक-एक अंगको ले रक्खा है, तुम सब मिल जाओ तो हाथी बन जाय—तुम्हारे अलग-अलग कथनके अनुरूप हाथी कोई चीज़ नहीं है।' और इसलिये जो वस्तुके सब अंगों पर दृष्टि डालता है—उसे सब ओरसे देखता और उसके सब गुण-धर्मोंको पहचानता है—वह वस्तुको पूर्ण तथा यथार्थ रूपमें देखता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है और यह अनेकान्तदृष्टि ही सती अथवा सम्यग्दृष्टि कहलाती है और यही संसारमें वैर-विरोध-

को मिटाकर सुख-शान्तिकी स्थापना करनेमें समर्थ है। इसीसे श्री-अमृतचंद्राचार्यने पुरुषार्थसिद्धयुपायमें अनेकान्तको विरोधका मथन करनेवाला कहकर उसे नमस्कार किया है[1]। और श्रीसिद्धसेनाचार्य-ने 'सम्मइसुत्त'में यह बतलाते हुए कि अनेकान्तके बिना लोकका कोई भी व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता, उसे लोकका अद्वितीय गुरु कहकर नमस्कार किया है[2]।

सिद्धसेनका यह कहना कि 'अनेकान्त' के बिना लोकका व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता सोलहों आने सत्य है। सर्वथा एकान्तवा-दियों के सामने भी लोक-व्यवहारके बन न सकनेकी यह समस्या रही है और उसे हल करने तथा लोक-व्यवहारको बनाये रखनेके लिये उन्हें माया, अविद्या, संवृति जैसी कुछ दूसरी कल्पनायें करनी पड़ी हैं अथवा यों कहिये कि अपने सर्वथा एकान्तसिद्धान्तके छप्परको सम्भालनेके लिये उसके नीचे तरह-तरहकी टेवकियाँ (थूनियाँ) लगानी पड़ीं हैं; परन्तु फिर भी वे उसे सम्भाल नहीं सके और न अपने सर्वथा-एकान्त सिद्धान्तको किसी दूसरी तरह प्रतिष्ठित करने-में ही समर्थ हो सके हैं। उदाहरणके लिये अद्वैत एकान्तवादको लीजिये, ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्मके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थका अस्तित्व नहीं मानते—सर्वथा अभेदवादका ही प्रतिपादन करते हैं—उनके सामने जब साक्षात् दिखाई देनेवाले पदार्थ-भेदों, कारक-क्रिया-भेदों तथा विभिन्न लोक-व्यवहारोंकी बात आई तो उन्होंने कह दिया कि ये सब मायाजन्य हैं अर्थात् मायाकी कल्पना करके प्रत्यक्षमें दिखाई पड़नेवाले सब भेदों तथा लोक-व्यवहारोंका भार

---

१. परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम्।
सकल-नय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

२. जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥६९॥

उसके ऊपर रख दिया। परन्तु यह माया क्या बला है और वह सत्‌रूप है या असत्‌रूप, इसको स्पष्ट करके नहीं बतलाया गया। माया यदि असत् है तो वह कोई वस्तु न होनेसे किसी भी कार्यके करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। और यदि सत् है तो वह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है? यह प्रश्न खड़ा होता है। अभिन्न होनेकी हालतमें ब्रह्म भी मायारूप मिथ्या ठहरता है और भिन्न होने पर माया और ब्रह्म दो जुदी वस्तुएँ होनेसे द्वैतापत्ति होकर सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त बाधित हो जाता है। यदि हेतुसे अद्वैतको सिद्ध किया जाता है तो हेतु और साध्यके दो होनेसे भी द्वैतापत्ति होती है और हेतुके बिना वचनमात्रसे सिद्धि मानने पर उस वचनसे भी द्वैतापत्ति हो जाती है। इसके सिवाय, द्वैतके बिना अद्वैत कहना बनता ही नहीं, जैसे कि हेतुके बिना अहेतुका और हिंसाके बिना अहिंसाका प्रयोग नहीं बनता। अद्वैतमें द्वैतका निषेध है, यदि द्वैत नामकी कोई वस्तु नहीं तो उसका निषेध भी नहीं बनता, द्वैतका निषेध होनेसे उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस तरह सर्वथा अद्वैतवादकी मान्यताका विधान सिद्धान्त-बाधित ठहरता है, वह अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमें स्वयं असमर्थ है और उसके आधार पर कोई लोकव्यवहार सुघटित नहीं हो सकता। दूसरे सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादि सर्वथा एकान्त-वादोंकी भी ऐसी ही स्थिति है, वे भी अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमें असमर्थ हैं और उनके द्वारा भी अपने स्वरूपको बाधा पहुँचाये बिना लोक-व्यवहारकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।

श्रीसिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रमें कपिलके सांख्यदर्शनको द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य, शुद्धोधनपुत्र बुद्धके बौद्धदर्शनको परिशुद्ध पर्यायार्थिक नयका विकल्प और उलूक (कणाद) के वैशेषिकदर्शनको उक्त दोनों नयोंका वक्तव्य होते पर भी पारस्परिक निरपेक्षताके कारण 'मिथ्यात्व' बतलाया है और उसके अनन्तर लिखा है:—

जे संतवाय-दोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं ।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥५०॥
ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति ।
जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि ण पूरेंति पाडिक्कं ॥५१॥

'सांख्योंके सद्वादपक्षमें बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशेषिकोंके असद्वादपक्षमें सांख्यजन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं—सर्वथा एकान्तवादमें वैसे दोष आते ही हैं। ये दोनों सद्वाद और असद्वाद दृष्टियाँ यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित हो जाँय - समन्वयपूर्वक अनेकान्तदृष्टिमें परिणत हो जाँय - तो सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनता है; क्योंकि ये सत्-असत् रूप दोनों दृष्टियाँ अलग-अलग संसारके दुःखोंसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ नहीं हैं—दोनोंके सापेक्ष संयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर संसारके दुःखोंसे मुक्ति एवं शान्ति मिल सकती है।'

इस सब कथन परसे मिथ्यादर्शनों और सम्यग्दर्शनोंका तत्त्व सहज ही समझमें आ जाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमें परिणत हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन अथवा जैनेतरदर्शन जब तक अपने-अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें एकान्तताको अपनाकर पर-विरोधका लक्ष्य रखते हैं तब तक सम्यग्दर्शनमें परिणत नहीं होते, और जब पर-विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वयकी दृष्टिको अपनाते हैं तभी सम्यग्दर्शनमें परिणत हो जाते हैं, और 'जैनदर्शन' कहलानेके योग्य होते हैं। जैनदर्शन अपने अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-न्यायके द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है न कि विरोध, और इसलिये सभी मिथ्यादर्शन अपने-अपने विरोधको भुलाकर उसमें समा जाते हैं। इसीसे सन्मतिसूत्रकी अंतिम गाथामें जिनवचन-रूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मंगलकामना करते हुए उसे 'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय' बतलाया है, जो इस प्रकार है—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग-सुहाहिगम्मस्स ॥७०॥

इसमें जिनवचनरूप जैनदर्शन (जिनशासन) के तीन खास विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण 'मिथ्यादर्शन-समूहमय', दूसरा 'अमृतसार' और तीसरा 'संविग्नसुखाधिगम्य' है। मिथ्यादर्शनोंका समूह होते हुए भी वह मिथ्यास्वरूप नहीं है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्षनय-वादमें सन्निहित है—सापेक्षनय मिथ्या नहीं होते, निरपेक्षनय ही मिथ्या होते हैं; जैसा कि स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत देवागमके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

मिथ्या-समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

महावीरजिनके सर्वधर्मसमन्वयकारक उदार शासनमें सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादिरूप वे सब नय-धर्म जो निरपेक्षरूपमे अलग-अलग रहकर अतत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-घातक होते हैं वे ही सब सापेक्ष (अविरोध) रूपमें मिलकर तत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-उपकारी बने हुए हैं[1]। तथा आश्रय पाकर बन जाते हैं और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासन-की उक्त (६१ वीं) कारिकामें वीरशासनको जो सर्वधर्मवान् , सर्वदुःख प्रणाशक और सर्वोदयतीर्थ बतलाया है वह बिल्कुल ठीक तथा उस-की प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। महावीरका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों (परस्पर निरपेक्षनयों) अथवा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्त

---

१. "य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः । त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्व-परोप-कारिणः ॥" - स्वयम्भूस्तोत्र

वादरूप मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं। अतः जो लोग भगवान-महावीरके शासनका—उनके धर्मतीर्थका—सचमुच आश्रय लेते हैं—उसे ठीक तौर पर अथवा पूर्णतया अपनाते है—उनके मिथ्या-दर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख यथासाध्य मिट जाते हैं। और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय—उत्कर्ष एवं विकास तक सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

महावीरकी ओरसे इस धर्मतीर्थका द्वार सबके लिये खुला हुआ है, जिसकी सूचक अगणित कथाएँ जैनशास्त्रोंमें पाई जाती हैं और जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पतितसे-पतित प्राणियोंने भी इस धर्मका आश्रय लेकर अपना उद्धार और कल्याण किया है; उन सब कथाओंको छोड़ कर यहाँ पर जैनग्रन्थोके सिर्फ कुछ विधि-वाक्योंको ही प्रकट किया जाता है जिससे उन लोगोंका समाधान हो जो इस तीर्थको केवल अपना ही साम्प्रदायिक तीर्थ और एकमात्र अपने ही लिये अवतरित हुआ समझ बैठे हैं तथा दूसरोंके लिये इस तीर्थसे लाभ उठानेमें अनेक प्रकारसे बाधक बने हुए हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

(१) मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः।—यशस्तिलक

(२) उच्चाऽवच-जनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥" —यशस्तिलक

(३) आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति
शूद्रानपि देव-द्विजाति-तपस्वि-परिकर्मसु योग्यान्।
—नीतिवाक्यामृत

(४) शूद्रोऽप्युपस्कराऽऽचार-वपुःशुद्धयाऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक्॥
—सागारधर्मामृत

(५) एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ।

सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ।।६७।।

—सावयधम्मदोहा

इन सब वाक्योंका आशय क्रमसे इस प्रकार है :—

(१) 'मन, वचन तथा कायसे किये जानेवाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।' (यशस्तिलक)

(२) 'जिनेन्द्रका यह धर्म प्रायः ऊँच और नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित है। एक स्तम्भके आधार पर जैसे मन्दिर-मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊँच-नीचमेंसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्य-समूहके आधार पर धर्म ठहरा हुआ नहीं है—वास्तवमें धर्म धार्मिकोंके आश्रित होता है, भले ही उनमें ज्ञान, धन, मान-प्रतिष्ठा, कुल-जाति, आज्ञा-ऐश्वर्य शरीर, बल, उत्पत्तिस्थान और आचार-विचारादिकी दृष्टिसे कोई ऊँचा और कोई नीचा हो।' (यशस्तिलक)

(३) मद्य-मांसादिके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृहपात्रादिकी पवित्रता और नित्यस्नानादिके द्वारा शरीरकी शुद्धि, ये तीनों प्रवृत्तियाँ (विधियाँ) शूद्रोंको भी देव, द्विजाति और तपस्वियों (मुनियों) के परिकर्मोंके योग्य बनाती हैं।' (नीतिवाक्यामृत)

(४) 'आसन और बर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्यमांसादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य-स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके समान धर्मका पालन करनेके योग्य है; क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर धर्मका अधिकारी होता है।' (सागारधर्मामृत)

(५) 'इस (श्रावक) धर्मका जो कोई भी आचरण—पालन करता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वह श्रावक है। श्रावकके सिर पर और क्या कोई मणि होता है? जिससे उसकी पहचान की जा सके।' (सावयधम्मदोहा)

नीच-से-नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी जो इस धर्मप्रवर्तककी

शरणमें आकर नतमस्तक हो जाता है—प्रसन्नतापूर्वक उसके द्वारा प्रवर्तित धर्मको धारण करता है—वह इसी लोकमें अति उच्च बन जाता है। इस धर्मकी दृष्टिमें कोई जाति गर्हित नहीं—तिरस्कार किये जानेके योग्य नहीं—सर्वत्र गुणोंकी पूज्यता है, वे ही कल्याण-कारी हैं, और इसीसे इस धर्ममें एक चाण्डालको भी व्रतसे युक्त होने पर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शनसे युक्त होने पर 'देव' (आराध्य) माना गया है और चाण्डालको किसी साधारण धर्म क्रियाका ही नहीं किन्तु 'उत्तमधर्म' का अधिकारी सूचित किया है; जैसा कि निम्न आर्ष वाक्योंसे प्रकट है :—

यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः ।
बालोऽपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरः कुतः ॥ स्तुतिविद्या ८३ ॥

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ पद्मचरित ११-२०३ ॥

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ रत्नकरण्ड २८ ॥

चाण्डालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि । (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

वीरका यह धर्मतीर्थ इन ब्राह्मणादि जाति-भेदोंको तथा दूसरे चांडालादि विशेषोंको वास्तविक नही मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचार-भेदके आधार पर कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है। साथ ही यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणोंकी उत्पत्ति पर जाति उत्पन्न होती है, उनके नाश पर नष्ट हो जाती है और वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मोंके आधार पर है न कि जन्मके। यथा :—

चातुर्वर्ण्यं *यथाऽन्यच्च* चाण्डालादिविशेषणम् ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ॥ पद्मचरित ११-२०५ ॥

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् ।
न जातिर्ब्राह्मणीयाऽस्ति नियता काऽपि तात्त्विकी ॥१७-२४॥
गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ॥ धर्मपरीक्षा १७-३२ ॥

तस्माद्गुणैर्वर्ण-व्यवस्थितिः ॥ पद्मचरित ११-१६८ ॥

क्रियाविशेषादिनिबन्धन एव ब्राह्मणादिव्यवहारः॥(प्रमेयकमलमार्तण्ड)

इस धर्ममें यह भी बतलाया गया है कि इन ब्राह्मणादि जातियोंका आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य-शरीरमें नहीं पाया जाता; प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिमें गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जाति-भेदके विरुद्ध है। इसी तरह जारजका भी कोई चिन्ह शरीरमें नहीं होता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय; और न केवल व्यभिचारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस तीर्थ-धर्ममें 'अनार्य आचरण' अथवा 'म्लेच्छाचार' माना गया है। इन दोनों बातोंके निर्देशक दो वाक्य इस प्रकार हैं:—

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥
नास्ति जाति-कृतो भेदो मनुष्याणां गवाऽश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते॥ (महापुराण)
चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाऽङ्गेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः ॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्यः

वस्तुतः सब मनुष्योंकी एक ही मनुष्यजाति इस धर्मको अभीष्ट है, जो 'मनुष्यजाति' नामक नामकर्मके उदयसे होती है, और इसी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—आपसमें भाई-भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा अधिकार प्राप्त है। जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥३८-४५॥

—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ —धर्मरसिक

इसके सिवाय, किसीके कुलमें कभी कोई दोष लग गया हो तो उसकी शुद्धि की, और म्लेच्छों तककी कुलशुद्धि करके उन्हें अपनेमें मिलाने तथा मुनिदीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी इस धर्मशासनमें पाई जाती हैं* । और इसलिये यह शासन

---

* जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

१. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्त-दूषणम् ।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥ ४०-१६८॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्र-पौत्रादि-सन्ततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥४०-१६९॥

२. स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजा-बाधा-विधायिनः ।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥४२-१७९॥
—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

३. "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाऽऽशंकितव्यं । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखंडमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयम-प्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ-व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥"
——लब्धिसारटीका (गाथा १९३ वीं)

नोट—यहाँ म्लेच्छोंकी दीक्षा-योग्यता, सकलसंयमग्रहणकी पात्रता और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध आदिका जो विधान किया है वह सब कसायपाहुडकी 'जयधवला' टीकामे भी, जो लब्धिसारटीकासे कईसौ वर्ष पहलेकी (९वीं शताब्दीकी) रचना है, इसी क्रमसे प्राकृत और संस्कृत भाषामें दिया है । जैसा कि उसके निम्न शब्दोंसेप्रकट है:—

सचमुच ही 'सर्वोदयतीर्थ' के पदको प्राप्त है—इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएँ मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसारसमुद्रसे पार उतर सकता है।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने—जिनके हाथों दैवयोगसे यह तीर्थ पड़ा है—इस महान् तीर्थकी महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है, इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदयतीर्थका-सा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमें ताला डाल दिया है। हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरोंको लाभ उठाने देते हैं—मात्र अपने थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीड़ाके स्थल रूपमें ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदयतीर्थ' पर दिन-रात उपासकोंकी भीड़ और यात्रियोंका मेला-सा लगा रहना चाहिये था वहाँ आज सन्नाटासा छाया हुआ है, जैनियोंकी संख्या भी अंगुलियोंपर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं उनमें भी जैनत्वका प्रायः कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता—कहीं भी दया, दम, त्याग और समाधिकी तत्परता नजर नहीं आती—लोगोंको महावीरके सन्देशकी ही खबर नहीं, और इसीसे संसारमें सर्वत्र दुःख ही दुःख फैला हुआ है।

ऐसी हालतमें अब खास जरूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया

"जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो त्ति णासंकणिज्जं। दिसाविजयपयट्टचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहि सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो। अथवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति।"

जाय, इसकी सब रुकावटोंको दूर किया जाय, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोंके लिये हर वक्त खुला रहे, सभीके लिये इस तीर्थ तक पहुँचनेका मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटों तथा घाटोंकी मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहारमें न आनेके कारण तीर्थजल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमें कहीं-कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकालकर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके माहात्म्यका पूरा-पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होने पर अथवा इस रूपमें इस तीर्थका उद्धार किया जाने पर आप देखेंगे कि देश देशान्तरके कितने बेशुमार यात्रियोंकी इस पर भीड़ रहती है, कितने विद्वान् इस पर मुग्ध होते हैं, कितने असंख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दुःख-संतापोंसे छुटकारा पाते हैं और संसारमें कैसी सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमें, जिसे आज १८०० वर्षके लगभग हो गये हैं, ऐसा ही किया है; और इसीसे कनड़ी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख[1] में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भगवान् महावीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होंने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरोंमें व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान् महावीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

---

१ यह शिलालेख बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नम्बर १७ है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक सम्वत् १०५९ का लिखा हुआ है। देखो, एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पाँचवीं; 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ ४६ अथवा समीचीन-धर्मशास्त्रकी प्रस्तावना पृष्ठ ११३।

महावीरके इस अनेकान्त-शासन-रूप तीर्थमें यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति-चक्षुसे (मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र या मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्र-रूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यों कहिये कि भगवान् महावीरके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बातको स्वामी समन्तभद्रने अपने निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥

—युक्त्यनुशासन

अतः इस तीर्थके प्रचार-विषयमें ज़रा भी संकोचकी ज़रूरत नहीं है, पूर्ण उदारताके साथ इसका उपर्युक्त रीतिसे योग्य-प्रचार-कोंके द्वारा खुला प्रचार होना चाहिये और सबोंको इस तीर्थकी परीक्षाका तथा इसके गुणोंको मालूम करके इससे यथेष्ट लाभ उठाने का पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। योग्य प्रचारकोंका यह काम है कि वे जैसे-तैसे जनतामें मध्यस्थभावको जाग्रत करें, ईर्षा-द्वेषादिरूप मत्सर-भावको हटाएँ, हृदयोंको युक्तियोंसे संस्कारित कर उदार बनाएँ, उनमें सत्यकी जिज्ञासा उत्पन्न करें और उस सत्यकी दर्शन-प्राप्तिके लिये लोगोंकी समाधान-दृष्टिको खोलें।

४१

सर्वोदयके मूलसूत्र

भगवान् महावीरके तीर्थ-शासनमें सर्वोदयके जिन मूल-सूत्रोंका प्रतिपादन हुआ है वे संक्षेपमें इस प्रकार हैं:—

१. सब जीव द्रव्य-दृष्टिसे परस्पर समान हैं।

२. सब जीवोंका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है।

३ प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार अथवा पिंड है।

४. अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल-प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस और उत्त-रोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं।

५. इस कर्ममलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकार-की पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं।

६. अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणि-वर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है।

७. कर्ममलके भेदसे ही यह सब जीव-जगत भेदरूप है।

८. जीवकी इस कर्ममलसे मलिनावस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं।

९. जब तक किसी जीवकी यह विभावपरिणति बनी रहती है तब तक वह 'संसारी' कहलाता है। और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा

दुःख उठाना होता है।

१०. जब योग्य-साधनोंके बल पर विभावपरिणति मिट जाती है, आत्मामें कर्ममलका सम्बन्ध नहीं रहता और उसका निज-स्वभाव पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है।

११. आत्माकी पूर्णविकसित एवं परम-विशुद्ध अवस्थाके अतिरिक्त परमात्मा या ईश्वर नामकी कोई जुदी वस्तु नहीं है।

१२. परमात्माकी दो अवस्थाएँ हैं, एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त।

१३. जीवन्मुक्तावस्थामें शरीरका सम्बन्ध शेष रहता है, जब कि विदेह-मुक्तावस्थामें किसी भी प्रकारके शरीरका सम्बन्ध अवशिष्ट नहीं रहता।

१४. संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये मुख्य दो भेद हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद अनेकानेक हैं।

१५. एकमात्र स्पर्शन इन्द्रियके धारक जीव 'स्थावर' और रसनादि इन्द्रियों तथा मनके धारक जीव 'त्रस' कहलाते हैं।

१६. जीवोंके संसारी मुक्तादि ये सब भेद पर्यायदृष्टिसे हैं। इसी दृष्टिसे उन्हें अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्णविकसित ऐसे चार भागोंमें भी बांटा जा सकता है।

१७. जो जीव अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्म-गुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

१८. संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर-होने-रूप 'सिद्धि'को प्राप्त करनेका यत्न करें।

१९. सिद्धि 'स्वात्मोपलब्धि' को कहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये

आत्मगुणोंका परिचय, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये।

२०. इसके लिये, अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें या पूर्णरूपसे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम-मार्ग है।

२१. शरणमें जानेका आशय उपासना-द्वारा उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना, उन्हें अपना मार्गप्रदर्शक मानकर उनके पद-चिन्होंपर चलना और उनकी शिक्षाओंपर अमल करना है।

२२. सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्तियोग' है।

२३ शुद्धात्माओंके गुणोंमें अनुरागको तदनुकूलवर्तनको तथा उनमें गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप-प्रवृत्तिको 'भक्ति' कहते हैं।

२४. पुण्यगुणोंके स्मरणसे आत्मामें पवित्रताका संचार होता है।

२५. सद्भक्तिसे प्रशस्त अध्यवसाय एवं कुशल-परिणामोंकी उपलब्धि और गुणावरोधक संचित-कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्माका विकास सधता है।

२६. सच्ची उपासनासे उपासक उसी प्रकार उपास्यके समान हो जाता है जिस प्रकार कि तैलादिसे सुसज्जित बत्ती पूर्ण-तन्मयताके साथ दीपकका आलिंगन करने पर तद्रूप हो जाती है।

२७. जो भक्ति लौकिक लाभ, यश, पूजा-प्रतिष्ठा, भय तथा रूढि आदिके वश की जाती है वह सद्भक्ति नहीं होती और न उससे आत्मीय-गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है।

२८. सर्वत्र लक्ष्य-शुद्धि एव भावशुद्धि पर दृष्टि रखनेकी जरूरत है, जिसका संबंध विवेकसे है।

२९. बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथार्थ फलको नहीं फलती और न बिना विवेककी भक्ति ही सद्भक्ति कहलाती है।

३०. जब तक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकासकी भूमिका ही तैयार नहीं होती।

३१. भक्तियोगसे अहंकार मरता है, इसीसे विकास-मार्गमें उसे पहला स्थान प्राप्त है।

३२. बिना भावके पूजा-दान-जपादिक उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार कि बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तन।

३३. जीवात्माओंके विकासमें सबसे बड़ा बाधक कारण मोहकर्म है, जो अनन्तदोषोंका घर है।

३४. मोहके मुख्य दो भेद हैं-एक दर्शनमोह, जिसे मिथ्यात्व भी कहते हैं; दूसरा चारित्रमोह, जो सदाचारमें प्रवृत्ति नहीं होने देता।

३५. दर्शनमोह जीवकी दृष्टिमें विकार उत्पन्न करता है, जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ अवलोकन न होकर अन्यथा रूपमें होता है और इसीसे वह 'मिथ्यात्व' कहलाता है।

३६. दृष्टिविकार तथा उसके कारणको मिटानेके लिये आत्मामें तत्त्व-रुचिको जागृत करनेकी ज़रूरत है।

३७. तत्त्वरुचिको उस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा जागृत किया जाता है जो संसारी जीवात्माको तत्त्व-अतत्त्वकी पहचानके साथ अपने शुद्धस्वरूपका, पररूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकार-दोषका अथवा विभावपरिणतिका, विकारके विशिष्ट-कारणोंका और उन्हें दूर करके निर्विकार-निर्दोष बनने, बन्धन-रहित मुक्त होने तथा अपने निज स्वरूपमें सुस्थित होनेका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूर कर आत्म-विकासके सम्मुख किया जाता है।

३८. ऐसे ज्ञानाभ्यासको ही 'ज्ञानयोग' कहते हैं।

३९. वस्तुका जो निज स्वभाव है वही उसका धर्म है।

४०. प्रत्येक वस्तुमें अनेकानेक धर्म होते हैं, जो पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए अविरोध-रूपसे रहते हैं और इसीसे वस्तुका

वस्तुत्व बना रहता है।

४१. वस्तुके किसी एक धर्मको निरपेक्षरूपसे लेकर उसी एक धर्मरूप जो वस्तुको समझना तथा प्रतिपादन करना है वह एकान्त अथवा एकान्तवाद है। इसीको निरपेक्ष-नयवाद भी कहते हैं।

४२, अनेकान्तवाद इसके विपरीत है। वह वस्तुके किसी एक धर्मका प्रतिपादन करता हुआ भी दूसरे धर्मोंको छोड़ता नहीं, सदा सापेक्ष रहता है;इसीसे उसे 'स्याद्वाद' या 'सापेक्षनयवाद'भी कहते हैं।

४३. जो निरपेक्षनयवाद हैं वे सब मिथ्यादर्शन हैं और जो सापेक्षनयवाद हैं वे सब सम्यग्दर्शन हैं।

४४. निरपेक्षनय परके विरोधकी दृष्टिको अपनाये हुए स्व-पर-वैरी होते हैं, इसीसे जगतमें अशान्तिके कारण हैं।

४५. सापेक्षनय परके विरोधको न अपनाकर समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए स्व-पर-उपकारी होते हैं, इसीसे जगतमें शान्ति-सुखके कारण है।

४६. दृष्ट और इष्टका विरोधी न होनेके कारण स्याद्वाद निर्दोषवाद है,जब कि एकान्तवाद दोनोंके विरोधको लिये हुए होनेसे निर्दोषवाद नहीं है।

४७. 'स्यात्' शब्द सर्वथाके नियमका त्यागी यथादृष्टको अपेक्षामें रखनेवाला, विरोधी धर्मका गौणरूपसे द्योतनकर्ता और परस्पर-प्रतियोगी वस्तुके अंगरूप धर्मोंकी संधिका विधाता है।

४८. जो प्रतियोगीसे सर्वथा रहित है वह आत्महीन होता है और अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता।

४९. इस तरह सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, शुभ-अशुभ,लोक-परलोक, बन्ध-मोक्ष, द्रव्य-पर्याय, सामान्य-विशेष, विद्या-अविद्या, गुण-दोष अथवा विधि-निषेधादिके रूपमें जो असंख्य-अनन्त जोड़े हैं उनमेंसे किसी भी जोड़ेके एक साथीके बिना दूसरेका अस्तित्व नहीं बन सकता।

५०. एक धर्मीमें प्रतियोगी धर्म परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए रहते हैं, सर्वथा रूपसे किसी एककी कभी व्यवस्था नहीं बन सकती।

५१. विधि-निषेधादिरूप सप्त भंग सम्पूर्णतत्त्वार्थपर्यायोंमें घटित होते हैं और 'स्यात्' शब्द उनका नेतृत्व करता है।

५२. सारे ही नय-पक्ष सर्वथारूपमें अति दूषित हैं और स्यात्-रूपमें पुष्टिको प्राप्त हैं।

५३. जो स्याद्वादी हैं वे ही सुवादी हैं, अन्य सब कुवादी हैं।

५४. जो किसी अपेक्षा अथवा नयविवक्षाको लेकर वस्तुतत्त्वका कथन करते हैं वे 'स्याद्वादी' हैं, भले ही 'स्यात्' शब्दका प्रयोग साथमें न करते हों।

५५. कुशलाऽकुशल-कर्मादिक तथा बन्ध-मोक्षादिककी सारी व्यवस्था स्याद्वादियों अथवा अनेकान्तियोंके यहाँ ही बनती है।

५६. सारा वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है।

५७. जो अनेकान्तात्मक है वह अभेद-भेदात्मकको तरह तदतत्-स्वभावको लिये होता है।

५८. तदतत्स्वभावमें एक धर्म दूसरे धर्मसे स्वतन्त्र न होकर उसकी अपेक्षाको लिये रहता है और मुख्य-गौणकी विवक्षासे उसकी व्यवस्था उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि मथानीकी रस्सीके दोनों सिरोंकी।

५९. विवक्षित 'मुख्य' और अविवक्षित 'गौण' होता है।

६०. मुख्यके बिना गौण तथा गौणके बिना मुख्य नहीं बनता। जो गौण होता है वह अभावरूप निरात्मक नहीं होता।

६१. वही तत्त्व प्रमाण-सिद्ध है जो तदतत्स्वभावको लिए हुए एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है।

६२. वस्तुके जो अंश (धर्म) परस्पर निरपेक्ष हों वे पुरुषार्थके हेतु अथवा अर्थ-क्रिया करनेमें समर्थ नहीं होते।

६३. जो द्रव्य है वह सत्स्वरूप है।

६४. जो सत् है वह प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है।

६५. उत्पाद तथा व्यय पर्यायमें होते हैं और ध्रौव्य गुणमें रहता है, इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् भी कहा गया है।

६६. जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता।

६७. जो सर्वथा असत् है उसका कभी उत्पाद नहीं होता।

६८. द्रव्यसे तथा सामान्यरूपसे कोई उत्पन्न या विनष्ट नहीं होता; क्योंकि द्रव्य सब पर्यायोंमें और सामान्य सब विशेषोंमें रहता है।

६९. विविध पर्यायें द्रव्यनिष्ठ एवं विविध विशेष सामान्यनिष्ठ होते हैं।

७०. सर्वथा द्रव्यकी तथा सर्वथा पर्यायकी कोई व्यवस्था नहीं बनती और न सर्वथा पृथग्भूत द्रव्य-पर्यायकी युगपत् ही कोई व्यवस्था बनती है।

७१. सर्वथा नित्यमें उत्पाद और विनाश नहीं बनते, विकार तथा क्रिया-कारककी योजना भी नहीं बन सकती।

७२. विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं, सर्वथा नहीं।

७३. विधि-निषेधमें विवक्षासे मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है।

७४. वस्तुके किसी एक धर्मकी प्रधानता प्राप्त होने परशेष धर्म गौण हो जाते हैं।

७५. वस्तु वास्तवमें विधि-निषेधादि-रूप दो-दो अवधियोंसे ही कार्यकारी होती है।

७६. बाह्य और आभ्यन्तर अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके मिलनेसे ही कार्यकी निष्पत्ति होती है।

७७. जो सत्य है वह सब अनेकान्तात्मक है, अनेकान्तके बिना सत्यकी कोई स्थिति ही नहीं।

७८. जो अनेकान्तको नहीं जानता वह सत्यको नहीं पहचानता, भले ही सत्यके कितने ही गीत गाया करे।

७९. अनेकान्त परमागमका बीज अथवा जैनागमका प्राण है।

८०. जो सर्वथा एकान्त है वह परमार्थ-शून्य है।

८१. जो दृष्टि अनेकान्तात्मक है वह 'सम्यग्दृष्टि' है।

८२. जो दृष्टि अनेकान्तसे रहित है वह 'मिथ्यादृष्टि' है।

८३. जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह 'मिथ्यावचन' है।

८४. सिद्धि अनेकान्तसे होती है, न कि सर्वथा एकान्तसे।

८५. सर्वथा एकान्त अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करनेमें भी समर्थ नहीं होता।

८६. जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे अपने वैरी आप हैं।

८७. जो अनेकान्त-अनुयायी है वे वस्तुतः अर्हज्जिन-मतानुयायी हैं, भले ही वे 'अर्हन्त' या 'जिन' को न जानते हों।

८८. मन-वचन-काय-संबंधी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति या निवृत्तिसे आत्म-विकास सधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है उसे 'कर्मयोग' कहते हैं।

८९. दया, दम त्याग और समाधिमें तत्पर रहना आत्मविकास-का मूल एव मुख्य कर्मयोग है।

९०. समीचीन धर्म सद्दृष्टि, सद्बोध और सच्चारित्ररूप है, वही रत्नत्रय-पोत और मोक्षका मार्ग है।

९१. सद्दृष्टिको लिये हुए जो ज्ञान है वह 'सद्बोध' कहलाता है।

९२. सद्बोध-पूर्वक जो आचरण है वह सच्चारित्र' है अथवा ज्ञानयोगीके कर्मादानकी निमित्तभूत जो क्रियाएँ उनका त्याग 'सम्यक्चारित्र' है और उसका लक्ष्य राग-द्वेषकी निवृत्ति है।

९३. अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-दोषोंको शान्त करनेसे ही आत्मामें शान्तिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठा होती है।

९४. ये राग-द्वेषादि-दोष, जो मनकी समताका निराकरण करनेवाले हैं, एकान्त धर्माभिनिवेश-मूलक होते हैं और मोही जीवोंके अहंकार-ममकारसे उत्पन्न होते हैं।

९५. संसारमें अशान्तिके मुख्य कारण विचार-दोष और आचार-दोष हैं।

९६. विचारदोषको मिटानेवाला 'अनेकान्त' और आचारदोष-को दूर करनेवाली 'अहिंसा' है।

९७. अनेकान्त और अहिंसा ही शास्ता वीरजिन अथवा वीर-जिन-शासनके दो पद हैं।

९८. अनेकान्त और अहिंसाका आश्रय लेनेसे ही विश्वमें शान्ति हो सकती है।

९९. जगतके प्राणियोंकी अहिंसा ही 'परमब्रह्म' है, किसी व्यक्तिविशेषका नाम परमब्रह्म नहीं।

१००. जहाँ बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग है वहीं उस अहिंसाका वास है।

१०१. जहाँ दोनों प्रकारके परिग्रहोंका भार-वहन अथवा वास है वहीं हिंसाका निवास है।

१०२. जो परिग्रहमें आसक्त है वह वास्तवमें 'हिंसक' है।

१०३. आत्मपरिणामके घातक होनेसे झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब हिंसाके ही रूप हैं।

१०४. धन-धान्यादि सम्पत्तिके रूपमें जो भी सांसारिक विभूति है वह सब 'बाह्य-परिग्रह' है।

१०५. 'आभ्यन्तर-परिग्रह' दर्शनमोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय और जुगुप्साके रूपमें है।

१०६. तृष्णा-नदीको अपरिग्रह-सूर्यके द्वारा सुखाया जाता और विद्या-नौकासे पार किया जाता है।

१०७. तृष्णाकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रिय-विषयोंकी सम्पत्तिसे नहीं होती, प्रत्युत इसके वृद्धि होती है।

१०८. आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये ही बाह्य तप विधेय है।

१०९. यदि आध्यात्मिक तपकी वृद्धि ध्येय या लक्ष्य न हो तो

बाह्य-तपश्चरण एकान्ततः शरीर-पीडनके सिवा और कुछ नहीं।

११०. सद्ध्यानके प्रकाशसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर होता है।

१११. अपने दोषके मूल-कारणको अपने ही समाधितेजसे भस्म किया जाता है।

११२. समाधिकी सिद्धिके लिये बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग आवश्यक है।

११३. मोह-शत्रुको सद्दृष्टि, संवित्ति और उपेक्षारूप अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित किया जाता है।

११४. वस्तु ही अवस्तु हो जाती है, प्रक्रियाके बदल जाने अथवा विपरीत हो जानेसे।

११५. कर्म कर्ताको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता।

११६. जो कर्मका कर्ता है वही उसके फलका भोक्ता है।

११७. अनेकान्त-शासन ही अशेष-धर्मोंका आश्रय-भूत और सर्व-आपदाओंका प्रणाशक होनेसे 'सर्वोदयतीर्थ' है।

११८. जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता वह सब धर्मोंसे शून्य एवं विरोधका कारण होता है और वह कदापि 'सर्वोदयतीर्थ' नहीं हो सकता।

११९. आत्यन्तिक-स्वास्थ्य ही जीवोंका सच्चा स्वार्थ है, क्षण-भंगुर भोग नहीं।

१२०. विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादिस्वरूपमें शाश्वती स्थिति ही 'आत्यन्तिकस्वास्थ्य' कहलाती है, जिसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

नामानुक्रमणिका